प्रकाशक :

देवेन्द्रराज मेहता

सचिव, प्राकृत भारती अकादमी,
3826, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जौहरी बाजार,
जयपुर-302003 (राजस्थान)

•

पारसमल भंसाली

अध्यक्ष, श्री जैन श्वेताम्बर नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ
पो मेवानगर, स्टेशन बालोतरा
344025 जिला बाडमेर (राज0)

प्रथम संस्करण · मार्च 1988

मूल्य · 100-00 एक सौ रुपया मात्र

मुद्रक

पॉपुलर प्रिन्टर्स
नवाब साहब की हवेली,
त्रिपोलिया, जयपुर ।

ISIBHASIYAIM SUTTAIM

(RISHIBHASHIT SUTRA)



Editor & Hindi Translator
Mahopadhyay Vinaysagar



English Translator
KALANATH SHASTRI
DINESH CHANDRA SHARMA



PRAKRIT BHARATI ACADEMY, JAIPUR
SHRI JAIN SWETAMBER NAKODA PARSHWANATH
TEERTH, MEWANAGAR

Publishers :

D. R Mehta,
Secretary,
Prakrit Bharati Academy,
3826, Yati Shyamlalji ka Upasara,
Rasta M S B, Jaipur—302003

●

Parasmal Bhansali,
President,
Shri Jain Swetamber Nakoda Parshvanath Teerth
P. O Mewanagar, St Balotra,
Distt Barmer—344025

□

First Edition March, 1988

□

Price . Rs 100 00

□

Printed by
Popular Printers,
Nawab Sahab ki Haweli
Tripolia Bazar, Jaipur

RISIBHASHIT SUTRA/Philosophy
M Vinay Sagar Kalanath Shastri, Dinesh Chandra Sharma/1988

अनुक्रमणिका
CONTENTS

परिशिष्ट–1

परिशिष्ट–2.



प्रकाशकीय

आज हम अत्यन्त प्रमुदित हैं कि प्राकृत भारती का 46वा पुष्प प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर और श्री जैन श्वेताम्बर नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर के सयुक्त प्रकाशन के रूप मे यह ग्रन्थ चिन्तनशील पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

ऋषिभाषित न केवल जैन श्रमण-परम्परा की ही अमूल्य निधि है अपितु भारतीय परम्परा—वैदिक, बौद्ध एव श्रमण-परम्परा की अमूल्य निधि है। इसमे ईसा पूर्व १०वी शती से लेकर छठी शती तक के तीर्थंकरो, श्रमणो, ऋषियो, महर्षियो, परिव्राजको के न केवल विचारो का ही सकलन है, अपितु उनके मूलभूत सिद्धान्तो/मन्तव्यो के साथ अनुभूतिपूर्ण आध्यात्मिक एव नीतिपरक उपदेशो का भी सकलन है। जो है, वह भी पूर्ण प्रामाणिक है। इसमे कही भी, किसी भी परम्परा का आग्रह या विरोध दृष्टिपथ मे नही आता है। बल्कि, सर्वदा समभाव की गूँज ही परिलक्षित होती है। केवल उत्कल को छोडकर, चाहे वह तीर्थंकर हो, परिव्राजक हो, ऋषि हो या श्रमण हो, सबको अर्हत् शब्द से सम्बोधित/सम्मानित किया है।

यह जैन श्रमण परम्परा की अभूतपूर्व/असाधारण उदारता ही थी कि उसने इस अमूल्य थाती को न केवल सुरक्षित ही रखा, अपितु परम्परावाद से दूर रहकर अपने आगमिक साहित्य मे महत्वपूर्ण एव उचित स्थान भी दिया। नन्दिसूत्र एव पाक्षिक सूत्र के अनुसार आगम साहित्य मे प्रकीर्णक ग्रन्थ मे इसे स्वीकार भी किया। इतना ही नही, बल्कि आगम ग्रन्थो के समान इसके पठन/ग्रहण करने की साधना-विधि भी निर्धारित की।

आज के साम्प्रदायिक विषम वातावरण मे, जहाँ जैन जैन को, हिन्दू हिन्दू को हीन और निम्न दिखाने की छलना मे ग्रस्त होकर भारतीयता की धज्जिया बिखेरने लगा है, वहाँ ऐसे समय मे समभाव और समन्वय भाव के विचारो से ओत-प्रोत ऐसे ही अनुपमेय ग्रन्थो के पठन-पाठन से विवेक जाग्रत हो सकता है। और यह, विवेक ही भविष्य मे भारतीयता की सुरक्षा कर सकता है।

पूर्व मे इस ग्रन्थ के सस्करण मूल, अग्रेजी टिप्पण और हिन्दी अनुवाद (भाष्य) के साथ प्रकाशित हुए अवश्य है, किन्तु, प्राजल भाषा मे मूलानुसारी हिन्दी एव अग्रेजी अनुवाद सयुक्त रूप से प्रकाशित नही हुए थे। मूल के साथ दोनो भाषाओ के अनुवाद एक साथ प्राकृत भारती से प्रकाशित हो, यह हमारी प्रबल उत्कण्ठा थी। इसी उत्कण्ठा ने इसे मूर्त रूप प्रदान किया। फलत प्राकृत भारती

के निदेशक ने इसका मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद किया। और, हमारे अनुरोध को स्वीकार कर, श्री **कलानाथ शास्त्री**, निदेशक, भाषा विभाग, राजस्थान सरकार, जयपुर ने एव श्री **दिनेश चन्द्र शर्मा** अपर सम्भागीय आयुक्त, उदयपुर ने सयुक्त रूप से अपनी वैदुष्यपूर्ण परिष्कृत शैली मे इसका अग्रेजी भाषा मे अनुवाद किया। ये दोनो अपने-अपने विषयो के प्रकाण्ड एव प्रतिष्ठित विद्वान् है और वर्तमान मे राज्य सेवा मे उच्च पदों पर आसीन हैं। हम इन दोनो प्राज्ञो के हृदय से आभारी हैं।

डॉ० **सागरमल जी जैन**, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी के भी आभारी है, जिन्होने कि हमारे अनुरोध को स्वीकार कर हिन्दी भाषा मे 'ऋषिभाषित : एक अध्ययन' शीर्षक से विस्तृत प्रस्तावना लिख भेजी। इसमे विद्वान् लेखक ने अपनी परिमार्जित शैली मे ऋषिभाषित के प्रत्येक पक्ष पर सागोपाग प्रकाश डाला है। डॉ० सागरमल जी दर्शनशास्त्र के विद्वान् तो हैं ही साथ ही जैनागम एव साहित्य के भी साक्षर विद्वान् हैं। इनका शोध प्रबन्ध 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन' दो भागो मे प्राकृत भारती ने सन् १९८२ मे प्रकाशित किया। इस पुस्तक पर उन्हे सन् १९८७ का 'प्रदीप कुमार रामपुरिया स्मृति साहित्य पुरस्कार' भी प्राप्त हो चुका है। इस प्रस्तावना का हिन्दी से अग्रेजी भाषा मे अनुवाद श्री **सुरेन्द्र बोथरा**, जयपुर ने किया है, अत. ये भी धन्यवाद के पात्र है। इनकी 'अहिंसा' नाम से अग्रेजी भाषा मे पुस्तक इसी वर्ष प्राकृत भारती से प्रकाशित हो चुकी है।

हमे हार्दिक प्रसन्नता है कि राजस्थान सरकार के कला एव सस्कृति-शिक्षा विभाग ने भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे आर्थिक अनुदान प्रदान कर महत्वपूर्ण योगदान दिया है, अत हम कला एव सस्कृति विभाग अधिकारीगण के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करते है।

अन्त मे, सुन्दर मुद्रण के लिए पॉपुलर प्रिन्टर्स के सचालको को भी धन्यवाद प्रदान करते है।

पारसमल भंसाली	म. विनयसागर	देवेन्द्रराज मेहता
अध्यक्ष,	निदेशक,	सचिव,
नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ	प्राकृत भारती अकादमी	प्राकृत भारती अकादमी
मेवानगर	जयपुर	जयपुर

Publisher's Note

We are pleased to present before our learned readers this 46th Pushpa of Prakrit Bharti, published jointly by Parkrit Bharti Academy, Jaipur and Shri Jain Swetamber Nakoda Parshwanath Teerth, Mewanagar

Rishibhashit is an invaluable treasure, not only of the Jain tradition but also of Indian, Vedic, Buddhist and Sraman traditions This work is a compilation of thoughts, basic principles, ideas, philosophical and moral teachings of original thinkers, traditionally addressed as Teerthankars, Sramans, Rishis, Maharshis, Parivrajaks etc, belonging to the period between 10th to 6th century B C All that is there is authentic Inter-traditional bias or antagonism is not at all evident, equanimity reflects every where Besides Utkal every ascetic, whether he is Teerthankar, Parivrajak, Rishi or Shraman, has been reverently addressed as Arhat

Credit goes to the unbiased approach of Jain Sraman tradition,that they not only preserved this invaluable work but also gave it an important and deserved place in their canons, keeping away from the normal traditionalism Nandisutra and Pakshiksutra have confirmed its inclusion in canons as anthological works Even the ritrial procedures for its study have been prescribed as for other canonical works

In prevailing complex communal atmosphere, where nationalism is disintegrating under the self destructive pressures within communities, such exceptional collection of thoughts of equanimity and assimilation can promote and enhance moral values Only such moral values can revive Indianism in future

In the past, some editions have been published with original text and English or Hindi notes and translation But a good bilingual translation was never published Our craving to publish original text with English as well as Hindi translations prompted us to launch this edition The director of Prakrit Bharti completed the Hindi translation On our request Shri Kalanath Shashtri, Bhasha Vibhag, Government of Rajasthan and Shri Dinesh Chandra Sharma jointly did the English translation in their scholarly style Both these are established scholars of their subject and highly posted with Government of Rajasthan We are grateful to both these scholars

Dr Sagarmal Jain, Director, Parshwanath Vidyashram Shodh Sansthan, Varanasi, deserves our gratitude for writing a detailed preface in Hindi, titled, 'Rishibhashit, Ek Adhyayan' on our request The learned author has disscussed in details all facts of Rishibhashit in his peculiar style Dr Sagarmal is a renowned scholar of Jain canons and literature besides philosophy His research work has been published in 1982 by Prakrit Bharti in two volumes under the title—'Jain, Bauddh Aur Gita Ke Achar Darshan Ka Tulanatmak Adhyayan'. He was awarded the 1987 Pradip Kumar Rampuria Memorial literary prize for this work We are thankful to Shri Surendra Bothara for the English translation of this preface His book AHIMSA · The Science of Peace has been published in English only this year by Prakrit Bharti

We are pleased that the Government of Rajasthan has given valuable contribution in form of financial grant-in-aid for publication of this work We are as such, grateful to officers of the Art and Culture Department of Govt of Rajasthan

Last but not the least, we are thankful to the managers of Popular Printers, Jaipur for the neat printing of this book

Parasmal Bhansali **M. Vinay Sagar** **D R. Mehta**

अनुवादकीय भूमिका

जैनागमो के बहुमूल्य और विशाल भण्डार मे एक सूत्र/प्रकीर्णक ग्रथ "इसि-भासियाइ" (ऋषि-भाषितानि) बहुत समादृत और प्राचीन सूत्र माना जाता है। इसमे 45 ऋषियो के अध्यात्म दर्शन, जिसे सही अर्थो मे जीवन-दर्शन कहा जाना चाहिये, का सार-सक्षेप, उपदेशात्मक अभिव्यक्तिया, देशना तथा मार्गदर्शन देने वाले प्राकृत सूत्र निबद्ध है। इनकी भापा मिली-जुली प्राकृत है जो कही मागधी और अर्द्धमागधी प्रधान है और कही उस पर शौरसैनी और पैशाचि की छाया भी है। कही महाराष्ट्री का प्रभाव है। भाषाविज्ञो ने यह मत व्यक्त किया है कि इनकी भाषा को देखते हुए यह सूत्र बहुत प्राचीन प्रतीत होता है। इसकी यह विशेषता तो स्वतः स्पष्ट है ही कि इन ऋषियो मे जैन, अर्हत् और तत्त्व-चिन्तक (जैसे पार्श्व-नाथ, महावीर आदि) तो है ही, प्राचीन वैदिक परम्परा के ऋषि भी है (जैसे अगिरा, याज्ञवल्क्य), पौराणिक परम्परा के ऋषि भी है (जैसे नारद, उद्दालक), पिंग और इसिगिरि जैसे ब्राह्मण परिव्राजक भी है तो सातिपुत्र जैसे बौद्ध भिक्षु भी। यह अपने आप मे इस देश की प्राचीन चिन्तन-परम्परा की उस विशेषता का प्रमाण है जिसमे सम्प्रदाय विशेष से ऊपर उठकर भी दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन हुआ करता था और प्रत्येक शाखा के मनीषी अन्य शाखाओ के तत्त्वचिन्तन को भी आदर देकर उसका सकलन करते थे। इस सूत्र के महत्त्व और विशेषताओ पर इस ग्रथ मे अन्यत्र डॉ० सागरमल जैन की "ऋषिभाषित एक अध्ययन" शीर्षक प्रस्तावना के अन्तर्गत पर्याप्त सामग्री मिलेगी।

प्राकृत भारती अकादमी के प्रमुख कार्यभारियो का, विशेषकर इसके कमठ सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता का ध्यान ऋषिभाषित सूत्रो की ओर गया, जिनकी उपर्युक्त विशेषता इसे अन्य ग्रन्थों से अलग-अलग स्थापित करती है। उन्होने अनुभव किया कि इन सूत्रो का हिन्दी एवं अग्रेजी अनुवाद सहित यदि एक सस्करण प्रकाशित हो तो वह बहुत बडी आवश्यकता की पूर्ति कर सकेगा, क्योकि अब तक इस प्रकार का कोई सस्करण इन सूत्रो का उपलब्ध नही था। यद्यपि इसका गुजराती एव हिन्दी अनुवाद सर्वप्रथम 1963 मे निकला था। अनुवाद किया था प्रसिद्ध वक्ता एव विचारक श्री मनोहरमुनि शास्त्री ने। इस अनुवाद के साथ भाष्य की शैली मे उन्होने हिन्दी व्याख्या भी दी थी जो प्रो शुब्रिग के सम्पादन मे छपी सस्कृत टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुई थी। यह सस्कृत टिप्पणी 1942 मे प्रोफेसर शुब्रिग के सम्पादन मे सर्वप्रथम छपी बतलाई गई है। यह सक्षिप्त टीका जिज्ञासुओ के लिए पर्याप्त नही है तथापि हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय जर्मनी के प्रोफेसर डॉ वाल्टर शुब्रिग ने अपने सस्करण मे इसे सस्कृत टीका के रूप मे छपाया था। सर्वप्रथम 1942 मे गोटिंजन

की विद्या अकादमी की पत्रिका मे पृष्ठ 489/576 पर रोमन लिपि मे इन सूत्रो का मूल पाठ तथा प्रो शुब्रिंग की जर्मन टिप्पणिया भी साथ थी । उस समय जर्मन अनुवाद नही छपा था । वह बाद मे हाम्बुर्ग से 1969 मे छपा । सुनते हैं उसका अग्रेजी अनुवाद भी किसी ने किया था किन्तु वह देखने मे अब तक किसी के नही आया है। इन सूत्रो का एक रोमन देवनागरी सस्करण अहमदाबाद के एल डी. इन्स्टीट्यूट से भी 1974 में पहली बार प्रकाशित हुआ, जो शुब्रिग के सम्पादनानुसार उनकी भूमिका के अग्रेजी अनुवाद सहित तथा उनकी सक्षिप्त टिप्पणियो के अग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ । इसमे भी केवल रोमन तथा देवनागरी मूल है, हिन्दी अनुवाद कही नही है। इस प्रकार हिन्दी तथा अग्रेजी अनुवाद सहित इसके प्रकाशन से जिज्ञासुओ को एक साथ वह सारी सामग्री मिल जायेगी, यह अकादमी का निर्णय रहा।

अनुवादको का प्रमुख उद्देश्य प्राकृत के इन सूत्रो का आशय तथा मूल का सीधा अर्थ पाठक तक पहुचाना रहा है। इसलिए सरलता की ओर ध्यान रखते हुए भी यह प्रयत्न नही किया गया है कि यह व्याख्या अथवा भाष्य बने, इसे केवल अनुवाद ही रहने देने का प्रयत्न किया गया है। इससे पाठक मूल का भाव सीधे-सीधे समझ सकता है और उसके बाद अपने अध्ययन अथवा तुलनात्मक विवेचन के बाद अपने निष्कर्ष निकाल सकता है। सूत्रो का मूल प्राचीन होने के कारण अनेक स्थानो पर इसमे अस्पष्टता थी । किन्तु उनके पाठालोचन के फेर मे न पडकर उनका जो सीधा अर्थ बन सकता है वही अनुवाद के रूप मे रखा गया है। अंग्रेजी अनुवाद मे प्रोफेसर शुब्रिंग के टिप्पणो से कुछ सीमा तक सहायता अवश्य मिली है, किन्तु इन टिप्पणो का उद्देश्य अर्थ या अनुवाद करने का नही था। इस टिप्पणी का उद्देश्य पाठालोचन के साथ तुलनात्मक भाषिक तथा समीक्षात्मक टिप्पणिया देना मात्र था। उन्होने एक स्थान पर स्पष्ट किया है कि 1942 मे केवल मूल और टिप्पणिया ही प्रस्तुत की गई थी। अनुवाद बाद के लिए छोड़ दिया गया था (यद्यपि वह तैयार था)। कारण था कि तब तक कुछ ही मूल प्रतियां उपलब्ध थी। टूटे हुए स्थलो का पूरा करना तथा अस्पष्ट स्थलो को स्पष्ट करना, भारत से अन्य प्रतिया प्राप्त होने के बाद ही हो सकता था।

प्रस्तुत सस्करण मे मूल प्राकृत पाठ एल डी इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद से 1974 मे प्रकाशित सस्करण के अनुसार मूल प्राकृत सर्वप्रथम उद्धृत है, फिर हिन्दी अनुवाद और फिर अग्रेजी अनुवाद। जिससे कि एक साथ ही तीनो भाषाओ को पाठक पढ सके, यह क्रम प्रत्येक छंद या गद्याश के क्रमश· हिन्दी अग्रेजी अनुवाद देते हुए समस्त 45 अध्ययनो मे निभाया गया है। आशा है इससे पाठको को सुविधा होगी तथा इन सूत्रो का आशय उन्हे हृदयगम हो सकेगा।

—अनुवादक गण

TRANSLATORS' NOTE

Isi-bhasiyaiyam (Rishibhashitani) is considered to be a very old and revered anthological work within the vast and valuable collection of Jain canonical literature It is a collection of aphorisms enveloping philosophy, preachings, teachings, and doctrines or in other words the sum total of philosophy of life of 45 sages The language is mixed Prakrit having influence of Magadhi and Ardha-Magadhi at some places and Shaurseni and Paishachi at others There is an influence of Maharashtri also at some places According to linguists, its language indicates that this work is probably very old

The inclusion of Angira and Yajnavalkya of ancient Vedic tradition, Narad and Uddalak of Puranik tradition, Ping and Isigiri of Brahmin Parivrajak tradition and Satiputra of Buddhist tradition alongwith the Jain Arhats and original thinkers like Parshwa and Mahavir is evidence of the uniqueness of this work. It confirms the open-mindedness of the ancient philosophical traditions of this country where philosophical thinking rose above the communal or sectarian bias and scholars of one school of thought respected and compiled thoughts of other schools

The importance and distinctive feature of this work have been elaborated by Dr Sagarmal Jain in the preface of this book (Rishibhashit A study).

The executive members of the academy, especially the devoted secretary, Shri D R Mehta, were attracted toward this book, which is conspicuous even in the heap of literature They felt that if these aphorisms were published with English and Hindi translations it would fulfill an important need Till date no such edition is available

A Gujarati and Hindi translation of this book was published in 1963 The translator was the famous thinker and orator Shri Manohar Muni Shashtri This translation also included a commentary alongwith the Sanskrit commentary from Schubring's edition Although this short Sanskrit commentary was not adequate, it was still included in the book compiled by Prof D Walther Schubring of Hamburg University

The original Sanskrit text of these aphorisms in Roman Script were first published in 1942 in the booklet—den Nachrichten der Akademie der Wissenschaften Zu Gottingen alongwith introduction and critical

notes in German by Dr Schubring (pp 489-576) The German translation was published only in 1969 from Hamburg It is said that some one did an English translation but no one has seen it till date A Roman and Devnagari script edition of this book was published for the first time in 1974 by L D Institute, Ahmedabad, this also contained English translations of the preface and critical notes by Schubring, This too has only the original text in Roman and Devnagari script and no Hindi translation

As such, it was decided by Prakrit Bharti that the publication of Hindi and English translation with original text will provide all that is needed by the probing scholars in one volume The main goal of the translators is to convey the idea and simple meaning of these aphorisms to the reader As such inspite of the intention to simplify the meaning, care has been taken that it does dot turn out to be a commentary or explanation It has been kept as a translation strictly This would enable the reader to understand the original text and arrive at his own conclusions after study and critical analysis As the original text is ancient, it was confusing at many places However, not going into the discrepancies of various texts, only the primary and direct meaning has been given in this edition.

The critical notes of Dr Schubring have helped in the English translation, but only to a certain extent because these notes were not meant to be translations They were written for the purpose of critical analysis of the text, language etc Dr Schubring has explained that in 1942 only original text and critical notes were published Translation, although ready, was left for later publication The reason was that only a few copies of the text were available Completing the missing portions and clarifying the vague parts could only be done after getting some more copies from India

The original Prakrit text, taken from the 1974 L D Inst Edition, is at the beginning, followed by Hindi translation and then English one of every verse or prose part This system has been followed throughout the 45 chapters of this book We hope this facilitates versewise reading in all the three languages

—Translators

ऋषिभाषित : एक अध्ययन

□ प्रो० सागरमल जैन

जन आगम साहित्य में ऋषिभाषित का स्थान—

ऋषिभाषित- (इसिभासियाइ) अर्धमागधी जैन आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। वर्तमान मे जैन आगमो के वर्गीकरण की जो पद्धति प्रचलित है, उसमे इसे प्रकीर्णक ग्रन्थो के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाता है। दिगम्बर परम्परा मे १२ अग और १४ अगबाह्य माने गये है किन्तु उनमे ऋषिभाषित का उल्लेख नही है। श्वेताम्बर जैन परम्परा मे स्थानकवासी और तेरापथी, जो ३२ आगम मानते है, उनमे भी ऋषिभाषित का उल्लेख नही है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा मे ११ अग, १२ उपाग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, २ चूलिकासूत्र और १० प्रकीर्णक, ऐसे जो ४५ आगम माने जाते है उनमे भी १० प्रकीर्णको मे हमे कही ऋषिभाषित का नाम नही मिलता। यद्यपि नन्दीसूत्र और पक्खीसूत्र मे जो कालिक सूत्रो की गणना की गयी है उनमे ऋषिभाषित का उल्लेख है[1]। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थभाष्य मे अग-बाह्य ग्रन्थो की जो सूची दी है उसमे सर्वप्रथम सामायिक आदि ६ ग्रन्थो का उल्लेख है और उसके पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा

---

१ (अ) से किं कालिय ? कालिय अणेगविह पण्णत्त ।
त जहा उत्तरज्झयणाइ १, दसाओ २, कप्पो ३, ववहारो ४, निसीह ५, महानिसीह ६, **इसिभासियाइं** ७, जबुद्दीवपण्णत्ती ८, दीवसागरपण्णत्ती ।
—नन्दिसूत्र ८४ ।

—(महावीर विद्यालय, बम्बई १९६८)

(ब) नमो तेसिं खमासमणाण जेहिं इम वाइअ अगबाहिर कालिअ भगवत ।
त जहा—१, उत्तरज्झयणाइ २, दसाओ ३, कप्पो ४, ववहारो ५, **इसिभासिआइं** ६, निसीह ७, महानिसीह........ ।
(ज्ञातव्य है कि पक्खियसुत्त मे अग-बाह्य ग्रन्थो की सूची मे २८ उत्कालिक और ३६ कालिक कुल ६४ ग्रन्थो के नाम हैं। इनमे ६ आवश्यक और १२ अग मिलाने से कुल ८२ की सख्या होती है, लगभग यह सूची विधिमार्गप्रपा मे भी उपलब्ध होती है।)

—पक्खियसुत्त (पृ० ७९)

(देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड सीरिज क्रमाक ९९)

(आचारदशा) कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित का उल्लेख है [२] । हरिभद्र आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति मे एक स्थान पर इसका उल्लेख उत्तराध्ययन के साथ करते है [३] और दूसरे स्थान पर 'देविन्दथुय' नामक प्रकीर्णक के साथ [४] । हरिभद्र के इस भ्रम का कारण यह हो सकता है कि उनके सामने ऋषिभाषित (इसिभासियाइ) के साथ-साथ ऋषिमण्डल स्तव (इसिमण्डलत्थउ) नामक ग्रन्थ भी था, जिसका उल्लेख आचाराग-चूर्णि मे है और उनका उद्देश्य ऋषिभाषित को उत्तराध्ययन के साथ और ऋषिमण्डलस्तव को 'देविन्दथुय' के साथ जोडने का होगा । यह भी स्मरणीय है कि इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) मे न केवल ऋषिभाषित के अनेक ऋषियो का उल्लेख है, अपितु उनके इसिभासियाइ मे जो उपदेश और अध्याय हैं उनका भी सकेत है । इससे यह भी निश्चित होता है कि इसिमण्डल का कर्ता ऋषिभाषित से अवगत था । मात्र यही नही, ऋषिमण्डल मे तो क्रम और नामभेद के साथ ऋषिभाषित के लगभग सभी ऋषियो का उल्लेख मिलता है । इसिमण्डल का उल्लेख आचाराग-चूर्णि 'इसिणामकित्तण इसिमण्डलत्थउ' (पृष्ठ ३७४) मे होने से यह निश्चित ही उसके पूर्व (७ वी शती के पूर्व) का ग्रन्थ है । विद्वानो को इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से चिन्तन करना चाहिए । इसिमण्डल के सम्बन्ध मे यह मान्यता है कि वह तपागच्छ के धर्मघोषसूरि की रचना है, किन्तु मुझे यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है, क्योकि ये १४ वी शती के आचार्य हैं । वस्तुत इसिमण्डल की भाषा से भी ऐसा लगता है कि यह प्राचीन ग्रन्थ है और इसका लेखक ऋषिभाषित का ज्ञाता है । आचार्य जिनप्रभ ने विधिमार्गप्रपा मे तप आराधना के साथ आगमो के स्वाध्याय की, जिस विधि का वर्णन किया है, उसमे प्रकीर्णको मे ऋषिभाषित का उल्लेख करके प्रकीर्णक अध्ययनक्रम विधि को समाप्त किया

---

२ अगबाह्यमनेकविधम् । तद्यथा—सामायिक, चतुर्विंशति स्तव , वन्दन, प्रतिक्रमण, कायव्युत्सर्ग. प्रत्याख्यान, दशवैकालिक, उत्तराध्याया , दशा , कल्पव्यवहारौ, निशीथ, ऋषिभापितानीत्येवमादि ।

—तत्त्वार्थधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्य) १/२०
(देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, क्रम सख्या ५७)

३ तथा ऋपिभापितानि उत्तराध्ययनादीनि ।

—आवश्यक निर्युक्तिः, हारिभद्रीयवृत्ति पृ० २०६

४ ऋपिभापिताना च देवेन्द्रस्तवादीना निर्युक्ति... ।

—आवश्यक निर्युक्ति, हारिभद्रीय वृत्ति पृ० ४१

है[५]। इस प्रकार वर्गीकरण की प्रचलित पद्धति मे ऋषिभाषित की गणना प्रकीर्णक सूत्रो मे की जा सकती है।

प्राचीन काल मे जैन परम्परा मे इसे एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता था। आवश्यक निर्युक्ति मे भद्रबाहु ऋषिभाषित पर भी निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं,[६] वर्तमान मे यह निर्युक्ति उपलब्ध नही होती है। आज तो यह कहना भी कठिन है कि यह निर्युक्ति लिखी भी गई थी या नही। यद्यपि 'इसिमण्डल' जिसका उल्लेख आचारागचूर्णि मे है, इससे सम्बन्धित अवश्य प्रतीत होता है। इन सबसे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि ऋषिभाषित एक समय तक जैन परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ रहा है। स्थानाग मे इसका उल्लेख प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप मे हुआ है[७]। समवायाग इसके ४४ अध्ययनो का उल्लेख करता

---

५ इसिभासियाइ पणयालीस अज्झयणाइ कालियाइ, तेसु दिण ४५ निव्विएहिं अणागाढ-जोगो। अण्णे भणति उत्तरज्झयणेसु चेव एयाइ अतब्भवति।

विधिमार्गप्रपा पृ० ५८

देविंदत्थयमाई पइण्णगा होति इगिगनिविएण।
इसिभासिय अज्झयणा आयबिलकालतिगसज्झा ।। ६१ ।।
केसि चि मए अतब्भवति एयाइ उत्तरज्झयणे।
पणयालीस दिणेहिं केसि वि जोगो अणागाढो ।। ६२ ।।

विधिमार्गप्रपा पृ० ६२

(ज्ञातव्य है कि प्रकीर्णको की सख्या के सम्बन्ध मे विधिमार्गप्रपा मे भी मतैक्य नही है। 'सज्झायपट्ठवण विही' पृ० ४५ पर ११ अग, १२ उपाग, ६ छेद, ४ मूल एव २ चूलिका, सूत्र के घटाने पर लगभग ३१ प्रकीर्णको के नाम मिलते हैं। जबकि पृ० ५७–५८ पर ऋषिभाषित सहित १५ प्रकीर्णको का उल्लेख है।)

६ (अ) कालियसुय च इसिभासियाइ तइओ य सूरपण्णत्ती।
सव्वो य दिट्ठिवाओ चउत्थओ होई अणुओगो ।। १२४ ।। (मू० भा०)
तथा ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि "तृतीयश्च" कालानुयोग,

—आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति : पृ० २०६

(ब) आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झयणायारे।
सूयगडे निज्जुत्ति वुच्छामि तहा दसाण च ।।
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपण्णत्तीए वुच्छ इसिभासिआण च ।।

आवश्यकनिर्युक्ति ८४–८५

७ पण्हावागरणदसाण दस अज्झयणा पन्नता, तजहा—उवमा, सखा इसिभासियाइ, आय-रियभासिताइ महावीरभासिताइ, खोमपसिणाइ, कोमलपसिणाइ उद्दागपसिणाइ, बाहुपसिणाइ।

—ठाणगसुत्ते, दसम अज्झयण दसट्ठाण
(महावीर जैन विद्यालय सस्करण पृ० ३११)

है[८]। जैसा कि पूर्व मे हम सूचित कर चुके है नन्दीसूत्र, पक्खीसूत्र आदि मे इसकी गणना कालिकसूत्रो मे की गई है। आवश्यकनिर्युक्ति इसे धर्मकथानुयोग का ग्रन्थ कहती है (आवश्यक-निर्युक्ति हारिभद्रीय वृत्ति. पृ. २०६)।

ऋषिभाषित का रचनाक्रम एवं काल—

यह ग्रन्थ अपनी भाषा, छन्द-योजना और विषय वस्तु की दृष्टि से अर्धमागधी जैन आगम ग्रन्थो मे अतिप्राचीन है। मेरी दृष्टि मे यह ग्रन्थ आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध से किंचित् परवर्ती तथा सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन एव दशवैकालिक जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थो की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। मेरी दृष्टि मे इसका वर्तमान स्वरूप भी किसी भी स्थिति मे ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नही होता है। स्थानाग मे प्राप्त सूचना के अनुसार यह ग्रन्थ प्रारम्भ मे प्रश्नव्याकरणदशा का एक भाग था, स्थानाग मे प्रश्नव्याकरण दशा की जो दस दशाए वर्णित हैं, उसमे ऋषिभाषित का भी उल्लेख है। समवायाग इसके ४४ अध्ययन होने की भी सूचना देता है। अत यह इनका पूर्ववर्ती तो अवश्य ही है। सूत्रकृताग मे नमि, बाहुक, रामपुत्त, असित देवल, द्वैपायन, पराशर आदि ऋषियो का एव उनकी आचारगत मान्यताओ का किंचित् निर्देश है। इन्हे तपोधन और महापुरुष कहा गया है। उसमे कहा गया है कि पूव ऋषि इस (आर्हत् प्रवचन) मे 'सम्मत' माने गये हैं। इन्होने (सचित्त) बीज और पानो का सेवन करके भी मोक्ष प्राप्त किया था[९]। अत पहला प्रश्न यही उठता ह कि इन्हे सम्मानित रूप मे जैन परम्परा में सूत्रकृतांग के पहले किस ग्रन्थ मे स्वीकार किया गया है ? मेरी दृष्टि मे केवल ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे इन्हे सम्मानित रूप से स्वीकार किया गया है। सूत्रकृताग की गाथा का 'इह-सम्मता' शब्द स्वय सूत्रकृताग की अपेक्षा ऋषिभाषित के पूर्व अस्तित्व की सूचना देता है। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृताग

---

८ चोत्तालीस अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुताभासिया पण्णत्ता।

—समवायगसुत्त—४४

९ आहसु महापुरिसा पुव्वि तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिभावन्ना तत्थ मदो विसीयति ॥ १ ॥

अभुजिया नमी विदेही, रामपुत्ते या भुजिआ।
वाहुए उदग भोच्चा तहा नारायणे रिसी ॥ २ ॥

आसिते दविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दग भोच्चा बीयाणि हरियाणि य ॥ ३ ॥

एते पुव्व महापुरिसा आहिता इह सम्मता।
भोच्चा वीओदग सिद्धा इति मेयमणुस्सुअ ॥ ४ ॥

—सूत्रकृताग १/३/४/१–४

और ऋषिभाषित दोनो मे जैनेतर परम्परा के अनेक ऋषियो यथा असित देवल, बाहुक आदि का सम्मानित रूप मे उल्लेख किया गया है। यद्यपि दोनो की भाषा एव शैली भी मुख्यत पद्यात्मक ही है, फिर भी भाषा के दृष्टिकोण से विचार करने पर सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कध की भाषा भी ऋषिभाषित की अपेक्षा परवर्तीकाल की लगती है। क्योकि, उसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत के निकट है, जबकि ऋषिभाषित की भाषा कुछ परवर्ती परिवर्तन को छोडकर प्राचीन अर्धमागधी है। पुन जहाँ सूत्रकृताग मे इतर दार्शनिक मान्यताओ की समालोचना की गयी है वहाँ ऋषिभाषित मे इतर परम्परा के ऋषियो का सम्मानित रूप मे ही उल्लेख हुआ है। **यह सुनिश्चित सत्य है कि ग्रन्थ जैन धर्म एव संघ के सुव्यवस्थित** होने के पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन सघ मे साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णत अभाव था। मखलि गोशालक और उसकी मान्यताओ का उल्लेख हमे जैन आगम सूत्रकृताग[१०], भगवती[११], और उपासकदशाग[१२] मे और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त[१३] आदि मे मिलता है। सूत्रकृताग मे यद्यपि स्पष्टत मखलि गोशालक का उल्लेख नही है, किन्तु उसके आर्द्रक नामक अध्ययन मे नियतिवाद की समालोचना अवश्य है। यदि हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश के विकास की दृष्टि से विचार करें तो भगवती का मखलि गोशालक वाला प्रकरण सूत्रकृताग और उपासकदशाग की अपेक्षा भी पर्याप्त परवर्ती सिद्ध होगा। सूत्रकृताग, उपासकदशाग और पालि-त्रिपिटक के अनेक ग्रन्थ मखलि गोशालक के नियतिवाद को प्रस्तुत करके उसका खण्डन करते हैं। फिर भी जैन आगम ग्रन्थो की अपेक्षा सुत्तनिपात मे मखलि गोशालक की गणना बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरो मे करके उनके महत्व और प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन अवश्य किया गया है[१४], किन्तु पालि-त्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी ऋषिभाषित मे उसे अर्हत् ऋषि कह

---

१० सूत्रकृताग २/६/१–३, ७, ६

११ भगवती, शतक १५

१२ उपासकदशाग अध्याय ६ एव ७

१३ (अ) सुत्तनिपात ३२ सभियसुत्त
(ब) दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त

१४ ये ते समणब्राह्मणा सगिनो गणिनो गणाचरिया आता यसस्सिनो तित्थकरा साधु सम्मता वहुजनस्स, सेय्यथीद–पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकम्वली, पकुधो कच्चायनो, सजयो वेलट्ठिपुत्ता, निगण्ठो नातपुत्तो।

—सुत्तनिपात, ३२–सभियसुत्त

कर सम्मानित किया गया है। अत धार्मिक उदारता की दृष्टि से ऋषिभाषित की रचना पालि त्रिपिटक की अपेक्षा भी प्राचीन है। क्योकि, किसी भी धर्म सघ के सुव्यवस्थित होने के पश्चात् ही उसमे साम्प्रदायिक अभिनिवेश का विकास होता है। ऋषिभाषित स्पष्टरूप से यह सूचित करता है कि उसकी रचना जैन परम्परा मे साम्प्रदायिक अभिनिवेश आने के बहुत पूर्व हो चुकी थी। केवल आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोडकर शेष सभी जैन आगम ग्रन्थों मे यह धार्मिक अभिनिवेश न्यूनाधिक रूप मे अवश्य परिलक्षित होता है। अत. ऋषिभाषित केवल आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोडकर शेष सभी जैनागमो से प्राचीन सिद्ध होता है। भाषा, छन्द-योजना आदि की दृष्टि से भी यह आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध और सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के मध्य मे ही सिद्ध होता है।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य मे प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात है[१५] किन्तु उसमे भी वह उदारता नही है जो ऋषिभाषित मे है। त्रिपिटक साहित्य मे ऋषिभाषित मे उल्लेखित कुछ ऋषियो यथा नारद[१६], असितदेवल[१७], पिंग[१८], मखलिपुत्र[१९], सजय (वेलट्ठिपुत्त)[२०], वर्धमान (निग्गट्ठ नायपुत्त)[२१], कुमापुत्त[२२], आदि के उल्लेख है, किन्तु इन सभी को बुद्ध से निम्न ही बताया गया है– दूसरे शब्दो मे वे ग्रन्थ भी साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त नही है, अत यह उनका भी पूर्ववर्ती ही है। ऋषिभाषित मे उल्लेखित अनेक गाथांश और गाथाये भाव, भाषा और शब्दयोजना की दृष्टि से जैन परम्परा के सूत्रकृताग उत्तराध्ययन, दशवैकालिक

---

१५ (अ) पालिसाहित्य का इतिहास (भरतसिंह उपाध्याय) पृ० १०२–१०४
(ब) It is . ... the oldest of the poetic good of the Buddhist Scriptures
— The Suttanipata (sister Vayira) introduction for P 2

१६ उभो नारद पवता।
—सुत्तनिपात ३२, सभियसुत्त ३४,

१७ असितो इसि अद्दस दिवाविहारे।
—सुत्तनिपात ३२, नालक सुत्त १

१८ जिण्णोऽहमस्मि अबलो वीतवण्णे (इच्चायस्मा पिंगियो)।
—सुत्तनिपात ७१ पिंगियमाणवपुच्छा

१९ सुत्तनिपात ३२, सभियसुत्त।

२० वही

२१ वही।

२२ थेरगाथा ३६; डिक्सनरी ओफ पाली प्रापर नेम्स।
—वोल्यूम प्रथम, पेज ६२१, वाल्यूम द्वितीय पेज १५

और बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि प्राचीन ग्रन्थो मे पाई जाती है। अत उनकी रचना-शैली की अपेक्षा भी यह पूर्ववर्ती ही सिद्ध होता है। यद्यपि यह तर्क दिया जा सकता है कि यह भी सभव है कि ये गाथाये एव विचार बौद्ध त्रिपिटक साहित्य एव जैन ग्रन्थ उत्तराध्ययन एव दशवैकालिक से ऋषिभाषित मे गये हो, किन्तु यह बात इसलिए समुचित नही है कि प्रथम तो ऋषिभाषित की भाषा, छन्द-योजना, आदि इन ग्रन्थो की अपेक्षा प्राचीनकाल की है और आचाराग एव सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा सुत्तनिपात के अधिक निकट है। दूसरे जहाँ ऋषिभाषित मे इन विचारो को अन्य परम्पराओ के ऋषियो के सामान्य सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, वहाँ बौद्ध त्रिपिटक साहित्य और जैन साहित्य मे इन्हे अपनी परम्परा से जोडने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के रूप मे आध्यात्मिक कृषि चर्चा ऋषिभाषित[२३] मे दो बार और

---

२३ (अ) 'आता छेत्त, तवो बीय, सजमो जुअणगल।
भाण फालो निसित्तो य, सवरो य बीय दढ।। ८।।
अकूडत्त च कुडेसु, विणए णियमणे ठिते।
तितिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा।। ६।।
सम्मत्त गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा।
धितिजोत्तसुसबद्धा सव्वण्णुवयणे रया।। १०।।
पचेव इदियाणि तु खन्ता दन्ता य णिज्जिता।
माहणेसु तु ते गोणा गभीर कसते किसि।। ११।।
तवो बीय अवभ से, अहिंसा णिहण पर।
ववसातो घण तस्स, जुत्ता गोणा य सगहो।। १२।।
धिती खल वसुयिक, सद्धा मेढी य णिच्चला।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दार सुसवुड।।१३।।
कसाया मलण तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा।
णिज्जरा तु लवामीसा इति दुक्खाण णिक्खति।। १४।।
एत किसि कसित्ताण सव्वसत्तदयावह।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वापि विसुज्झती।। १५।।
—इसिभासियाइ २६/८–१५

(ब) कतो छेत्त, कतो बीय, कतो ते जुगणगले ?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णाम ते किसी ?।। १।।
आता छेत्त, तवो बीय, सजमो जुगणगल।
अहिंसा समिती जोज्जा, एसा धम्मन्तरा किसी।। २।।
एसा किसी सोभतरा अलुद्धस्स वियाहिता।
एसा बहुसई होई परलोकसुहावहा।। ३।।

सुत्तनिपात [२४] मे एक बार हुई है, किन्तु जहाँ सुत्तनिपात मे बुद्ध कहते है कि मैं इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करता हूँ, वहाँ ऋषिभाषित का ऋषि कहता है कि जो भी इस प्रकार की कृषि करेगा वह चाहे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो मुक्त होगा। अतः ऋषिभाषित आचाराग प्रथम श्रुतस्कध को छोडकर जैन और बौद्ध परम्परा के अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा प्राचीन ही सिद्ध होता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम यह भी पाते है कि ऋषिभाषित मे अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीनतम रूप बहुत कुछ सुरक्षित है। उदाहरण के रूप मे ऋषिभाषित मे आत्मा के लिए 'आता' का प्रयोग हुआ है, जबकि जैन अग आगम साहित्य मे भी अत्ता, अप्पा, आदा, आया, आदि शब्दो का प्रयोग देखा जाता है जो कि परवर्ती प्रयोग है। 'त' श्रुति की बहुलता निश्चित रूप से इस ग्रन्थ को उत्तराध्ययन की अपेक्षा पूर्ववर्ती सिद्ध करती है, क्योकि उत्तराध्ययन की भाषा मे 'त' के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। ऋषिभाषित मे जाणति, परितप्पति, गच्छती, विज्जती, वट्टती, पवत्तती आदि रूपो का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा और विषय वस्तु दोनो की ही दृष्टि से यह एक पूर्ववर्ती ग्रन्थ है।

अगन्धन कुल के सर्प का रूपक हमे उत्तराध्ययन[२५], दशवैकालिक[२६]

एय किसिं कसित्ताण सव्वसत्तदयावह ।
माहणे खत्तिए वेस्से सुद्दे वावि य सिज्झती ॥ ४ ॥

—इसिभासियाइ ३२/१-४

२४ सद्धा बीज तपो वुट्ठि पञ्ञा मे युगनगल ।
हिरि ईसा मनो योत्त सति मे फालपाचन ॥ २ ॥
कायगुत्तो वचोगुत्तो आहारे उदरे यतो ।
सच्च करोमि निदान सोरच्च मे पमाचन ॥ ३ ॥
विरिय मे धुरधोरम्ह योगक्खेमाधिवाहन ।
गच्छति अनिवत्तन्त यत्थ गन्त्वा न सोचति ॥ ४ ॥
एवमेसा कसी कट्ठा मा होति अमतप्फला ।
एत कसि कसित्वान सव्वदुक्खा पमुच्चतीति ॥ ५ ॥

—सुत्तनिपात, ४-कसिभारद्वाजसुत्त

२५ अह च भोयरायस्स त च सि अन्धगवण्हिणो ।
मा कुले गन्धणा होमो सजम निहुओ चर ॥

—उत्तराध्ययन २२/४४

२६ कक्खदे जलिय जोइ, धूमकेउ दुरासय ।
नेच्छति वतय भोत्तु, कुले जाया अगधणे ॥

—दसवैकालिक २/६

और ऋषिभाषित[२७] तीनो मे मिलता है। किन्तु, तीनो स्थानो के उल्लेखो को देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि ऋषिभाषित का यह उल्लेख उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की अपेक्षा अत्यधिक प्राचीन है। क्योकि, ऋषिभाषित मे मुनि को अपने पथ से विचलित न होने के लिए इसका मात्र एक रूपक के रूप मे प्रयोग हुआ है, जबकि दशवैकालिक और उत्तराध्ययन मे यह रूपक राजमती और रथनेमि की कथा के साथ जोडा गया है।

अत ऋषिभाषित सुत्तनिपात, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक की अपेक्षा प्राचीन है। इस प्रकार ऋषिभाषित आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध का परवर्ती और शेष सभी अर्धमागधी आगम साहित्य का पूर्ववर्ती ग्रन्थ है। इसी प्रकार पालि त्रिपिटक के प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात की अपेक्षा भी प्राचीन होने से सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक से भी पूर्ववर्ती है।

जहाँ तक इसमे वर्णित ऐतिहासिक ऋषियो के उल्लेखो के आधार पर काल-निर्णय करने का प्रश्न है वहाँ केवल वज्जीयपुत्र को छोडकर शेष सभी ऋषि महावीर और बुद्ध से या तो पूर्ववर्ती है या उनके समकालिक है। पालि-त्रिपिटक के आधार पर वज्जीयपुत्त (वात्सीयपुत्र) भी बुद्ध के लघुवयस्क समकालीन ही है— वे आनन्द के निकट थे। वज्जीपुत्रीय सम्प्रदाय भी बुद्ध के निर्वाण की प्रथम शताब्दी मे ही अस्तित्व मे आ गया था। अत इनका बुद्ध का लघुवयस्क समकालीन होना सिद्ध है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से भी ऋषिभाषित बुद्ध और महावीर के निर्वाण की प्रथम शताब्दी मे ही निर्मित हो गया होगा। यह सम्भव है कि इसमे बाद मे कुछ परिवर्तन हुआ हो। मेरी दृष्टि मे इसके रचनाकाल की पूर्व सीमा ईसा पूर्व ५वी शताब्दी और अन्तिम सीमा ई०पू० ३ शती के बीच ही है। मुझे अन्त और बाह्य साक्ष्यो मे कोई भी ऐसा तत्त्व नही मिला, जो इसे इस कालावधि से परवर्ती सिद्ध करे। दार्शनिक विकास की दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसमे न तो जैन सिद्धान्तो का और न बौद्ध सिद्धान्तो का विकसित रूप पाते हैं। इसमे मात्र पचास्तिकाय और अष्टविध कर्म का निर्देश है। यह भी सम्भव है कि ये अवधारणाए पार्श्वापत्यो मे प्रचलित रही हो और वही से महावीर की परम्परा मे ग्रहण की गई हो। परिषह, कषाय आदि की अवधारणाए तो प्राचीन ही है। ऋषिभाषित के वात्सीयपुत्र, महाकाश्यप, सारिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियो के उपदेश मे भी केवल बौद्ध धर्म के प्राचीन सिद्धान्त सन्ततिवाद, क्षणिकवाद आदि ही मिलते हैं। अत बौद्ध दृष्टि से भी पालि-त्रिपिटक से प्राचीन है।

---

२७ अगन्धणे कुले जातो जधा जागो महाविसो।
मुचित्ता सविस भूतो पियन्तो जाती लाघव ॥

—इसिभासियाइ, ४५/४०

ऋषिभाषित की रचना—ऋषिभाषित की रचना के सम्बन्ध मे प्रो० शुब्रिंग एव अन्य विद्वानो का मत है कि यह मूलत पार्श्व की परम्परा मे निर्मित हुआ होगा, क्योकि उस परम्परा का स्पष्ट प्रभाव प्रथम अध्याय मे देखा जाता है, जहाँ ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक साथ मानकर उसे चातुर्याम की व्यवस्था के अनुरूप ढाला गया है[२९]। पुन पार्श्व का विस्तृत अध्याय भी उसी तथ्य को पुष्ट करता है। दूसरा इसे पार्श्व की परम्परा का मानने का एक आधार यह भी है कि पार्श्व की परम्परा अपेक्षाकृत अधिक उदार थी–उसकी अन्य परिव्राजक और श्रमण परम्पराओ से आचार-व्यवहार आदि मे भी अधिक निकटता थी। पार्श्वापत्यो के महावीर के सघ मे प्रवेश के साथ यह ग्रन्थ महावीर की परम्परा मे आया और उनकी परम्परा मे निर्मित दशाओ मे प्रश्नव्याकरणदशा के एक भाग के रूप मे सम्मिलित किया गया।

ऋषिभाषित का प्रश्नव्याकरण से पृथक्करण—

अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि क्यो तो पहले उसे प्रश्नव्याकरणदशा मे डाला गया और बाद मे उसे उससे अलग कर दिया गया ? मेरी दृष्टि मे पहले तो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक उपदेशो का सकलन होने से इसे अपने आगम साहित्य मे स्थान देने मे महावीर की परम्परा के आचार्यों को कोई बाधा प्रतीत नही हुई होगी, किन्तु जब जैन सघ सुव्यवस्थित हुआ और उसकी अपनी एक परम्परा बन गई तो अन्य परम्रराओ के ऋषियो को आत्मसात करना उसके लिए कठिन हो गया। मेरी दृष्टि मे प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को अलग करना कोई आकस्मिक घटना नही है, अपितु एक उद्देश्यपूर्ण घटना है। यह सम्भव नही था कि एक ओर तो सूत्रकृताग, भगवती[३०] और उपासकदशाग[३१] मे मखलि गोशालक की तथा ज्ञाताधर्म[३२] मे नारद की आलोचना करते हुए उनके चरित्र के हनन का प्रयत्न किया जाये और दूसरी ओर उन्हे अर्हत् ऋषि कहकर उनके उपदेशो को आगम-वचन के रूप मे सुरक्षित रखा जाये। ईसा की प्रथम शती तक जैन सघ की श्रद्धा को टिकाये रखने का प्रश्न प्रमुख बन गया था। नारद, मखलि गोशालक, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि मानकर उनके वचनो को तीर्थंकर की आगम-वाणी के रूप मे स्वीकार करना कठिन हो गया था। यद्यपि इसे भी जैन आचार्यों का सौजन्य ही कहा जाना चाहिए कि उन्होने ऋषिभाषित को प्रश्न-

---

29 See-Introduction of Isibhasiyaim by walther Schubring, Ahmedabad—1974

३० देखें—भगवती, शतक १५

३१ देखें—उपासकदसाग, अध्याय ३ एव ७

३२ ज्ञाताधर्मकथा, द्रौपदी नामक अध्ययन

व्याकरण से अलग करके भी प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप मे उसे सुरक्षित रखा। साथ ही उसकी प्रामाणिकता को बनाये रखने के लिए उसे प्रत्येकबुद्ध भाषित माना। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश ने इतना अवश्य किया कि उसमे उल्लेखित पार्श्व, वर्धमान, मखलिपुत्र आदि को आगम मे वर्णित उन्ही व्यक्तित्वो से भिन्न कहा जाने लगा।

ऋषिभाषित के ऋषियो को प्रत्येकबुद्ध क्यो कहा गया ?

ऋषिभाषित के मूलपाठ मे केतलिपुत्र को ऋषि, अम्बड (२५) को परिव्राजक; पिंग (३२), ऋषिगिरि (३४) एव श्री गिरि को ब्राह्मण (माहण) परिव्राजक अर्हत् ऋषि, सारिपुत्र को बुद्ध अर्हत् ऋषि तथा शेष सभी को अर्हत् ऋषि के नाम से सम्बोधित किया गया। उत्कट (उत्कल) नामक अध्ययन मे वक्ता के नाम का उल्लेख ही नही है, अतः उसके साथ कोई विशेषण होने का प्रश्न ही नही उठता है। यद्यपि ऋषिभाषित के अन्त मे प्राप्त होने वाली सग्रहणी गाथा मे[33] एव ऋषिमण्डल[34] मे इन सबको प्रत्येकबुद्ध कहा गया है तथा यह भी उल्लेख है कि इनमे से बीस अरिष्टनेमि के, पन्द्रह पार्श्वनाथ के और शेष महावीर के शासन मे मे हुए हैं। किन्तु, यह गाथा परवर्ती है और बाद मे जोडी गयी लगती है। मूलपाठ मे कही भी इनका प्रत्येकबुद्ध के रूप मे उल्लेख नही है। समवायाग मे ऋषिभाषित की चर्चा के प्रसग मे इन्हे मात्र देवलोक से च्युत कहा गया है, प्रत्येकबुद्ध नही कहा गया है। यद्यपि समवायाग मे ही प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का विवरण देते समय यह कहा गया है कि इसमे स्वसमय और परसमय के प्रवक्ता प्रत्येकबुद्धो के विचारो का सकलन है। चूकि ऋभिाषित प्रश्नव्याकरण का ही एक भाग रहा था। इस प्रकार ऋषिभाषित के ऋषियो को सर्वप्रथम समवायाग मे परोक्षरूप से प्रत्येकबुद्ध मान लिया गया था[35]। यह स्पष्ट है कि ऋषिभाषित के अधिकाश ऋषि

---

३३ पत्तेयबुद्धमिसिणो वीस तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्ण दस वीरस्स विलीणमोहस्स॥

—इसिभासियाइ, पृ० २०५

३४ नारयरिसिपामुक्खे, वीस सिरिनेमिनाहतित्थम्मि।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि॥ ४४॥
पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउ सिव पत्ता।
पणयालीस इसिभासियाइ अज्झयणपराइ॥ ४५॥

—ऋषिमण्डल प्रकरणम्‘आत्मवल्लम ग्रन्थमाला ग्रन्थाक १३, बालापुर, गाथा ४४, ४५

३५ पण्हावागरणदसासु ण ससमय-पर-समय पण्णवय पत्तेयबुद्ध-विविहत्थभासाभासियाण

—समवायाग सूत्र ५४६

जैन परम्परा मे के नही थे, अत उनके उपदेशो को मान्य रखने के लिए उन्हे प्रत्येक-बुद्ध कहा गया। जैन और बौद्ध दोनो परम्परा मे प्रत्येकबुद्ध वह व्यक्ति है, जो किसी निमित्त से स्वय प्रबुद्ध होकर एकाकी साधना करते हुए ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु न तो वह स्वय किसी का शिष्य बनता है और न किसी को शिष्य बनाकर सघ व्यवस्था करता है। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध किसी परम्परा या सघ व्यवस्था मे आबद्ध नही होता है, फिर भी वह समाज मे आदरणीय होता है और उसके उपदेश प्रामाणिक माने जाते है।

ऋषिभाषित और जैनधर्म के सिद्धान्त—

ऋषिभाषित का समग्रत अध्ययन हमे इस सबध मे विचार करने को विवश करता है कि क्या ऋषिभाषित मे अन्य परम्पराओ के ऋषियो द्वारा उनकी ही अपनी मान्यताओ का प्रतिपादन करवाया गया है अथवा उनके मुख से जैन परम्परा की मान्यताओ का प्रतिपादन करवाया गया है ? प्रथम दृष्टि से देखने पर तो ऐसा भी लगता है कि उनके मुख से जैन मान्यताओ का प्रतिपादन हुआ है। प्रो० शुब्रिंग और उनके ही आधार पर प्रो० लल्लनजी गोपाल ने प्रत्येक ऋषि के उपदेशो के प्रतिपादन के प्रारम्भिक और अन्तिम कथन की एकरूपता के आधार पर यह मान लिया है कि ग्रन्थकार ऋषियो के उपदेशो के प्रस्तुतिकरण मे प्रामाणिक नही है। उसने इनके उपदेशो को अपने ही ढग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अधिकाश अध्यायो मे जैन पारिभाषिक पदावली यथा पच महाव्रत, कषाय, परिषह आदि को देखकर इस कथन में सत्यता परिलक्षित होने लगती है। उदाहरणार्थ प्रथम नारद नामक अध्ययन मे यद्यपि शौच के चार लक्षण बताये गये हैं, किन्तु यह अध्याय जैन परम्परा के चातुर्याम का ही प्रतिपादन करता है। वज्जीयपुत्त नामक द्वितीय अध्याय मे कर्म के सिद्धान्त की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। यह अध्याय जीव के कर्मानुगामी होने की धारणा का प्रतिपादन करता है, साथ ही मोह को दु ख का मूल बताता है। यह स्पष्ट करता है कि जिस प्रकार बीज से अकुर और अकुर से बीज की परम्परा चलती रहती है उसी प्रकार से मोह से कर्म-और कर्म से मोह की परम्परा चलती रहती है और मोह के समाप्त होने पर कर्म सन्तति ठीक वैसे ही समाप्त होती है जैसे वृक्ष के मूल को समाप्त करने पर उसके फल पत्ती अपने आप समाप्त होते हैं। कर्म सिद्धान्त की यह अवधारणा ऋषिभाषित के अध्याय १३, १५, २४ और ३० मे भी मिलती है। जैन परम्परा मे इससे ही मिलता-जुलता विवरण उत्तराध्ययन के बत्तीसवे अध्याय मे प्राप्त होता है। इसी प्रकार तीसरे असित देवल नामक अध्याय मे हमे जैन परम्परा और विशेष रूप से आचाराग मे उपलब्ध पाप को लेप कहने की बात मिल जाती है। इस अध्याय मे हमे पाच महाव्रत, चार कषाय तथा इसी प्रकार हिसा से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ पापो का उल्लेख भी मिलता है। यह अध्याय मोक्ष के स्वरूप का विवेचन भी करता है और उसे शिव, अतुल, अमल, अव्याघात, अपुनरावर्तन तथा

शाश्वत स्थान बताता है। मोक्ष का ऐसा ही स्वरूप हमे जैन-आगम-साहित्य मे अन्यत्र भी मिलता है। पाच महाव्रतो और चार कषायो का विवरण तो ऋषि-भाषित के अनेक अध्यायो मे आया है। महाकाश्यप नामक ९ वे अध्ययन मे पुण्य, पाप तथा सवर और निर्जरा की चर्चा उपलब्ध होती है। इसी अध्याय मे कषाय का भी उल्लेख है। नवें अध्याय मे कर्म आदान की मुख्य चर्चा करते हुए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग को बन्धन का कारण कहा गया है जो कि जैन परम्परा के पूर्णत अनुरूप है। इसमे जैन परम्परा के अनेक पारिभाषिक शब्द यथा उपक्रम, बद्ध, स्पृष्ट, निकाचित, निर्जीर्ण, सिद्धि, शैलेषी-अवस्था, प्रदेशोदय, विपाकोदय आदि पाये जाते है। इस अध्याय मे प्रतिपादित आत्मा की नित्यानित्यता की अवधारणा, सिद्धावस्था का स्वरूप एव कर्मबन्धन और निर्जरा की प्रक्रिया जैन दर्शन के समान है।

इसी तरह अनेक अध्यायो मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवधारणा भी मिलती है। बारहवे याज्ञवल्क्य नामक अध्ययन मे जैन परम्परा के अनुरूप गोचरी के स्वरूप एव शुद्धैषणा की चर्चा मिल जाती है। आत्मा अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और कृत-कर्मों के फल का भोक्ता है यह बात भी १५ वे मधुरायन नामक अध्ययन मे की गयी है। सतरहवे विदुर नामक अध्ययन मे सावद्ययोग, विरति और समभाव की चर्चा है। उन्नीसवे आरियायण नामक अध्याय में आर्य ज्ञान, आर्य दर्शन और आर्य चरित्र के रूप मे प्रकारान्तर से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की ही चर्चा है। बाईसवा अध्याय धर्म के क्षेत्र मे पुरुष की प्रधानता की चर्चा करता है तथा नारी की निन्दा करता है, इसकी सूत्रकृताग के 'इत्थिपरिण्णा' नामक अध्ययन से समानता है। तेईसवे रामपुत्त नामक अध्याय मे उत्तराध्ययन (२८/३५) के समान ही ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन द्वारा देखने, सयम के द्वारा निग्रह करने की तथा तप के द्वारा अष्टविध कर्म के विधूनन की बात कही गयी है। अष्टविध कर्म की यह चर्चा केवल जैन परम्परा मे ही पायी जाती है। पुन चौवीसवें अध्याय मे भी मोक्ष मार्ग के रूप मे ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की चर्चा है। इसी अध्याय में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक—इन चतुर्गतियो की भी चर्चा है। पचीसवे अम्बड नामक अध्याय मे चार कषाय, चार विकथा, पाच महाव्रत, तीन गुप्ती, पच-इन्द्रिय सयम, छ जीव-निकाय, सात भय, आठ मद, नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य तथा दस प्रकार के समाधिस्थान की चर्चा है। इस प्रकार इस अध्याय मे जैन परम्परा मे मान्य अनेक अवधारणायें एक साथ उपलब्ध हो जाती है। इसी अध्याय मे आहार करने के छ कारणो की चर्चा भी है, जो स्थानाग (स्थान ६) आदि मे मिलती है। स्मरण रहे कि यद्यपि जैनागमो मे अम्बड को परिव्राजक माना है, फिर भी उसे महावीर के प्रति श्रद्धावान बताया है[३६]। यही कारण है कि

---

३६ भगवती

इसमे सर्वाधिक जैन अवधारणायें उपलब्ध है। ऋषिभाषित के छब्बीसवे अध्याय मे उत्तराध्ययन के पचीसवे अध्याय के समान ही ब्राह्मण के स्वरूप की चर्चा है। इसी अध्याय मे कषाय, निर्जरा, छ जीवनिकाय और सर्व प्राणियो के प्रति दया का भी उल्लेख है। एकतीसवे पार्श्व नामक अध्ययन मे पुन चातुर्याम, अष्ट-विध कर्मग्रन्थि, चार गति, पचास्तिकाय तथा मोक्ष स्थान के स्वरूप का दिग्दर्शन होता है। इसी अध्याय मे जैन परम्परा के समान जीव को ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है, किन्तु पार्श्व तो जैन परम्परा मे मान्य ही है अत इस अध्याय मे जैन अवधारणाए होना आश्चर्यजनक नही है।

अब विद्वानो की यह धारणा भी बनी है कि जैन दर्शन का तत्त्वज्ञान पार्श्वापत्यो की ही देन है। शुब्रिग ने भी इसिभासियाइँ पर पार्श्वापत्यो का प्रभाव माना है। पुन ३२वे पिंग नामक अध्याय मे जैन परम्परा के अनुरूप चारो वर्णो की मुक्ति का भी प्रतिपादन किया गया है। २४वे अध्याय मे परिषह और उपसर्गो की चर्चा है। इसी अध्याय मे पच महाव्रत से युक्त, कषाय से रहित, छिन्नस्रोत, अनास्रव भिक्षु की मुक्ति की भी चर्चा है। पुन ३५वे उद्दालक नामक अध्याय मे तीन गुप्ति, तीन दण्ड, तीन शल्य, चार कषाय, चार विकथा, पाच समिति, पचेन्द्रिय-सयम, योग-सन्धान एव नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष से रहित विभिन्न कुलो की परकृत, परनिर्दिष्ट, विगतधूम, शस्त्रपरिणत भिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है। इसी अध्याय मे सज्ञा एव २२ परिषहो का भी उल्लेख है।

इस प्रकार हम देखते है कि ऋषिभाषित मे अनेक जैन अवधारणाये उप-स्थित हैं। अत स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या जैन आचार्यों ने ऋषिभाषित का सकलन करते समय अपनी ही अवधारणाओ को इन ऋषियो के मुख से कहलवा दिया अथवा मूलत· ये अवधारणाये इन ऋषियो की ही थी और वहाँ से जैन परम्परा मे प्रविष्ट हुई ? यह तो स्पष्ट है कि ऋषिभाषित उल्लेखित ऋषियो मे पार्श्व और महावीर को छोडकर शेष अन्य सभी या तो स्वतन्त्र साधक रहे है या अन्य परम्पराओ के रहे हैं। यद्यपि इनमे कुछ के उल्लेख उत्तराध्ययन और सूत्रकृताग मे भी है। यदि हम इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इसमे जो विचार हैं वे उन ऋषियो के नही हैं तो ग्रन्थ की और ग्रन्थकर्त्ता की प्राथमिकता खण्डित होती है, किन्तु दूसरी ओर यह मानना कि ये सभी अवधारणाये जैन परम्परा मे अन्य परम्पराओ से प्रविष्ट हुईं, पूर्णत सन्तोषप्रद नही लगता है। अत सर्वप्रथम तो हम यह परीक्षण करने का प्रयत्न करेंगे कि ऋषिभाषित मे जिन ऋषियो के उपदेश सकलित हैं वे उनके अपने हैं या जैन आचार्यों ने अपनी बात को उनके मुख से कहलवाया है।

ऋषिभाषित मे उपदिष्ट अवधारणाओं की प्रामाणिकता का प्रश्न—

यद्यपि ऋषिभाषित के सभी ऋषियो के उपदेश और तत्सम्बन्धी साहित्य हमे जैनेतर परम्पराओ मे उपलब्ध नही होता, फिर भी इनमे से अनेको के विचार

और अवधारणाये आज भी अन्य परम्पराओं मे उपलब्ध हैं। याज्ञवल्क्य का उल्लेख भी उपनिषदो मे है। इसी प्रकार विदुर, नारायण, असित देवल आदि के उल्लेख महाभारत एव हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रन्थो मे मिल जाते है। ऋषिभाषित मे इनके जो विचार उल्लेखित हैं, उनकी तुलना अन्य स्रोतो से करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित मे जिन ऋषियो के जिन विचारो का उल्लेख किया गया है उनमे कितनी प्रामाणिकता है। ऋषिभाषित के ग्यारहवे अध्याय मे मखलिपुत्र गोशालक का उपदेश सकलित है। मखलिपुत्र गोशालक के सम्बन्ध मे हमे जैन परम्परा मे भगवतीसूत्र और उपासकदशाग मे, बौद्ध परम्परा मे दीघ-निकाय के सामञ्ञ महाफलसुत्त और सुत्तनिपात मे एव हिन्दू परम्परा मे महाभारत के शान्तिपर्व के १७७ वे अध्याय मे मखी ऋषि के रूप मे उल्लेख प्राप्त होता है। तीनो ही स्रोत उसे नियतिवाद का समर्थक बताते है। यदि हम ऋषिभाषित अध्याय ११ मे वर्णित मखलि गोशालक के उपदेशो को देखते है तो यहाँ भी हमे परोक्ष रूप से नियतिवाद के सकेत उपलब्ध हैं। इस अध्याय मे कहा गया है कि जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, वेदना का अनुभव करता है, क्षोभित होता है आहत होता है, स्पदित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है वह त्यागी नही हैं। इसके विपरीत जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित नही होता है, क्षोभित नही होता है, दु खित नही होता है वह त्यागी है। परोक्षरूप से यह पदार्थों की परिणति के सम्बन्ध मे नियतिवाद का प्रतिपादक है। ससार की अपनी एक व्यवस्था और गति है वह उसी के अनुसार चल रहा है, साधक को उस का ज्ञाता-द्रष्टा तो होना चाहिए किन्तु द्रष्टा के रूप मे उससे प्रभावित नही होना चाहिए। नियतिवाद की मूलभूत आध्यात्मिक शिक्षा यही हो सकती है कि हम ससार के घटनाक्रम मे साक्षी भाव से रहें। इस प्रकार यह अध्याय गोशालक के मूलभूत आध्यात्मिक उपदेश को ही प्रतिबिम्बित करता है। इसके विपरीत जैन और बौद्ध साहित्य मे जो मखलि गोशालक के सिद्धान्त का निरूपण है, वह वस्तुत गोशालक की इस आध्यात्मिक अवधारणा से निकाला गया एक विकृत दार्शनिक फलित है। वस्तुत ऋषिभाषित का रचयिता गोशालक के सिद्धान्तो के प्रति जितना प्रामाणिक है, उतने प्रामाणिक त्रिपिटक और परवर्ती जैन आगमो के रचयिता नही हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के १७७ वें अध्याय मे मखि ऋषि का उपदेश सकलित है उसमे एक ओर नियतिवाद का समर्थन है, किन्तु दूसरी ओर इसमे वैराग्य का उपदेश भी है। इस अध्याय मे मूलत द्रष्टा भाव और ससार के प्रति अनासक्ति का उपदेश है। यह अध्याय नियतिवाद के माध्यम से ही अध्यात्म का उपदेश देता है। इसमे यह बताया गया है कि ससार की अपनी व्यवस्था है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से भी उसे अपने अनुसार नही मोड पाता है, अत. व्यक्ति को द्रष्टा भाव रखते हुए ससार से विरक्त हो जाना चाहिए। महाभारत के इस अध्याय की

विशेषता यह है कि मंखि ऋषि को नियतिवाद का समर्थक मानते हुए भी उस नियतिवाद के माध्यम से उन्हे वैराग्य की दिशा मे प्रेरित बताया गया है।

इस आधार पर ऋषिभाषित मे मखलिपुत्र का उपदेश जिस रूप मे सकलित मिलता है वह निश्चित ही प्रामाणिक है।

इसी प्रकार ऋषिभाषित के अध्याय ९ मे महाकश्यप के और अध्याय ३८ मे सारिपुत्त के उपदेश सकलित है। ये दोनो ही बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित रहे हैं। यदि हम ऋषिभापित मे उल्लेखित इनके विचारो को देखते हैं तो स्पष्ट रूप से इसमे हमे बौद्धधर्म की अवधारणा के मूल तत्त्व परिलक्षित होते है। महाकश्यप अध्याय मे सर्व प्रथम ससार की दु:खमयता का चित्रण है। इसमे कर्म को दु.ख का मूल कहा गया है और कर्म का मूल जन्म को बताया गया है, जो कि बौद्धो के प्रतीत्य-समुत्पाद का ही एक रूप है। इसी अध्याय मे एक विशेषता हमे यह देखने को मिलती है कि, इसमे कम-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए "सन्तानवाद" की चर्चा है जो कि बौद्धो का मूलभूत सिद्धान्त है। इस अध्याय मे निर्वाण के स्वरूप को समझाने के लिए बौद्ध दर्शन के मूलभूत दीपक वाले उदाहरण को प्रस्तुत किया गया है। पूरा अध्याय सन्तानवाद और कर्मसस्कारो के माध्यम से वैराग्य का उपदेश प्रदान करता है। इस प्रकार हम यह कह सकते है कि इसमे बौद्धधर्म के मूल बीज उपस्थित हैं। इसी प्रकार ३८ वे सारिपुत्त नामक अध्याय मे भी बौद्ध धर्म के मूल उत्स मध्यम मार्ग का प्रतिपादन मिलता है। इसके साथ बुद्ध के प्रज्ञावाद का भी इसमे प्रतिपादन हुआ है। इस अध्याय मे कहा गया है कि, मनोज्ञ भोजन, मनोज्ञ शयनासन का सेवन करते हुए और मनोज्ञ आवास मे रहते हुए भिक्षु सुखपूर्वक ध्यान करता है। फिर भी प्रज्ञ पुरुष को सासारिक पदार्थों मे आसक्त नही होना चाहिए, यही बुद्ध का अनुशासन है। इस प्रकार यह अध्याय भी बुद्ध के उपदेशो को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य नामक १२व अध्याय मे भी हम देखते है कि याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशो का प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य का उल्लेख हमे उपनिपदो एव महाभारत मे भी मिलता है [३७]। उपनिषद् मे जहाँ याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सवाद है वहाँ उनकी सन्यास की इच्छा को स्पष्ट किया गया है। ऋषिभाषित मे भी याज्ञवल्क्य के उपदेश के रूप मे लोकैषणा और वित्तैपणा के त्याग की वात कही गयी है तथा यह कहा गया है कि जब तक लोकैपणा होती है तव तक वित्तैपणा होती है और जब वित्तैषणा होती है तो लोकैपणा होती है। इसलिए लोकैपणा और वित्तषणा के स्वरूप को जानकर गोपथ से जाना चाहिए, महापथ से नही जाना चाहिए। वस्तुत ऐसा लगता है कि यहाँ

---

३७ वृहदारण्यक उपनिपद्, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण।

निवृत्तिमार्ग को गोपथ और प्रवृत्तिमार्ग को महापथ कहा गया है और याज्ञवल्क्य निवृत्ति मार्ग का उपदेश देते प्रतीत होते है। यहाँ सबसे विचारणीय बात यह है कि बौद्ध धर्म मे जो हीनयान और महायान की अवधारणा का विकास है, कही वह गोपथ और महापथ की अवधारणा का विकसित रूप तो नही है? आचाराग मे भी महायान शब्द आया है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी अध्याय ३१० से लेकर ३१८ तक याज्ञवल्क्य के उपदेशो का सकलन है। इसमे मुख्य रूप से साख्य और योग की अवधारणा का प्रतिपादन है। ऋषिभाषित के इस अध्याय मे मुनि की भिक्षा-विधि की भी चर्चा है जो कि जैन परम्परा के अनुरूप ही लगती है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ऋषिभाषित के लेखक ने याज्ञवल्क्य के मूलभूत उपदेशो को विकृत नही किया है। ऋषिभाषित के २० वे उत्कल नामक अध्याय के उपदेष्टा के रूप मे किसी ऋषि का उल्लेख नही है, किन्तु इतना निश्चित है कि इसमे चार्वाक के विचारो का पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रतिपादन हुआ है। ऋषिभाषित मे वर्धमान का जो उपदेश है उसकी यथार्थ प्रतिच्छाया आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्ययन मे एव उत्तराध्ययन के ३२वे अध्याय मे यथावत् रूप से उपलब्ध है।

उपर्युक्त आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ऋषिभाषित मे ऋषियो के उपदेश को सामान्यरूप से प्रामाणिकता पूर्वक ही प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इसमे मुख्य रूप से उनके आध्यात्मिक और नैतिक विचारो का ही प्रस्तुतीकरण हुआ है और उसके पीछे निहित दर्शन पर इसमे कोई बल नही दिया गया है। दूसरा यह भी सत्य है कि उनका प्रस्तुतीकरण या ग्रन्थ-रचना जैन परम्परा के आचार्यों द्वारा हुई है। अत यह स्वाभाविक था कि उसमे जैन परम्परा मे मान्य कुछ अवधारणाए प्रतिबिम्बित हो गयी हो। पुन इस विश्वास के भी पर्याप्त आधार है कि जिन्हे आज हम जैन परम्परा की अवधारणाए कह रहे हैं, वे मूलत. अन्य परम्पराओ मे प्रचलित रही हो। अत. ऋषिभाषित के ऋषियो के उपदेशो की प्रामाणिकता को पूर्णत निरस्त नही किया जा सकता। अधिक से अधिक हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि उन पर अपरोक्षरूप से जैन परम्परा का कुछ प्रभाव आ गया है।

ऋषिभाषित के ऋषियों की ऐतिहासिकता का प्रश्न—

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि ऋषिभाषित मे वर्णित अधिकाश ऋषिगण जैन परम्परा से सम्बन्धित नही है। उनके कुछ के नामो के आगे लगे हुए ब्राह्मण, परिव्राजक आदि शब्द ही उनका जैन परम्परा से भिन्न होना सूचित करता है। दूसरे देव नारद, असित देवल, अगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, बाहुक, विदुर, वारिषेण कृष्ण, द्वैपायन, आरुणि, उद्दालक, तारायण, ऐसे नाम हैं जो वैदिक परम्परा मे सुप्रसिद्ध रहे है और आज भी उनके उपदेश उपनिषदो, महाभारत एव पुराणो मे

सुरक्षित है । इनमे से देव नारद, असित देवल, अंगिरस भारद्वाज, द्वैपायन के उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृताग, औपपातिक, अन्तकृद्दशा आदि जैन ग्रन्थो मे तथा बौद्ध त्रिपिटक साहित्य मे भी मिलते है । इसी प्रकार वज्जीयपुत्त, महाकश्यप और सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व है और उनका उल्लेख त्रिपिटक साहित्य मे उपलब्ध है । मखलिपुत्र, रामपुत्त, अम्बड (अम्बष्ट) संजय (वेलट्ठिपुत्र) आदि ऐसे नाम है जो स्वतन्त्र श्रमण परम्पराओ से सम्बन्धित है और इनके उल्लेख जैन और बौद्ध परम्पराओ मे हमे स्पष्ट रूप से मिलते है । ऋषिभाषित के जिन ऋषियो के उल्लेख बौद्ध साहित्य मे हमे मिलते है उस पर विस्तृत चर्चा प्रो० सी. एस. उपासक ने अपने लेख 'इसिभासियाइं एण्ड पालि बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स . ए स्टडी' मे किया है । यह लेख प० दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ मे प्रकाशित हो रहा है । पार्श्व और वर्द्धमान जैन परम्परा के तेईसवे और चौबीसवे तीर्थंकर के रूप मे सुस्पष्ट रूप से मान्य है । आर्द्रक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृताग मे है । इसके अतिरिक्त वल्कलचीरी, कूर्मापुत्र, तेतलिपुत्र, भयालि, इन्द्रनाग ऐसे नाम है जिनमे अधिकाश का उल्लेख जैन परम्परा के इसि-मण्डल एव अन्य ग्रन्थो मे मिल जाता है । वल्कलचीरी, कूर्मापुत्र आदि का उल्लेख बौद्ध परम्परा मे भी है । किन्तु, जिनका उल्लेख जैन और बौद्ध परम्परा मे अन्यत्र नही मिलता है, उन्हे भी पूर्णतया काल्पनिक व्यक्ति नही कह सकते । यदि हम ऋषिभाषित के ऋषियो की सम्पूर्ण सूची का अवलोकन करे तो केवल सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रमण, ऐसे नाम है जिन्हे काल्पनिक कहा जा सकता है; क्योकि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो ही परम्पराए इन्हे सामान्यतया लोकपाल के रूप मे ही स्वीकार करती है, किन्तु इनमे भी महाभारत मे वायु का उल्लेख एक ऋषि के रूप मे मिलता है । यम को आवश्यक चूर्णि में यमदग्नि ऋषि का पिता कहा गया है । इस सम्भावना को पूरी तरह निरस्त नही किया जा सकता कि यम कोई ऋषि रहे हो । यद्यपि उपनिषदो मे भी यम को लोकपाल के रूप मे चित्रित किया गया है । किन्तु, इतना तो निश्चित है कि ये एक उपदेष्टा हैं । यम और नचिकेता का सम्वाद औपनिषदिक परम्परा मे सुप्रसिद्ध ही है । वरुण और वैश्रमण को भी वैदिक परम्परा मे मत्रोपदेष्टा के रूप मे स्वीकार किया गया है । यह सम्भव है कि सोम, यम, वरुण, वैश्रमण इस ग्रन्थ के रचनाकाल तक एक उपदेष्टा के रूप मे लोक परम्परा मे मान्य रहे हो और इसी आधार पर इनके उपदेशो का सकलन ऋषि-भाषित मे कर लिया गया है ।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर निष्कर्ष के रूप मे हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के ऋषियो मे उपर्युक्त चार-पाँच नामो को छोडकर शेष सभी प्रागैतिहासिक काल के यथार्थ व्यक्ति हैं, काल्पनिक चरित्र नही है ।

निष्कर्ष रूप मे हम इतना ही कहना चाहेगे कि ऋषिभाषित न केवल जन परम्परा की अपितु समग्र भारतीय परम्परा की एक अमूल्य निधि है और इसमे

भारतीय चेतना की धार्मिक उदारता अपने यथार्थ रूप मे प्रतिबिम्बित होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि यह हमे अधिकाश ज्ञात और कुछ अज्ञात ऋपियो के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण एव प्रामाणिक सूचनाए देता है। जैनाचार्यो ने इस निधि को सुरक्षित रखकर भारतीय इतिहास एव सस्कृति की बहुमूल्य सेवा की है। वस्तुत यह ग्रन्थ ईसा पूर्व १०वी शती से लेकर ईसा पूर्व ६ठी शती तक के अनेक भारतीय ऋषियो की ऐतिहासिक सत्ता का निर्विवाद प्रमाण है।

ऋषिभाषित के ऋषियों का काल एवं परम्परा

जैन परम्परा के अनुसार इन ४५ ऋषियो मे २० अरिष्टनेमि के काल के, १५ पार्श्व के काल के, शेष १० महावीर के काल के माने गये हैं।[३८] इसिमण्डल भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। यद्यपि यदि हम इनके काल का यह वर्गीकरण इस आधार पर करें कि प्रथम २० अरिष्टनेमि के काल के, उसके बाद के १५ पार्श्व के काल के और अन्त मे १० महावीर के काल के हैं तो यह वर्गीकरण उचित नही बैठता; क्योकि फिर २९ वें क्रम मे स्थित वर्धमान को पार्श्व के काल का मानना होगा। और, ४०वे क्रम पर स्थित द्वैपायन को महावीर के काल का मानना होगा। जवकि स्थिति इससे भिन्न ही है। द्वैपायन अरिष्टनेमि के काल के हैं और वर्धमान स्वय महावीर ही हैं। अत यह मानना समुचित नही होगा कि जिस क्रम से ऋषिभाषित मे इन ऋषियो का उल्लेख हुआ है उस क्रम से ही वे अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर के काल मे विभाजित होते है। कौन ऋषि किस काल का है? इसके सन्दर्भ मे पुर्नविचार की आवश्यकता है। शुब्रिग ने स्वय भी इस सम्बन्ध मे स्पष्ट सकेत नही किया है। ऋषिभाषित के ऋषियो की पहचान का एक प्रयत्न शुब्रिग ने अपनी इसिभासियाइँ की भूमिका मे किया है।[३९] उनके अनुसार याज्ञवल्क्य, बाहुक (नल), अरुण, महाशालपुत्र या आरुणि और उद्दालक स्पष्ट रूप से औपनिषदिक परम्परा के प्रतीत होते है। इसके साथ ही पिंग, ऋषिगिरि और श्रीगिरि इन तीनो को ब्राह्मण परिव्राजक और अम्बड को परिव्राजक कहा गया है। इसलिए यह चारो भी ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित हैं। यौगन्धरायण, जिनका अम्बड से सम्वाद हुआ है, वे भी ब्राह्मण परम्परा के ऋषि प्रतीत होते है। इसी प्रकार मधुरायण, आर्यायण, तारायण (नारायण) भी ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित

---

३८ ऋषिमण्डल ४३

३९ Introduction page 3-7 ISIBHASIYAIM L D Institute of Indology Ahmedabad-9, 1974

लगते है । आगिरस और वारिषेण कृष्ण भी ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित माने जाते है । शुब्रिग महाकाश्यप, सारिपुत्र और वज्जियपुत्त को बौद्ध परम्परा मे सम्बन्धित मानते है । उनकी यह मान्यता मेरी दृष्टि से समुचित भी है । यद्यपि शुब्रिग ने पुष्पशालपुत्र, केतलीपुत्र, विदु, गाथापतिपुत्र तरुण, हरिगिरि, मातग और वायु को प्रमाण के अभाव मे किसी परम्परा से जोडने मे असमर्थता व्यक्त की है ।

यदि हम शुब्रिग के उपर्युक्त दृष्टिकोण को उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर रखते हैं तो नारद, असित देवल, आगिरस भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, पिंग, तारायण को स्पष्ट रूप से वैदिक या औपनिषदिक परम्परा के ऋषि मान सकते है । इसी प्रकार महाकाश्यप, सारिपुत्त ओर वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा का मानने मे भी हमे कोई आपत्ति नही होगी । पार्श्व और वर्धमान स्पष्ट रूप से जैन परम्परा के माने जा सकते हैं । मखलिपुत्र स्पष्ट रूप से आजीवक परम्परा के हैं । शेष नामो के सम्बन्ध मे हमे अनेक पहलुओं से विचार करना होगा । यद्यपि पुष्प-शालपुत्र, वक्कलचीरी, कुम्मापुत्त, केतलिपुत्र, भयालि, मधुरायण, सौर्यायण, आर्या-यण, गर्दभालि, गाथापतिपुत्र तरुण, वारत्रय, आर्द्रक, वायु, सजय, इन्द्रनाग, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण आदि की ऐतिहासिकता और परम्परा का निश्चय करना कठिन है, किन्तु यदि हम तीनो अर्थात् जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा मे प्राप्त उनके उल्लेख के आधार पर उनकी ऐतिहासिकता का विचार करे तो सम्भवत. किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है ।

प्रो सी एस. उपासक ने 'इसिभासियाइ और पॉलि बुद्धिस्ट टेक्स्ट' नामक अपने एक लेख मे इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है, किन्तु उन्होने अपने को बौद्ध त्रिपिटक साहित्य तक ही सीमित रखा है । प्रस्तुत आलेख मे शुब्रिग और उपासक के इन प्रत्यनो को तुलनात्मक एव समीक्षात्मक विवरण के आधार पर प्रामाणिकता से आगे बढाना का प्रयास किया गया है । अत· ऋषिभाषित के एक-एक ऋषि को लेकर उनके सम्बन्ध मे अधिक गम्भीरता से विचार करना होगा ।

१. देव नारद

ऋषिभाषित का प्रथम अध्याय अर्हत् ऋषि देव नारद से सम्बन्धित है । नारद के सम्बन्ध में उल्लेख हमे जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनो ही परम्पराओं मे मिलते है । जैन परम्परा मे नारद का उल्लेख ऋषिभाषित[४०] के अतिरिक्त सम-

---

४०. ऋषिभाषित—प्रथम अध्ययन

वायाग[४१], ज्ञाताधर्मकथा[४२], औपपातिक[४३], ऋषिमण्डल[४४], और आवश्यकचूर्णि[४५] मे भी उपलब्ध है। समवायाग मे यह कहा गया है कि नारद का जीव आगामी उत्सर्पिणी काल मे विमल नामक इक्कीसवाँ तीर्थंकर होगा। इस प्रकार ऋषिभाषित और समवायाग दोनो मे नारद को सम्मानित रूप मे प्रस्तुत किया गया है। समवायाग मे प्रकारान्तर से एव ऋषिभाषित की टीका मे उन्हे स्पष्ट रूप से प्रत्येक-बुद्ध कहा गया है। किन्तु, हमे स्मरण रखना होगा कि अर्हत्ऋषि, प्रत्येकबुद्ध और भावी तीर्थंकर की अवधारणाओ मे अन्तर है। जैन परम्परा के अनुसार अर्हत् एव प्रत्येकबुद्ध उसी भव मे मुक्ति प्राप्त कर लेते है, जबकि भावी तीर्थंकर आगामी तीसरे भव मे मुक्ति प्राप्त करता है। अत जैन परम्परा के अनुसार अर्हत् एव प्रत्येकबुद्ध के भावी तीर्थंकर होने का प्रश्न ही नही उठता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येकबुद्ध और भावी तीर्थंकर की अवधारणाये ऋषिभाषित की रचना के पश्चात् ही विकसित हुई है। यद्यपि दोनो ही अवधारणाये एक दृष्टि से व्यक्ति को सम्मानित रूप से देखने का प्रयत्न तो है, फिर भी जहाँ प्रत्येकबुद्ध को जैन परम्परा से असम्पृक्त रखा गया वहाँ भावी तीर्थंकर को जैन परम्परा मे स्थान दिया गया है। असम्पृक्त रखने की इसी प्रक्रिया मे ऋषिभाषित के ऋषियो को प्रत्येकबुद्ध कह दिया गया, , किन्तु उनमे से कुछ को परम्परा से सम्बन्धित करने के लिए भावी तीर्थंकर के रूप मे भी मान्य कर लिया गया।

ऋषिभाषित के देव नारद को ज्ञाताधर्मकथा और इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) में कल्छुल नारद कहा गया है, फिर भी दोनो एक ही व्यक्ति है। क्योकि, ऋषिभाषित की सग्रहणी गाथा इन्हे अरिष्टनेमि के काल मे होने वाला प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। ज्ञाताधर्मकथा के नारद भी कृष्ण और अरिष्टनेमि के समकालिक ही है। ज्ञाताधर्मकथा मे इन्हे एक ओर भद्र और विविध विद्याओ का ज्ञाता कहा गया है, किन्तु दूसरी ओर कलुष हृदय एव कलहप्रिय भी कहा है। औपपातिक मे ब्राह्मण परिव्राजको के रूप मे नारद का उल्लेख हुआ है। औप-पातिक और ज्ञाताधर्मकथा, दोनों ही उन्हे चारो वेद और अनेक विद्याओ के ज्ञाता एव शौचधर्म के प्रवर्तक मानते हैं। ऋषिभाषित मे भी इनके उपदेश मे शौचधर्म की प्रधानता है, फिर भी यहाँ ये आन्तरिक पवित्रता का उपदेश देते है, बाह्य पवित्रता का नही। आवश्यक चूर्णि मे भी नारद का जो उल्लेख उपलब्ध है उसमे उन्हें शौरीपुर निवासी ब्राह्मण यज्ञदत्त और सोमयशा का पुत्र कहा गया है।

---

४१ समवायाग सूत्र प्रकीर्णसमवाय २५२/३, जैनविश्वभारती (लाडनू)

४२ ज्ञाताधर्मकथा—अध्ययन १६/१३९-१४२

४३ औपपातिक सूत्र ३८

४४ ऋषिमण्डल वृत्ति पूर्वार्द्ध गाथा ३५

४५ आवश्यकचूर्णि भाग २, पृष्ठ १९४ (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम १९२८)

ऋषिमण्डल मे भी नारद का उल्लेख है । उसमे उन्हे 'सत्य ही शौच है' नामक प्रथम अध्ययन का प्रवक्ता कहा गया है । इससे ऐसा लगता है कि ऋषिमण्डलकार ने इस तथ्य को ऋषिभाषित से ही लिया है । इस समग्र विवरण से ऐसा लगता है कि ऋषिभाषित, समवायाग, ज्ञाताधर्मकथा, औपपातिक और ऋषिमण्डल मे उल्लिखित नारद भिन्न-भिन्न व्यक्ति नही है बल्कि एक ही व्यक्ति हैं। इतना निश्चित है कि ऋषिभाषित एव समवायाग मे उन्हे अर्हत् ऋषि और भावी तीर्थंकर के रूप मे जो सम्मानपूर्ण स्थिति प्राप्त है वह परवर्ती आगमिक और अन्य जैन साहित्य मे उपलब्ध नही है। यह तथ्य ऋषिभाषित के साम्प्रदायिक अभिनिवेश से पूर्णतया मुक्त होने का प्रमाण भी है ।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे उल्लिखित नारद के उपदेश का प्रश्न है उसमे जैन परम्परा मे स्वीकृत ५ महाव्रतों को ही ४ शौचो मे विभाजित कर उन्हे उनका प्रवक्ता कहा गया है । इसमे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग मे दिखाया गया है । साथ ही ऋषिभाषित और अन्य जैन आगमो मे उन्हे शौच धर्म का प्रतिपादक भी माना गया है। यद्यपि हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ अन्य जैन आगमो में उन्हें बाह्य शौच अर्थात् शरीर-शुद्धि पर बल देने वाला कहते हैं, वहाँ ऋषिभाषित मे उन्हे सद्गुणो के धारणरूप आन्तरिक पवित्रता का प्रतिपादक कहलाया गया है ।

ऋषिभाषित के प्रथम अध्ययन मे अर्हत् ऋषि देव नारद ने शौच को श्रोतव्य एव सर्व दुखो से मुक्ति का आधार बताते हुए निम्न चार प्रकार के शौच लक्षणो का उल्लेख किया है ।

१—प्राणातिपात (हिंसा) से विरति

२—मृषावाद से विरति

३—अदत्तादान से विरति

४—अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरति

इसके साथ ही इस अध्याय मे सर्वथा निर्ममत्व भाव रखने का निर्देश भी दिया गया है तथा यह कहा गया है कि साधक को सभी स्थितियो मे समभाव रखना चाहिए । जो साधक शौच का पालन करता है, ममत्वभाव से रहित है और समभाव का आचरण करता है वह शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करता है। उसका पुनरागमन नही होता है ।

शुब्रिंग की मान्यता है कि ग्रन्थ प्रणेता पर पार्श्व के चातुर्याम का प्रभाव स्पष्ट है, यही कारण है कि इसमे ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग मे वर्गीकृत किया गया है । अहिसा, सत्य आदि को शौच अर्थात् पवित्रता का आधार मानना

यह सूचित करता है कि नारद मात्र बाह्य पवित्रता के ही प्रतिपादक नही थे, अपितु वे आन्तरिक पवित्रता का भी प्रतिपादन करते थे। ऋषिभाषित मे नारद को निर्ममत्व, विरक्ति और विमुक्ति का प्रवक्ता भी कहा गया है। इस अध्याय के अन्त मे साधक को सत्यवादी, दत्तभोजी और ब्रह्मचारी होने का निर्देश दिया गया है। ये आचाराङ्ग मे उल्लेखित त्रियाम तो नही है ? यह विचारणीय है।

सामान्यतया अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा आन्तरिक पवित्रता और निर्ममत्व की अवधारणाये भारतीय परम्परा की सर्वमान्य अवधारणा थी। अत हमे यह मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि ऋषिभाषित मे उल्लेखित नारद का यह उपदेश उनका वास्तविक उपदेश रहा होगा।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नारद का व्यक्तित्व जैन परम्परा मे इतना प्रभावशाली रहा कि आगे चल कर नव बलदेवो और नव वासुदेवो की परिकल्पना के साथ नव नारदो की कल्पना भी कर ली गयी। औपपातिक मे नारदीय परिव्राजको की एक परम्परा का उल्लेख यह सूचित करता है कि नारद के अनुयायी परिव्राजको की एक स्वतन्त्र परम्परा थी।

बौद्ध परम्परा मे भी हमे अनेक नारदो का उल्लेख मिलता है। सर्वप्रथम चौवीस बुद्धो की अवधारणा मे नवे बुद्ध को नारद कहा गया है।[४६] इसके अतिरिक्त थेरगाथा की अट्ठकथा में पद्मोत्तर बुद्ध के समकालीन नारद नामक एक ब्राह्मण का भी उल्लेख मिलता है।[४७] इसी प्रकार थेरगाथा की अट्ठकथा मे अर्थदर्शी बुद्ध के समकालीन एक अन्य नारद नामक ब्राह्मण का भी उल्लेख है।[४८] साथ ही बौद्ध साहित्य मे वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त के मत्री का नाम भी नारद बताया गया है।[४९] मिथिला के एक राजा का नाम भी नारद मिलता है,[५०] किन्तु हमारी दृष्टि मे इन सभी नारदो का ऋषिभाषित के नारद से कोई सम्बन्ध नही है। बौद्ध साहित्य मे एक काश्यपगोत्रीय नारद का उल्लेख मिलता है।[५१] इनका उल्लेख ब्राह्मण ऋषि नारद देव के रूप मे भी हुआ है। कही इन्हे नारद देवल भी कहा गया हैं। किन्तु, हमे ऐसा लगता है कि नारद और देवल एक व्यक्ति न होकर अलग-अलग व्यक्ति है। महाभारत मे नारद और असित देवल के सवाद का उल्लेख है। अत यह माना जा सकता है कि नारद और असित देवल समकालीन रहे

---

४६ बुद्धवश अट्ठकथा १०/६

४७ थेरगाथा अट्ठकथा भाग १ पृष्ठ २६८

४८. वही, पृष्ठ २६९

४९ जातक कथा तृतीयभाग (सर्वजातक वर्ग पृष्ठ न ३०६)

५० वही, भाग चतुर्थ पृष्ठ ५६७

५१ वही, भाग पचम पृष्ठ ४७६

होगे। हमारी दृष्टि मे बौद्ध साहित्य मे उल्लेखित नारद देव और ऋषिभाषित के देव नारद एक ही व्यक्ति रहे होंगे।

वैदिक एव हिन्दू परम्परा मे देवऋषि नारद के उल्लेख व्यापक रूप से मिलते है। ऋग्वेद[५२] के कुछ सूक्तों के रचयिता पर्वत नारद और अथर्ववेद[५३] के कुछ सूक्तों के रचयिता कण्व नारद माने गये है। इसी प्रकार सामवेद[५४] की परम्परा मे भी नारद का उल्लेख आता है। छादोग्य उपनिषद् मे नारद को विभिन्न विद्याओ का ज्ञाता कहा गया है।[५५] इसी उपनिषद् मे नारद और सनत्कुमार के सवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है। छादोग्य उपनिषद् के समान जैन आगम ज्ञाता-धर्मकथा और औपपातिक मे इन्हे चारो वेद और विभिन्न विद्याओ मे निष्णात कहा गया है। छादोग्य उपनिषद् मे नारद कहते है कि मै विविध विद्याओ का ज्ञाता होते हुए भी मन्त्रविद् हूँ, आत्मविद् नही। इससे ऐसा लगता है कि प्रथमत नारद बाह्य कर्मकाण्ड, शौच तथा विविध लौकिक एव चमत्कारी विद्याओ की साधना मे तत्पर रहे होगे, किन्तु आगे चलकर उनकी अध्यात्म मे रुचि जागृत हुई होगी। परिणामत· वे वैदिक परम्परा से श्रमण परम्परा की ओर आकृष्ट हुए होगे, फलत· श्रमण परम्परा मे भी उन्हे आदरपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। छादोग्य उपनिषद् के नारद-सनत्कुमार सवाद से इसकी पुष्टि होती है। छादोग्य उपनिषद् के अतिरिक्त नारद के उल्लेख नारदपरिव्राजकोपनिषद्[५६] एव नारदोपनिषद्[५७] आदि अनेक उपनिषदो मे मिलता है। गीता[५८] मे नारद को दिव्यविभूतियो मे माना गया है। महाभारत[५९] मे नारद और असित देवल के सवाद की सूचना भी उपलब्ध होती है। वहाँ इन्हे पर्वत का मामा भी बताया गया है। भागवत[६०] मे भी नारद के उल्लेख प्राप्त हैं। भागवत की अवतारों की एक सूची मे इन्हे ऋषियो की सृष्टि मे होने वाला विष्णु का तीसरा अवतार भी कहा गया है। जहाँ हिन्दू परम्परा नारद को विष्णु का अवतार कहती है, वहाँ बौद्ध परम्परा इन्हे गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती एक बुद्ध के रूप मे स्वीकार करती है, जबकि जैन परम्परा मे इन्हे भावी तीर्थङ्कर कहा गया है। यदि हम तीनो परम्परा मे उपलब्ध नारद सम्बन्धी विवरणों को देखे तो प्रथम तो

---

५२ ऋग्वेद

५३ अथर्ववेद

५४ सामवेद

५५ छान्दोग्योपनिषद् ७/१/१

५६ नारदपरिव्राजकोपनिषद् २, ६, १४, १५, ३३, ३७,

५७ नारदोपनिषद् ६

५८ देवर्षि नारदस्तथा—गीता १०/१३ तथा १०/२६

५९ शान्तिपर्व २७५/३ (गीता प्रेस)

६० भागवत १/३/८, १/५/३८, ३९

यह लगता है कि वस्तुत नारदो की कोई एक परम्परा रही है। जैन आगम औपपातिक सूत्र से यह ज्ञात होता है कि नारदीय परिव्राजको की एक विशिष्ट परम्परा अनेक शताब्दियो तक चलती रही है। नारदो की इस परम्परा मे ही ऋषिभाषित के देव नारद भी एक माने जा सकते हैं जो निश्चितरूप से बुद्ध, महावीर और पार्श्व के पूर्व अरिष्टनेमि के काल मे हुए होगे।

प्रस्तुत अध्याय मे जैन परम्परा मे स्वीकृत पाँच महाव्रतो को ही चार शौचो मे विभाजित किया गया है। इसमे विशेषता यह है कि ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही मे वर्गीकृत किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि ग्रन्थप्रणेता पर पार्श्वापत्य परम्परा के चातुर्याम की अवधारणा का प्रभाव है, क्योकि पार्श्व के चातुर्याम मे भी ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक ही वर्ग मे वर्गीकृत किया गया है।

२. वज्जीपुत्त (वात्सीपुत्र)

जैन परम्परा मे वज्जीपुत्त का उल्लेख केवल ऋषिभाषित मे पाया जाता है।[६१] किन्तु, बौद्ध परम्परा मे वज्जियपुत्त थेर का उल्लेख हमे अनेक स्थानो पर मिलता है।[६२] शुब्रिग और उपासक दोनो वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध करते है।[६३] बौद्ध परम्परा मे वज्जीपुत्तको का एक सम्प्रदाय ही था जो कुछ बातो मे सामान्य बौद्ध भिक्षुओ से मत-वैभिन्य रखता था। यद्यपि प्रो० सी० एस० उपासक ने ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त को बौद्ध परम्परा से सम्बद्ध मानने मे एक शका उपस्थित की है। उनके मतानुसार वज्जीपुत्त का सम्प्रदाय इस ऋषिभाषित ग्रन्थ की रचना की अपेक्षा कुछ परवर्त्ती है। वस्तुत बौद्ध परम्परा मे जिस वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय का उल्लेख है, वह ईसा पूर्व चौथी-पाँचवी शताब्दी में ही अस्तित्व मे आ गया था, अत· उनकी यह आशका समुचित प्रतीत नही होती है। फिर वज्जीपुत्त तो बुद्ध के समकालीन ही हैं।

पुन बौद्ध सघ मे वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय का आविर्भाव इस बात का भी सूचक है कि वज्जीपुत्त बौद्ध परम्परा मे एक प्रभावशाली आचार्य रहे होगे। और, इनकी शिष्य सम्पदा भी विपुल रही होगी तभी इनके नाम पर सम्प्रदाय बना। बौद्ध साहित्य से हमे यह भी ज्ञात होता है कि वज्जीपुत्त बुद्ध और महावीर के समकालीन थे। थेरगाथा अट्ठकथा मे इन्हे वैशाली के निवासी लिच्छवि राजकुमार कहा गया है तथा यह बताया गया है कि बुद्ध से ये इतने प्रभावित हुए कि बौद्ध परम्परा मे

---

६१ इसिभासियाइ अध्ययन २

६२ थेरगाथा अट्ठकथा भाग १ पृ० २०६, ३४८

६३ इसिभासियाइ Introduction page–4
[L D Institute of Indology, Ahmedabad 1974]

दीक्षित होकर वैशाली के जगलो मे अपनी साधना प्रारम्भ कर दी। जैन परम्परा मे विशेषरूप से ऋषिभाषित मे उन्हे स्थान देने का कारण यह भी हो सकता है कि ये भी महावीर की वश परम्परा अर्थात् लिच्छवि वश से सम्बन्धित थे।

बौद्ध परम्परा मे वज्जिपुत्तीय श्रमण सुविधावादी माने गये है। इन्होने बौद्ध सघ मे कुछ सुविधाओ की माग की थी यथा—भोजन के पश्चात् अल्पाहार करना, शृग मे नमक रखना, भिक्षा के लिये दो बार भी चले जाना, स्वर्ण-रजत मुद्रायें रखना आदि। वज्जिपुत्तीय सम्प्रदाय के कुछ उपनिकायो का भी उल्लेख बौद्ध साहित्य एव अभिलेखो से प्राप्त होता है। उपनिकाय निम्न है—

१ धर्मोत्तरीय निकाय—इसका उस समय पर्याप्त प्रचार-प्रसार था, किन्तु इनके सिद्धान्तो की हमे कोई जानकारी नही है।

२. भद्रयानिक निकाय—इस सम्बन्ध मे महावंश, दीपवश आदि ग्रन्थो मे विस्तृत उल्लेख मिलते हैं।

३ छन्नागारिक निकाय—इसका अर्थ है जो भिक्षु छन्न=छाये हुए, आगारिक=आवास मे रहने वाले अर्थात् वृक्ष, मूल, गुफा आदि स्थानो को छोडकर सघारामो मे रहकर साधना करते थे, वे छन्नागारिक कहलाते थे।

ऋषिभाषित मे उल्लिखित वज्जीपुत्त बौद्ध परम्परा मे उल्लिखित वज्जीपुत्त है। वे लिच्छवि वश से सम्बन्धित तथा बुद्ध और महावीर के समकालीन थे तथा बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी जीवित थे। पुन ऋषिभाषित मे जो इनका उपदेश है, उसकी बौद्ध धर्म दर्शन से कही भी असगति नही है।

जहा तक वज्जियपुत्त के उपदेशो का प्रश्न है ऋषिभाषित मे इनका उपदेश मुख्य रूप से कर्म-सिद्धान्त को स्पष्ट करता है। ये कहते है कि बीज और अकुर की भाति जन्म-मरण और दु ख की परम्परा भी चलती रही है। कर्म के मूल स्रोत के रूप मे इसमे मोह को बताया गया है। कर्म सम्बन्धी यह विचार धारा जैन और बौद्ध परम्पराओ मे सामान्य रूप से स्वीकृत है। वज्जीपुत्त के इन उपदेशो की समरूपता हमे उत्तराध्ययन के तीसवे अध्याय मे भी मिलती है। इस अध्याय मे प्रस्तुत विचारो की प्रामाणिकता का आधार यह है कि इसमे कर्म-सन्तति की चर्चा है जो बौद्ध परम्परा के सन्ततिवाद के प्रभाव को सूचित करती है। इस अध्याय को देखने से यह भी स्पष्ट होता है कि वज्जीपुत्त आचरण की अपेक्षा ज्ञान पर अधिक बल देते हैं। बौद्ध परम्परा मे वज्जिपुत्तीय (वात्सीपुत्रीय) सम्प्रदाय भी मुख्य रूप से आचरण के रूढ नियमो के विरुद्ध ज्ञानमार्ग और चित्तशुद्धि पर बल देता है।

मेरी दृष्टि मे यह निर्विवाद सत्य है कि ऋषिभाषित के वज्जियपुत्त अन्य कोई नही बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त थेर ही है।

वैदिक परम्परा मे वात्सीपुत्र का उल्लेख है जो कि प्राकृत वज्जीपुत्त का ही सस्कृत रूप है। बृहदारण्यक उपनिषद् की अन्तिम वश-सूची मे वात्सीपुत्र का नाम प्राप्त होता है। काण्व शाखा के अनुसार ये पाराशरीपुत्र के शिष्य और माध्यदिन शाखा के अनुसार ये माण्डवी पुत्र के शिष्य है।

वैदिक परम्परा मे इनके नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य विशेष विवरण उपलब्ध नही होता है, किन्तु इस आधार पर इतना अवश्य ज्ञात होता है कि ये औपनिषदिक काल के कोई ऋषि है। इस सदर्भ मे स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त, बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त और बृहदारण्यक उपनिषद् के वात्सीपुत्र ये तीनो एक ही व्यक्ति है अथवा भिन्न व्यक्ति है ? चूकि वैदिक परम्परा मे वात्सीपुत्र का दर्शन या चिन्तन अनुपलब्ध है, अतः इनकी ऋषिभाषित के वज्जियपुत्त के साथ एकरूपता स्थापित करना कठिन है। जब कि चिन्तन-साम्यता की दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त की ऋषिभाषित के वज्जीपुत्त से अधिक निकटता सिद्ध होती है। पुन बौद्ध परम्परा में वज्जिपुत्तियो का सम्प्रदाय होना भी यही सिद्ध करता है कि ये मूलत बौद्ध परम्परा के ही रहे होगे। किन्तु, अभी यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है कि बृहदारण्यक उपनिषद् के वात्सीपुत्र कौन थे ? चूंकि उपनिषदो मे अन्य किसी बौद्ध परम्परा के भिक्षु का नामोल्लेख नही है अतः बृहदारण्यक के वात्सीपुत्र और बौद्ध परम्परा के वज्जीपुत्त एक ही व्यक्ति रहे होगे यह कहना कठिन ही है। यदि ये बौद्ध परम्परा मे उल्लेखित सामान्य थेर होते तो यह सम्भावना हो सकती थी कि बौद्धो ने नारद आदि की भाति इन्हे भी अपनी परम्परा मे स्थान दे दिया होगा, किन्तु बौद्ध सघ मे इनकी स्थिति सम्प्रदाय के नेता के रूप मे है। फिर भी यह सम्भावना हो सकती है कि ये पूर्व मे औपनिषदिक ऋषियो की परम्परा से जुडे हो किन्तु बाद मे बुद्ध से प्रभावित होकर बौद्ध परम्परा से जुड गये हो। क्योकि, बौद्ध परम्परा मे इनका अरण्यवासी होकर रहना किसी भिन्न तथ्य का ही सूचक है। पुन बौद्ध सघ मे सर्व प्रथम इनकी शिष्य परम्परा का विरोध मे उठ खडा होना भी यही सूचित करता है कि इनकी परम्परा के सस्कार कुछ भिन्न ही थे। वैसे औपनिपदिक ऋषि परम्परा मे इनके नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य कुछ सूचना नही मिलना भी यही सूचित करता है कि ये बाद मे किसी अन्य धारा से जुड़ गये होगे।

३. असित देवल

असित देवल का उल्लेख हमे भारतीय चिन्तन की वैदिक, जैन एव बौद्ध तीनो धाराओ मे उपलब्ध होता है। देवल का धर्मसूत्र भी प्राचीन काल मे प्रचलित था, जिसके अनेक उद्धरण हमे परवर्ती काल के ग्रन्थो मे आज भी उपलब्ध होते है। इस आधार पर इतना तो सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि असित देवल मात्र पौराणिक पुरुष न होकर एक ऐतिहासिक व्यक्ति रहे होगे।

जैन परम्परा मे असित देवल का उल्लेख ऋषिभाषित[६४] और सूत्रकृताग[६५] मे उपलब्ध होता है। ऋषिभाषित मे उन्हे 'अर्हत् ऋषि' कहा गया है। उनका जो उपदेश ऋषिभाषित मे सकलित है वह हमारे सामने निम्न तथ्यो को प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम व्यक्ति को चतुर्गति रूप ससार से निवृत्त होकर अतुल, अबाध, शाश्वत स्थान अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। यह मुक्ति कैसे प्राप्त होती है ? इसकी चर्चा करते हुए बताया गया है कि सर्वकामनाओ, सर्व-आसक्तियो, सर्वराग और सर्वक्रिया-कलापो से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से विरत होकर तथा सब प्रकार से सवृत्त, उपरत, सयमी और प्रतिबुद्ध होकर ससार के सभी लेपो से अर्थात् बन्धन-कारक कर्मो से बचा जा सकता है तथा मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। इसके बाद ग्यारह गाथाओ मे यह बताया गया है कि किन-किन कर्मो को करने से प्राणी पाप कर्मो मे लिप्त होता है। अन्त मे यह कहा गया है कि सामान्य अग्नि को तो जल के द्वारा बुझाया जा सकता है किन्तु मोह-अग्नि दुर्निवार है। जो इस तथ्य को समझ लेता है वही जन्म-मरण को समाप्त कर सिद्धि को प्राप्त करता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि असित देवल निवृत्ति-मार्ग के उपदेशक थे। उनके नाम के साथ लगे हुए अर्हत् ऋषि विशेषण से भी यह बात पुष्ट होती है। सूत्रकृताग मे जो असित देवल को बीज वनस्पति एव सचित्त जल का उपभोग करते हुए सिद्धि को प्राप्त करने वाला कहा गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि ये मूलत निर्ग्रन्थ परम्परा से सम्बद्ध नही थे, किन्तु फिर भी इन्हे इस परम्परा मे पूर्व में सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त था, क्योकि निर्ग्रन्थ परम्परा के भिक्षु इनके और इसी प्रकार से नमि आदि अन्य ऋषियो के उदाहरण देकर ही सुविधावादी प्रवृत्तियो का समर्थन कर रहे थे।

सूत्रकृताग के टीकाकार शीलाक ने 'असिते दविले' पाठ के आधार पर असित और देवल ऐसे दो व्यक्तिओ की कल्पना कर ली, किन्तु ऋषिभाषित के आधार पर ही यह सिद्ध हो जाता है कि असित देवल दो व्यक्ति नही हैं, अपितु एक ही व्यक्ति है। इसिमण्डल[६६] मे इन्हे काम-वासना से निवृत्त होने वाला बताया गया है। ऋषिमण्डल वृत्ति जो लगभग १३-१४वी शदी की रचना है—इनका पूरा जीवन दिया गया है। उसमे कहा गया है कि ये अपनी पुत्री अर्घशकासा के प्रति ही कामासक्त हो गये, किन्तु प्रबुद्ध हो वे वासना-निवृत्त हो गये। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ये मूलत तापस परम्परा से ही सम्बन्धित थे।

---

६४ ऋषिभाषित अध्ययन ३

६५ सूत्रकृताङ्ग १।१।३।४-३

६६ भविअव्व खलु भो सव्व-कामविरएण एअमज्झयण।
मासित्तु देवलाखुअ—रायरिसी सिवय पत्तो ॥

—ऋषिमण्डल गाथां १२४

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य मे भी असित देवल का उल्लेख एक ऋषि के रूप मे हुआ है। मज्झिमनिकाय का आसलायन सुत्त[६७] उनके सम्बन्ध मे हमे कुछ विवरण देता है। उसमे कथा यह है कि एक समय सात ब्राह्मण विद्वान जगल मे निवास कर रहे थे। उनकी अवधारणा यह थी कि ब्राह्मण ही सर्वोच्च जाति है और वही ब्रह्मा के वास्तविक पुत्र है। असित देवल ने जब इस बात का विरोध किया तब ब्राह्मणो ने उसे शाप दिया, किन्तु ब्राह्मणो का शाप असित देवल को प्रभावित नही कर सका। अन्त मे ब्राह्मणो ने अपनी तपस्या को निरर्थक जानकर असित देवल से अपने प्रश्नो का समाधान चाहा। असित ने उनके प्रश्नो का समाधान किया और अन्त मे वे ब्राह्मण असित के अनुयायी हो गये।

बुद्धघोष ने महावस मे असित देवल का उल्लेख बोधिसत्त्व के रूप मे किया है (महावश II 785)। इसके अतिरिक्त इन्द्रियजातक[६८] मे भी देवल का काल-देवल के रूप मे उल्लेख है। इस जातक कथा मे नारद को असित देवल का छोटा भाई बताया गया है तथा उनके द्वारा उसे उपदेशित किये जाने का भी उल्लेख है। इस प्रकार बौद्ध परम्परा मे भी असित देवल एक सन्यासी के रूप मे हमारे सामने आते है और वे अपने लघु भ्राता नारद को भी ससार के प्रेम-पाश से मुक्त कराने का प्रयत्न करते है।

हिन्दू परम्परा मे हम महाभारत और गीता मे असित देवल के उल्लेख पाते है। महाभारत के आदिपर्व[६९], सभापर्व[७०], शल्यपर्व[७१], शान्तिपर्व[७२] और अनुशासनपर्व[७३] मे असित देवल का उल्लेख हुआ है। शल्यपर्व मे असित देवल को प्रारम्भ मे गृहस्थ धर्म का आश्रय लेकर साधना करने वाला बताया गया है। जैन स्रोतो से भी इसकी पुष्टि होती है। उसमे यह भी बताया गया है कि असित देवल समभाव से युक्त तथा महातपस्वी थे। इस अध्याय मे असित देवल और जेगीशव्य की चर्चा का भी उल्लेख है। इस अध्याय मे एक बात जो सबसे महत्वपूर्ण है, वह यह है कि वे जेगीशव्य के उपदेश से प्रभावित होकर गृहस्थ धर्म का त्याग कर मोक्ष-धर्म अर्थात् सँन्यास धर्म का पालन करने लगे।

शान्तिपर्व मे भी जेगीशव्य और असित देवल को समत्व बुद्धि का उपदेश देते हुए प्रस्तुत किया गया है। इन तथ्यो से इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि असित

---

६७ मज्झिमनिकाय खण्ड २ पृष्ठ १५४ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)
६८ इन्द्रियजातक, पृष्ठ ४६३ (गीता प्रेस सस्करण)
६९ आदि पर्व १/१०७, ५३/८, वही
७० सभापर्व ५३/१०, ७८/१५, वही
७१ शल्यपर्व ५०, वही
७2 शान्तिपर्व २२९/५, २७५/४–३९ वही
७३ अनुशासनपर्व १८/१७–१८ वही

देवल प्रारम्भ मे गृहस्थ-साधक के रूप मे तपस्यारत थे, परन्तु अन्त मे उन्होने सन्यास मार्ग को ग्रहण कर समत्व-बुद्धि की साधना की। शान्तिपर्व के ही एक अन्य अध्याय (२७५) मे नारद और असित देवल का सवाद है। प्रस्तुत अध्याय मे देवल पचमहाभूत, काल, भाव और अभाव इन आठ नित्य तत्त्व की स्थापना करते है और इनसे ही जगत की उत्पत्ति बताते है। इसी अध्याय मे उन्होने नारद को इन्द्रियो के सयम का भी उपदेश दिया है। इससे ऐसा लगता है कि बौद्ध परम्परा मे असित देवल और नारद को सम्बन्धित करने का जो प्रयत्न है, उसमे आशिक सत्यता तो अवश्य है।

इसके अतिरिक्त गीता[७४], माठरवृत्ति[७५], ब्रह्मसूत्र भाष्य और याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरादित्य टीका मे भी देवल के उल्लेख हैं। यद्यपि महाभारत मे कही-कही देवल को एक पौराणिक पुरुष के रूप मे प्रस्तुत किया गया है, परन्तु तीनो परम्पराओ मे उनके उल्लेख होने से इतना तो निश्चित होता है कि देवल एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। यद्यपि यह प्रश्न अभी अवशेष रहता है कि यह कितने प्राचीन ऋषि है। इस सन्दर्भ मे दो-तीन बाते विचारणीय हैं। महाभारत मे तथा गीता मे इन्हे नारद का समकालीन प्रस्तुत किया गया है। बौद्ध परम्परा की जातक कथा मे भी इन्हे नारद को उपदेश देने वाला कहा गया है। ऋषिभाषित मे देव नारद और वज्जियपुत्त के बाद असित देवल का अध्याय आता है। इन सबसे यह अवश्य सिद्ध होता है कि असित देवल भी महाभारत काल के ऋषि है। जातक कथा मे इन्हे गौतम बुद्ध के काल मे अन्य जन्म ग्रहण करने वाला बताया गया है, जो इनकी गौतम बुद्ध से प्राचीनता को सिद्ध करता है। यद्यपि इन सब आधारो पर इनका निश्चित समय बता पाना कठिन है, पर इतना अवश्य है कि ये बुद्ध एव महावीर के पूर्ववर्ती तथा महाभारत काल के समवर्ती ऋषि रहे होगे जिन्हे पर्याप्त समय तक लोकप्रियता प्राप्त होती रही और सम्भवत उनकी अपनी कोई परम्परा भी चलती रही। अन्यथा जैन एव बौद्ध ग्रन्थो मे इनका जो उल्लेख उपलब्ध है, वह हमे नही प्राप्त होता।

४. अंगिरस भारद्वाज

ऋषिभाषित के चतुर्थ अध्याय मे अगिरस भारद्वाज के उपदेश सकलित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त अगिरस का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[७६] आवश्यक

---

७४ गीता (गोरखपुर सस्करण) १०/१३

७५ माठरवृति ७१ देखे—साख्यदर्शन और विज्ञान भिक्षु—डॉ० उर्मिला चतुर्वेदी पृष्ठ २५

७६ आवश्यक निर्युक्ति गाथा १२८८ (विजयदानसूरि जैन सिरीज सूरत)

भाष्य[७७], आवश्यक चूर्णि[७८] और ऋषिमण्डल[७९] (इसिमण्डल) मे भी मिलता है। वहाँ इन्हे कौशिक नामक उपाध्याय का तापस शिष्य कहा गया है। अन्य अध्यायो की अपेक्षा ऋषिभाषित का यह अध्याय पर्याप्त विस्तृत है। इसमे गद्य भाग के अतिरिक्त २४ गाथायें भी है। इस अध्याय मे सर्वप्रथम मनुष्य के छद्मपूर्ण जीवन का चित्रण है। इसमे कहा गया है कि मनुष्य-हृदय को जान पाना अत्यन्त कठिन है, क्योकि उसके मन के भीतर अन्य बाते होती है, वह अन्य रूप से कर्म करता है और अन्य रूप से भाषण करता है। साथ ही इसमे यह भी बताया गया है कि अपने अच्छे और बुरे का ज्ञाता स्वय ही है। जो व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियो का निरीक्षण करता है उसके पाप कर्म निरुद्ध हो जाते है। अन्तर और बाह्य के द्वैत की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि अनेक बार व्यक्ति आन्तरिक रूप से कल्याण का या शुभ का कर्ता होता है जबकि वह बाहर से पाप करने वाला दिखाई देता है। इसके विपरीत अनेक बार पापी व्यक्ति भी बाहर से शीलवान जैसा आचरण करने वाला देखा जाता है। अनेक स्थितियो मे लोग चोर की प्रशसा करते है और मुनि की निन्दा करते है। केवल बाह्य कार्यो को देखकर शब्दो मे किसी व्यक्ति को चोर या साधु कहने मात्र से वह चोर या साधु नही होता। वस्तुत यह तो व्यक्ति स्वय ही जानता है कि वह अच्छा है या बुरा। इस प्रकार इस सम्पूर्ण अध्ययन मे मुख्य रूप से अन्तर और बाह्य की द्विविधा का चित्रण उपलब्ध है। मनुष्य मे यह अन्दर और बाहर का द्वैत ऐसा है कि उसे समझ पाना कठिन है। व्यक्ति की साधुता या दुराचारिता का आधार बाहर की प्रशसा या निन्दा नही, लेकिन अन्तर की मनोवृत्ति ही है।

बौद्ध परम्परा मे अगिरस भारद्वाज का उल्लेख अनेक बार एक वैदिक ऋषि के रूप मे हुआ है। मज्झिमनिकाय[८०] मे अगिरस भारद्वाज नाम के प्रत्येकबुद्ध का उल्लेख है। जातक ४/९९ मे ब्रह्मलोक को प्राप्त करने वाले जिन ११ सन्यासियो का उल्लेख है उनमे एक अगिरस भारद्वाज भी है। इसके अतिरिक्त सुत्तनिपात[८१] मे कृषि भारद्वाज, सुन्दरिक भारद्वाज का उल्लेख है, किन्तु भारद्वाज एक गोत्र है। गोत्र की समानता होने पर नाम की भिन्नता के कारण ये दोनो व्यक्ति अगिरस भारद्वाज से भिन्न माने जाने चाहिए। सुत्तनिपात के बासेट्ठ सुत्त मे भी वशिष्ठ और भारद्वाज के बीच इस प्रश्न को लेकर चर्चा उठती है कि व्यक्ति अपने शील और सदाचार के

---

७७ आवश्यक भाष्य पृष्ठ ७८२ (विजय दान सूरि जैन सिरीज, सूरत)

७८ आवश्यक चूर्णि भाग २ पृष्ठ ७९ व १९३

७९ ऋषिमण्डल गाथा १२३, द्रष्टव्य वृत्ति पृष्ठ १९० (जैन विद्याशाला दोसीवाडा पोल अहमदाबाद १९२५)

८० मज्झिमनिकाय खण्ड २ पृष्ठ १९९, २०० (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

८१ सुत्तनिपात प्रथम खण्ड पृष्ठ १९६ (पा० टे० सो०)

आधार पर ब्राह्मण होता है या जन्म के आधार पर ? जब हम सुत्तनिपात के इस बासेट्ठ सुत्त मे हुई चर्चा की और ऋषिभाषित के अगिरस भारद्वाज के उपदेशो की तुलना करते है, तो एक सबसे महत्वपूर्ण बात परिलक्षित होती है, वह यह कि दोनो ही व्यक्ति की आन्तरिक पवित्रता को ही महत्वपूर्ण मानते प्रतीत होते है, जन्म या बाह्य आचरण को नही। इस प्रकार धर्म और साधना के क्षेत्र मे अन्तर और मनोभावो को प्रमुखता देने की बात दोनो मे ही प्रमुख रूप से पायी जाती है।

अगिरस के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण हमे थेरगाथा की अट्ठकथा[८२] मे मिलता है। सर्वप्रथम चूलपथक थेरगाथा मे अगिरस को आदित्य के समान तपस्वी बताया गया है। वेणिथेर गाथा मे उन्हे महामुनि कहा गया है तथा उनकी तुलना चन्द्रमा से की गयी है। बौद्ध परम्परा मे ऐतिहासिक दृष्टि से नवसे महत्वपूर्ण बात यह मिली कि उसमे अगिरस की इस चर्चा के प्रसग मे चम्पानगर का उल्लेख आया है। जैन परम्परा मे इसिमण्डल वृत्ति एव आवश्यक चूर्णि मे इन्हे चम्पानगर के कौशिक उपाध्याय का शिष्य कहा गया है। सम्पूर्ण पालि साहित्य मे लगभग ७ अगिरसो का उल्लेख प्राप्त होता है। इन सात अगिरसो मे ऋषिभाषित के उल्लेखित अगिरस कौन है ? यह विचारणीय है। सुत्तनिपात मे जिन १० ऋषियो के साथ अगिरस का उल्लेख हुआ है सम्भवत वे ही ऋषिभाषित के अगिरस है। मेरी दृष्टि मे छान्दोग्य उपनिषद् के अगिरस और सुत्तनिपात के अगिरस तथा जैन परम्परा के ऋषिभाषित, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यक चूर्णि के अगिरस एक ही व्यक्ति है, जिनके कथानक को तीनो परम्पराओ ने अपने-अपने ढग से प्रस्तुत किया है। प० कैलाशचन्द्र जी ने जैन साहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका मे छान्दोग्य उपनिषद् के देवकी पुत्र कृष्ण के उपदेशक अगिरस को अरिष्टनेमि मानने का प्रयास किया है, किन्तु मेरी दृष्टि मे यह एक क्लिष्ट कल्पना ही है। इतना निश्चित सत्य है कि अगिरस, कृष्ण और अरिष्टनेमि के समकालीन तथा बुद्ध, महावीर और पार्श्व के पूर्ववर्ती श्रमण परम्परा के औपनिषदिक काल के ऋषि है।

वैदिक परम्परा मे अगिरस का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद[८३] मे प्राप्त होता है। उसके पश्चात् छान्दोग्य उपनिषद[८४] मे घोर अगिरस के नाम से इनका उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ इनको देवकी पुत्र कृष्ण का उपदेशक बताया गया है। छान्दोग्य के अतिरिक्त महाभारत मे अगिरा नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है। इनके आठ पुत्रो मे एक पुत्र का नाम घोर था। इससे ऐसा लगता है कि छान्दोग्य के घोर अगिरस, महाभारत[८५] मे उल्लिखित अगिरा ऋषि के पुत्र घोर होगे। क्योकि, पुत्र

---

८२ थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृष्ठ ५०३ (पाली टेक्स्ट सोसाइटी)

८३ ऋग्वेद १/४५/३, २/१३६/६, ३/११/७

८४ छान्दोग्य० १/२/१०

८५ आदिपर्व १२२/५१

के नाम के साथ पिता के नाम का उल्लेख भारत मे प्राचीनकाल से होता रहा है। पुन अगिरस यह नाम भी अगिरा के पुत्र का ही सूचक है।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप मे हम यही कह सकते हैं कि ऋषिभाषित के अगिरस भारद्वाज, छान्दोग्य उपनिषद् के घोर अगिरस और सुत्तनिपात के अगिरस भारद्वाज एक ही व्यक्ति है, जो एक ऋषि के रूप मे सुविख्यात रहे है और तीनो ही परम्पराओ ने अपने-अपने ढग से इन्हे स्वीकार कर लिया है।

५. पुष्पशालपुत्र

ऋषिभाषित के पञ्चम अध्याय मे पुष्पशाल पुत्र के उपदेशो का सङ्कलन है। ऋषिभाषित [८६] के अतिरिक्त पुष्पशालपुत्र का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[८७] विशेषावश्यक भाष्य,[८८] और आवश्यक चूर्णि[८९] मे भी मिलता है। आचाराग की शीलाक कृत टीका[९०] मे भी पुष्पशाल का उल्लेख आया है। आवश्यक चूर्णि मे भी पुष्पशाल के दो उल्लेख मिलते है। इसमे एक पुष्पशाल को गोवर ग्राम का और दूसरे को वसन्तपुर का निवासी बताया गया है। वसन्तपुर निवासी पुष्पशाल का ऋषिभाषित के पुष्पशालपुत्र से कोई सम्बन्ध नही है। उसे एक सगीतज्ञ बताया गया है, किन्तु गोवर ग्राम निवासी पुष्पशालपुत्र वही है जिनका उल्लेख ऋषिभाषित मे है। इस समानता का कारण यह भी है कि आवश्यक चूर्णि मे गोबर ग्राम निवासी पुष्पशालपुत्र को सेवा-धर्म प्रधान बताया गया है। ऋषिभाषित में भी वे विनय को प्रधानता देते हुए प्रतीत होते है। अत. दोनो एक हो सकते है। दोनो को एक मानने मे मात्र आपत्ति यह हो सकती है कि गोबर ग्राम वासी पुष्पशालपुत्र महावीर के समकालीन बताये गये हैं जबकि ऋषिभाषित की सग्रहणी गाथा मे उल्लिखित पुष्पशालपुत्र को अरिष्टनेमि के तीर्थ का बताती है। किन्तु, सग्रहणी गाथा काल-निर्णय के सन्दर्भ मे प्रामाणिक नही लगती, क्योकि उसमे मखलिपुत्र-गोशालक को भी अरिष्टनेमि के तीर्थ का बताया गया है। जबकि वे वस्तुत महावीर और बुद्ध के समकालीन है।

आवश्यक चूर्णि मे उपलब्ध विवरण और ऋषिभाषित मे उल्लिखित पुष्पशाल के उपदेशो के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे विनय

---

८६ ऋषिभाषित ५वा अध्ययन

८७ आवश्यक निर्युक्ति पृष्ठ ३९८ (आगमोदय समिति, बम्बई १९१६–१७)

८८ विशेषावश्यक भाष्य पृष्ठ ७८७ (ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम १९३६)

८९ आवश्यकचूर्णि भाग १, पृष्ठ ५२९–३० (वही)

९०, आचाराग शीलाक वृत्ति पृष्ठ १५४ (आगमोदय समिति, बम्बई १९१६)

को प्रधानता देने वाले विचारक है। बुद्ध और महावीर के युग मे विनयवादियो की एक परम्परा थी। मेरी दृष्टि मे पुष्पशालपुत्र उसी से सम्बन्धित एक प्रभावशाली आचार्य रहे होगे। ऋषिभाषित मे उनके उपदेशो मे मुख्य रूप से प्राणातिपात, असत्य वचन, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा क्रोध, मान आदि पाप-कर्मो से दूर होने का निर्देश मिलता है। वे कहते है कि क्रोध, मान आदि से रहित विनम्र आत्मा शास्त्रानुसार आचरण करता हुआ आत्मपर्यायो का ज्ञाता होता है, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करता है। इस प्रकार इनके चिन्तन मे पाप-निवृत्ति और विनम्रता ही प्रमुख प्रतीत होती है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे भी हमे पुष्पस्थविर (फुस्सथेर) का उल्लेख मिलता है। थेरगाथा की अट्ठकथा[६१] मे तथा अपदान मे इनके उपदेशो का विस्तार से विवरण दिया गया है। पालि साहित्य मे उपलब्ध इनके उपदेश मे मुख्य रूप से भविष्य मे होने वाले भिक्षु-भिक्षुणियो की पाप-प्रवृत्तियो का निर्देश किया गया है और इस प्रकार ये शास्त्रानुकूल सदाचार के पालन पर अधिक बल देते हुए प्रतीत होते है। यह बात सामान्य रूप से ऋषिभाषित मे भी उपलब्ध होती है। फिर भी सुनिश्चित रूप से यह कह पाना कि पुष्पशालपुत्र पालि साहित्य के पुष्पस्थविर ही हैं, कठिन है। एक सकेत जो हमे बौद्ध साहित्य मे मिलता है वह यह कि ये पण्डर भिक्षु थे। पण्डर भिक्षुओ का उल्लेख हमे जैन और बौद्ध दोनो ही स्रोतो से प्राप्त होता है। सम्भव है कि पुष्पशालपुत्र पण्डर भिक्षुओ की परम्परा के रहे हो, और वह परम्परा विनयवादियो की परम्परा रही हो। ऋषिभाषित मे उनके उपदेश का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—"अजलि पूर्वक पृथ्वी पर मस्तक रखकर उन्होने समस्त शयनासन तथा भोजनपान का त्याग कर दिया। सम्भावना यही लगती है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से भिन्न किसी अन्य परम्परा के ऋषि थे, जिन्होने अन्त मे आमरण अनशन करके शरीर त्यागा होगा, किन्तु विस्तृत जानकारी के अभाव मे अधिक कुछ कह पाना सम्भव नही है। वैदिक परम्परा मे इनके सम्बन्ध मे हमे कोई जानकारी उपलब्ध नही हो सकी।

६. वल्कलचीरी

ऋषिभाषित[६२] के षष्ठ अध्याय मे वल्कलचीरी के उपदेशो का सकलन है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त वल्कलचीरी का उल्लेख हमे औपपातिक,[६३] भगवती

---

६१ थेरगाथा अट्ठकथा (खण्ड २) पृष्ठ ८२

६२. ऋषिभाषित ६वा अध्ययन

६३ औपपातिक अनु० ३८ (आगमोदय समिति बम्बई, १९१६)

सूत्र,[६४] आवश्यक चूर्णि[६५] तथा ऋषिमण्डल[६६] मे भी मिलता है। वल्कलचीरी की कथा जैन परम्परा मे एक प्रसिद्ध कथा है। आवश्यक चूर्णि और ऋषिमण्डल वृत्ति मे यह कथा उपलब्ध है। आवश्यक चूर्णि के निर्देशानुसार यह कथा वसुदेवहिडी मे भी उपलब्ध है।[६७]

आवश्यक चूर्णि मे एव अन्यत्र उपलब्ध कथा के अनुसार ये पोतनपुर निवासी राजा सोमचन्द्र के पुत्र तथा प्रसन्नचन्द्र के भाई बताये गये है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का भाई होने के कारण इन्हे महावीर का समसामयिक माना जा सकता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की कथा जैन परम्परा मे प्रसिद्ध ही है। आवश्यक चूर्णि मे इन की कथा भी उपलब्ध होती है। इन कथा-स्रोतो से इतनी सूचना अवश्य मिलती है कि इनके पिता दिशाप्रोषक तापसी साधना करते थे। दिशाप्रोषक तापसो का उल्लेख औपपातिक आदि अन्य जैन ग्रन्थो मे भी मिलता है। अपने पिता के सानिध्य मे जगल मे ही पलने के कारण इन्हे स्त्री-पुरुष, अश्व और मृग का भेद भी ज्ञात नही था। इन्हे अपने पिता के साधना-उपकरणो का प्रमार्जन करते हुए ज्ञान प्राप्त हुआ।

ऋषिभाषित मे उपलब्ध वल्कलचीरी के उपदेशो से लगता है कि इनके मन मे स्त्रियो के प्रति विशेष रूप से वैराग्य भाव था। ब्रह्मचर्य की शिक्षा इनके उपदेश का मूल सारतत्त्व है। ये कहते है कि, हे पुरुष ! स्त्रीवृन्द के प्रति अत्यन्त आसक्त होकर अपना ही शत्रु मत बन। तुमसे जितना सम्भव हो (कामवासना से) युद्धकर। क्योकि, इनसे तू जितना दूर रहेगा उतना ही उपशान्त बनेगा।

इस समग्र विवरण से ऐसा लगता है कि वल्कलचीरी ब्रह्मचर्य की साधना पर विशेष रूप से बल देने वाले ऋषि रहे होगे। जैन परम्परा मे उनके लिए प्रयुक्त भगवन् शब्द भी उनकी महत्ता को स्पष्ट करता है। वल्कलचीरी नाम इस तथ्य को भी प्रकट करता है कि वे वल्कल के वस्त्र धारण करते होगे।

जैन परम्परा के अतिरिक्त वल्कलचीरी का उल्लेख हमे बौद्ध परम्परा[६८] मे भी मिलता है। यहाँ उन्हे वल्कली थेर कहा गया है तथा उन्हे तीनो वेदो का ज्ञाता

---

६४ भगवती सूत्र अनु० ४१८ (आगम सुधासिन्धु १९७७)

६५ आवश्यकचूर्णि भाग १ पृ ४५५-४६०

६६ ऋषिमण्डल वृत्ति ६४

६७ एवमादि जहा वसुदेवहिंडीए एत्थ पुण वक्कलचीरिणो अहिगारो ... ।
आवश्यक चूर्णि भाग १, पृ० ४६०

पिउतावसउवगरण पमज्जयतस्स केवल नाण ।
उप्पन्न जस्स कए वक्कलचीरिस्स तस्स नमो ।

६८ थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृ ४२० (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

और श्रावस्ती निवासी एक ब्राह्मण बताया गया है । पालि साहित्य मे उपलब्ध उल्लेखो के अनुसार वल्कली बौद्ध सघ मे दीक्षित होते है, फिर उन्हे सघ से निष्कासित कर दिया जाता है । गृध्रकूट पर्वत पर उनके साधना करने के उल्लेख मिलते है । पाली साहित्य मे बुद्ध उनकी श्रद्धा की प्रशसा करते है । वैदिक परम्परा मे वल्कलचीरी का उल्लेख हमे नही मिलता है । चाहे बौद्ध परम्परा ने इन्हे अपने से जोडने का प्रयत्न किया हो, किन्तु मेरी दृष्टि मे ये तापस परम्परा के ऋषि रहे होगे ।

७. कुम्मापुत्त

ऋषिभाषित के सातवे अध्याय मे कुम्मापुत्त (कूर्मापुत्र) ऋषि के उपदेशो का सकलन है । जैन परम्परा मे ऋषिभाषित[६६] के साथ-साथ कुम्मापुत्त का उल्लेख विशेषावश्यक भाष्य,[१००] आवश्यकचूर्णि[१०१] औपपातिक की टीका[१०२] तथा हरिभद्र की चकना विशेषणवती[१०३] मे भी उपलब्ध होता है । इसिमडल[१०४] (ऋषिमण्डल) मे भी इनका उल्लेख है । किन्तु, इन ग्रन्थो मे इनका विस्तृत जीवन-वृत्त नही मिलता है । इनका विस्तृत जीवन-वृत्त तो ऋषिमडल की वृत्ति तथा कुम्मापुत्तचरियम् मे मिलता है, किन्तु ये दोनो रचनाये बारहवी शताब्दी के पश्चात् की ही है । प्राचीन जैन साहित्य मे इन्हे बौने या वामन व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया गया है और इनके शरीर की ऊचाई मात्र दो हाथ (लगभग 3 फीट) बतायी गयी है । इन्होने गृहस्थावस्था मे ही कैवल्य प्राप्त कर लिया था । इन उल्लेखो से इतना निश्चित होता है कि ये प्राचीन श्रमण परम्परा के कोई ऋषि रहे हैं ।

ऋषिभाषित मे वे निराकाक्ष या आसक्तिहीन होने का उपदेश देते हैं । उनके उपदेश मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे आकाक्षा को ही दु ख का कारण मानते है और कहते है कि यदि एक आलसी व्यक्ति भी निराकाक्ष होकर सुखी हो जाता है तो फिर एक प्रवुद्ध प्रयत्नशील साधक के लिए निराकाक्ष होकर सुखी होने मे कोई आपत्ति ही नही हो सकती । वस्तुत उनका यह उपदेश गीता के अनासक्त योग के उपदेश के ही समान है ।

---

६६ ऋषिभाषित ७ वाँ अध्ययन

१०० विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३१६६

१०१. आवश्यक चूर्णि भाग १ पृ ५८३

१०२ औपपातिक वृत्ति पृ ११४

१०३ विशेषणवती—हरिभद्र गाथा ३८, ४१–४४

१०४ ऋषिमण्डल उत्तरार्द्ध पृ १९३

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे भी हमे कुम्मापुत्त थेर का उल्लेख उपलब्ध होता है । थेर गाथा[१०५] और अपदान[१०६] की अट्ठकथा में कुम्मापुत्त का कथानक विस्तार से उपलब्ध होता है । इन्होने अपने पूर्वजन्म मे विप्पसि बुद्ध को पैरो पर मर्दन करने के लिए तेल प्रदान किया था । उसी पुण्य के फलस्वरूप वे अवन्ति राष्ट्र के वेलुत्कण्टक नगर मे किसी गृहपति के कुल मे उत्पन्न हुए । उनकी माता का नाम कुम्मा होने से उन्हे कूर्मपुत्र कहा जाता है । ये सारिपुत्त का उपदेश सुनकर प्रव्रजित हुए थे और इन्हे कर्मस्थान के सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए विपश्चना के द्वारा अर्हत् पद प्राप्त हुआ । थेरगाथा मे कुम्मापुत्त सायथेर का भी उल्लेख मिलता है । ये वस्तुत कुम्मापुत्त के सहायक या निकटस्थ व्यक्ति थे, अत कुम्मापुत्त से भिन्न हैं जैन और बौद्ध दोनो परम्पराओ मे इस सम्वन्ध मे मतैक्य है कि अपनी माता के नाम पर ही इनका नाम कुम्मापुत्त प्रसिद्ध हुआ था । इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि इनके उपदेशो का सारतत्त्व निष्कामता और मनोभावो की शुद्धि था । सम्भवत. ये महावीर और बुद्ध के सम-कालिक अथवा उनसे कुछ पूर्ववर्ती रहे होगे । जहाँ तक वैदिक परम्परा का प्रश्न है हमे उसमे कुम्मापुत्त के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख उपलब्ध नही हुआ है ।

८. केतलीपुत्त

ऋषिभाषित के आठवे अध्याय मे केतलीपुत्र के उपदेशो का सकलन है । केतलीपुत्त के सम्वन्ध मे हमे ऋषिभाषित[१०७] के अतिरिक्त अन्यत्र कही से कोई भी सूचना प्राप्त नही होती है । अन्य किसी जैन आगम ग्रन्थ मे अथवा परवर्ती कथा-ग्रन्थो मे भी इनका उल्लेख नही प्राप्त होता । बौद्ध और वैदिक परम्पराये भी इनके सम्वन्ध मे मौन है । अत ये कौन थे ? यह कह पाना कठिन है ।

केतलीपुत्र के सक्षिप्त उपदेश के अतिरिक्त ऋषिभाषित मे हमे उनके सम्वन्ध मे अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नही होती है । ऋषिभाषित का दसवा अध्याय तेतलीपुत्त से सम्बन्धित है । तेतलीपुत्त का उल्लेख ज्ञाता, अनुत्तरोपपातिक, आवश्यक चूर्णि, इसिमण्डल तथा उसकी वृत्ति मे मिलता है । यह भी सभव है कि उच्चारण भेद के कारण एक ही व्यक्ति के दोनो नाम प्रचलित रहे हो और इसी आधार पर इन्हे दो स्वतन्त्र व्यक्ति मान लिया गया हो । यद्यपि निश्चित प्रमाणो के अभाव के कारण इस सम्बन्ध मे अधिक कुछ कह पाना कठिन है । ऋषिभाषित मे केतलीपुत्र का उपदेश यह है कि व्यक्ति आर (ससार) मे दो गुणो

---

१०५ थेरगाथा अट्ठकथा खण्ड १ पृष्ठ १०० (पालिटेक्स्ट सोसाइटी)

१०६ अपादान अट्ठकथा खण्ड २ पृष्ठ ४५६

१०७ ऋषिभाषित आठवाँ अध्ययन

से और पार (निर्वाण) मे एक गुण से युक्त होता है, अत व्यक्ति को रेशम के कीडे की भाति अपने वन्धन को तोडकर मुक्ति प्राप्त कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत अध्याय मे ससार के लिए 'आर' और मुक्ति के लिए 'पार' शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह हमे आचाराग और सूत्रकृताग मे भी उपलब्ध होता है। इससे इस उपदेश की प्राचीनता सिद्ध होती है। आर (ससार) मे दो गुण और पार (मुक्ति) मे एक गुण रहता है। इसकी व्याख्या अनेक दृष्टि से की जा सकती है। यथा–ससार मे ज्ञान कौर कर्म (चारित्र) दो गुण होते है जबकि मुक्ति मे ज्ञान नामक एक ही गुण होता है अथवा ससार मे राग और द्वेष दो गुण होते है जबकि मुक्ति मे वीतरागता का एक ही गुण होता है। उनके इस उपदेश से ऐसा लगता है कि ये उस युग मे कोई रहस्यवादी साधक रहे होगे। विशेष जानकारी के अभाव मे इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे कुछ भी कहना कठिन है।

९. महाकाश्यप

ऋपिभापित[१०८] के नवम अध्वाय मे महाकाश्यप के उपदेशो का सकलन है। भारत मे काश्यप एक प्रसिद्ध गोत्र रहा है। महावीर और ऋपभ को भी काश्यप-गोत्रीय वताया गया है। मात्र यही नही, सूत्रकृताग[१०९] मे तो महावीर को "वीरेण कासवेण महेसिना" के रूप मे सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार भगवती सूत्र[११०] मे पार्श्व की परम्परा के एक काश्यप नामक स्थविर का भी उल्लेख है। अत यह महाकाश्यप कौन है ? यह निर्णय करना कठिन है। उत्तराध्ययन चूर्णि[१११] मे कपिल व्राह्मण के पिता को भी काश्यप कहा गया है। इसी प्रकार अन्त-कृत्दशा[११२] मे काश्यप गाथापति का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु, मेरी दृष्टि मे इन मे से किसी के भी सम्बन्ध ऋषिभाषित के महाकाश्यप से नही है। काश्यप के साथ लगा 'महा' विशेपण इस वात को सूचित करता है कि ये कोई विशिष्ट व्यक्ति रहे होगे।

वौद्ध परम्परा[११३] मे हमे एक विशिष्ट भिक्षु के रूप मे महाकाश्यप का उल्लेख मिलता है। इन्हे वुद्ध का अग्रगण्य शिष्य कहा गया है। अत यह सम्भव है कि ऋपिभापित के महाकाश्यप वौद्ध परम्परा के महाकाश्यप हो।

---

१०८ ऋपिभापित नवा अध्ययन
१०९ सूत्रकृताग १ २ २७
११० भगवती सूत्र ५५०
१११ उत्तराध्ययन चूर्णि पृ १६८
११२ अन्तकृद्दशा सूत्र १२
११३ अगुत्तरनिकाय खण्ड १ पृष्ठ २३ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

हमारी इस सम्भावना को इस आधार पर भी पुष्ट किया जा सकता है कि बौद्ध परम्परा के अन्य दो भिक्षु वज्जीपुत्त और सारिपुत्त का उल्लेख भी ऋषिभाषित मे उपलब्ध है। अत यह माना जा सकता है कि ऋषिभाषित के महाकाश्यप बौद्ध परम्परा के महाकाश्यप ही है।

ऋषिभाषित मे महाकाश्यप के सकलित उपदेशो से इस बात की पुष्टि होती है कि वे बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित ऋषि है, क्योकि उनके उपदेशों मे एक ओर सततिवाद की चर्चा है, तो दूसरी ओर निर्वाण की उपमा दीपक के शान्त होने से दी गयी है। ये दोनो तथ्य बौद्ध परम्परा मे सुस्पष्ट रूप से प्रचलित रहे है।

महाभारत[११४] मे कश्यप नाम के एक प्रसिद्ध मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण का उल्लेख मिलता है जो परीक्षित के प्राण बचाने के लिए आ रहे थे, किन्तु इनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के महाकाश्यप से नही जोडा जा सकता। क्योकि, ऋषिभाषित के महाकाश्यप बुद्ध और महावीर के समकालीन थे, जबकि ये महाभारत कालीन है। इसी प्रकार शतपथ[११५]ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक[११६] आदि मे भी काश्यप का उल्लेख है। किन्तु, वह यह पैतृक नाम के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है अत इनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के काश्यप से नही जोडा जा सकता। अत मेरी दृष्टि मे ऋषिभाषित के महाकाश्यप बौद्ध परम्परा के ही महाकाश्यप है।

१०. तेतलीपुत्र

ऋषिभाषित के १० वे अध्याय में तेतलीपुत्र के उपदेशो का सकलन है।[११७] प्राचीन जैन साहित्य मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त ज्ञाताधर्मकथा[११८] विपाकसूत्र,[११९] विशेपावश्यक-भाष्य[१२०] और सूत्रकृताग चूर्णि[१२१] मे तेतलीपुत्र का उल्लेख मिलता है। ज्ञाताधर्मकथा के १४ वे अध्ययन मे तेतलीपुत्र का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। ज्ञाता के अनुसार ये तेतलीपुर नामक नगर के कनकरथ

---

११४ आदि पर्व ४२/३३

११५ शतपथ ब्राह्मण ७ ५ १ ५

११६ तैत्तिरीय आरण्यक २/१८, १०/१,८

११७. ऋषिभाषित अध्याय १०

११८ ज्ञाताधर्मकथा १/१४

११९ विपाकसूत्र सूत्र ३२

१२० विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३३३२

१२१ सूत्रकृताग चूर्णि पृ २८

नामक राजा के अमात्य थे। इन्होने स्वर्णकार पुत्री पोट्टिला से विवाह किया था। राजा कनकरथ इस भय से कि मेरी ही सन्तान मुझे पदच्युत न कर दे, अपने पुत्रो को विकलाग कर देता था। रानी ने यह समस्या तेतलीपुत्र को बतायी। सयोग से उसकी पत्नि पोट्टिला और रानी पद्मावती साथ-साथ गर्भवती हुई और साथ ही प्रसव किया। तेतलीपुत्र की पत्नि ने मृतकन्या और रानी ने पुत्र का प्रसव किया। तेतलीपुत्र अपनी मृतकन्या रानी को देकर पुत्र को घर ले आता है तथा पुत्रोत्सव करता है। कुछ कारणो से वह पोट्टिला से अन्यमनस्क हो जाता है। नगर मे आर्या सुव्रता अपने साध्वी समुदाय के साथ आती है। कुछ साध्वियाँ शिक्षार्थ तेतलीपुत्र के घर मे प्रवेश करती है। पोट्टिला साध्वियो से पति को वश मे करने का उपाय पूछती है। आर्यिकाएँ कहती है कि 'ऐसे उपाय बताना हमारे लिए निषिद्ध है, हम धर्मोपदेश दे सकती हैं'। पोट्टिला धर्मोपदेश सुनकर दीक्षित हो जाती है। उधर कनकरथ की मृत्यु के पश्चात् उसके द्वारा पोषित राजपुत्र राजा बनता है, वह तेतलीपुत्र को उसके उपकार के कारण पर्याप्त सम्मान देता है। कथा के अनुसार पोट्टिला मरकर स्वर्ग मे देव बनती है और अपने पूर्व पति को प्रतिबोध देना चाहती है। राजा को उसके विरुद्ध कर देती है। राजा से यथोचित सम्मान न मिलने पर तेतलीपुत्र दु खी हो आत्महत्या का प्रयत्न करता है। आत्म-हत्या के अनेक उपाय करने पर भी वह असफल रहता है, अत उसका जीवन अविश्वास और अश्रद्धा से भर जाता है। अवसर जानकर पोट्टिला, जो देवता बन गई थी, उसे प्रतिबोध देती है। उसके उपदेश से प्रतिबोधित हो तेतलीपुत्र दीक्षित हो साधना करते हुए मुक्ति प्राप्त करते है। यही कथा सक्षेप मे ऋषिभाषित मे भी है। ज्ञाता और ऋषिभाषित के इस अध्ययन की तुलना के लिए यहाँ दोनो से कुछ पाठ दिये जा रहे हैं।

ऋषिभाषित (१०)	ज्ञाताधर्मकथा (२/१४)
सद्धेय खलु समणा वदन्ती, सद्धेय खलु माहणा, अहमेगो असद्धेय वदिस्सामि। तेतलीपुत्तेण अरहता इसिणा वुइय। सपरिजण पि णाम मम अपरिजणो त्ति को मे त सद्दहिस्सति ? सपुत्त पि णाम मम अपुत्ते त्ति को मे सद्दहिस्सति ? एव समित्त पि णाम मम, सवित्त पि णाम मम, स परिग्गह पि णाम मम, दाण-माण-सक्कारोवयार-सगहिते तेतलिपुते स सयणपरिजणे विराग गते को मे त सद्दहिस्सति।	तए ण से तेतलीपुत्ते एव वयासि सद्धेय खलु भो-समणा वयति, सद्धेय खलु भो माहणा वयति, अहमेगो असद्धेय वयामि। सपुत्तेहिं अपुत्ते को मेद सद्दहिस्सई ? समित्तेहिं अमित्ते को मेद सद्दहिस्सइ ? एव अत्थेणं दारेण, दासेहिं परिजणेण।

तेतलीपुत्तेण अमच्चेण....तालपुडके विसे खातिते त्ति से वियसे पडिहते त्ति को मे त सद्दहिस्सति ?....महतिमहालय रुक्ख दुरुहित्त पासे छिण्णे तहावि ण मए को मे त सद्दहिस्सति ? महति-महालय पासाण गीवाए बन्धित्ता अत्थाहाए पुक्खरिणीए अप्पा पक्खिते तथ्य अवि य ण थाहे लद्धे, को मे त सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण महति-महालिय कट्ठरासी पलीवेत्ता अप्पा पक्खित्ते से विय से अगणिकाए विज्झाए को मे त सद्दहिस्सति ?

तेतलिपुत्तेण अमच्चेण तालपुडगे विसे आसगसि पक्खित्ते, से वि य णो सकमइ को मेद सद्दहिस्सइ ? · पासग बधेत्ता जाव रज्जू छिन्ना को मेद सद्दहिस्सइ ? महासिलय बधित्ता अत्थाह जाव उदगसि अप्पामुक्के, तत्थ वि य ण थाहे जाए, को मेद सद्दहिस्सइ ? सुकसि तणकूडे अग्गी विज्झाए को मेद सद्दहिस्सइ ?

तए ण सा पुट्टिला मुसियारधूता ....अन्तलिक्ख पडिवण्णा एव वयासी आउसो तेतलिपुत्ता... पुरओ वित्थिण्णे गिरिसिहर कदरप्पवाते, पिट्ठओ कम्पेमाणे व्व मेहणितलं साकड्ढन्ते व्व पायवे णिप्फोडेमाणे व्व अम्बरतल सव्वतमोरासिव्व पिण्डिते, पच्चक्खमिव सय कतत्ते भीम ख करेन्ते घरणि । प्पवेसिणो सरणितन्ति, पहुयवहजाला सहस्ससकुल समन्ततो पलित्त धग-धगेति....आउसो तेतलिपुत्ता कत्तो वयामो ?

तएण से पोट्टिले देवे ·अदूरसामते ठिच्चा एव वयासी ह भोतेयलिपुत्ता पुरओ पवाए, पिट्ठओ हत्थिभय दुहओ अचक्खुफासे मज्झे सराणि वरिसति, गामे पलित्ते रज्ज झियाइ · आउसो तेयलिपुत्ता कओ वयामो ?

त तेण से तेतलिपुत्ते पोट्टिल मूसि-यारधूयं एव वयासि पोट्टिले। एहि ता आयाणाहि भीयस्स खलु भो पव्वज्जा, अभिउतस्स सवहणकिच्च मातिस्स रहस्सकिच्च, उक्कठियस्स देसगमण-किच्च, छुहियस्स भोयणकिच्च पिपासियस्स पाणकिच्च, पर अभिउ-जिउकामस्स सत्थकिच्च, खन्तस्स दन्तस्स गुत्तस्स जितिन्दियस्स एत्तो ते एक्कमवि ण भवइ।

त एण से तेयलिपुत्ते पोट्टिल देव एव वयासि–भीयस्स खलु पव्वज्जा सरण उक्कठियस्स देसगमण, छुहिस्स अन्न, तिसियस्स पाण, आउरस्स भेसज्ज माइयस्स रहस्स, अभिजुदस्स पच्चय-करण.. पर अभिओ जितुकामस्ससहाय-किच्च खतस्स दतस्स जिइदियस्स एतो एगमवि ण भवइ।

इन दोनो पाठो का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम पाते है कि (१) ज्ञाताधर्म-कथा मे ऋषिभाषित की अपेक्षा तेतलिपुत्र का विवरण अधिक विकसित है और उसमे अलौकिक तत्त्व अधिक जुड गये है। (२) दूसरे ज्ञाता की अपेक्षा ऋषिभाषित के पाठो की भाषा 'त' श्रुति प्रधान और अर्ध मागधी के निकट है और इसलिए प्राचीन भी है, जबकि ज्ञाता की भाषा 'य' श्रुति प्रधान, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से युक्त और अपेक्षाकृत परवर्ती है।

जहाँ तक प्रस्तुत अध्याय की मूलभूत शिक्षा या उपदेश का प्रश्न है वह अस्पष्ट ही है। वस्तुत प्रस्तुत अध्याय मे उपदेश भाग अति अल्प ही है। वस्तुत तेतलिपुत्र इसमे अपने जीवन के अनुभव प्रस्तुत करते है, वे कहते है—मै परिजनो, मित्रो पुत्रो आदि से युक्त होकर भी असहाय अनुभव करता हूँ, धन-सम्पत्ति से युक्त होकर भी दीन हूँ, निराश होकर आत्म-हत्या के प्रयत्न किये किन्तु उसमे भी असफल ही रहा। अत मेरे जीवन मे अविश्वास भर गया है। जहाँ दूसरे श्रमण-ब्राह्मण श्रद्धा की बात कहते है, मै अकेला अश्रद्धा (अविश्वास) का प्रतिपादन करता हूँ। यह अविश्वास या अनास्था ही उनके वैराग्य का कारण है। ज्ञाता एव ऋषिभाषित के अतिरिक्त स्थानाग मे भी तेतलिपुत्र का उल्लेख है[१२२]। उसमे अनुत्तरोपपातिक की आठवे अध्ययन (दशा) का नाम 'तेतली' कहा गया है, किन्तु वर्तमान अनुत्तरोपपातिक दशा मे यह अध्ययन (दशा) अनुपलब्ध है। चूकि ज्ञाता मे तेतलि-पुत्र का वृत्त आ गया था अत उसे यहाँ से हटा दिया गया होगा। साक्ष्य के अभाव मे आज यह कह पाना कठिन है कि इस दशा मे पूरी विषय वस्तु क्या थी ?

जैन साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध एव वैदिक साहित्य मे इनके सम्बन्ध मे कोई भी उल्लेख उपलब्ध नही है। इससे ऐसा लगता है कि ये मूलत निग्रन्थ धारा से सम्बन्धित रहे होगे।

११. मखलिपुत्त

ऋषिभाषित[१२३] ग्यारहवा अध्याय मखलिपुत्त से सम्बन्धित है। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि ये मखलिपुत्त कौन थे। जैन और बौद्ध परम्पराओ मे मखलि गोसाल या मक्खलि गोसाल का उल्लेख उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र का १५ वा शतक[१२४] मखलिगोसाल के जीवन-वृत्त और उनकी दार्शनिक मान्यताओ का विवरण प्रस्तुत करता है। जैन परम्परा मे भगवती सूत्र

---

१२२ स्थानाग सूत्र ७५५

१२३ ऋषिभाषित ११वाँ अध्ययन

१२४ भगवती सूत्र ५४०

के अतिरिक्त मंखलि गोसाल का विवरण उपासक दशा,[125] आवश्यक निर्युक्ति,[126] विशेषावश्यक भाष्य,[127] आवश्यक चूर्णि,[128] आदि अनेक ग्रन्थो मे उपलब्ध है। उपलब्ध वृत्तो के अनुसार इन्हे मखलि नामक मख का पुत्र होने के कारण मखलि-पुत्र और गोशाला मे जन्म लेने के कारण गोशाल कहा जाता था। जैन परम्परा के अनुसार ये महावीर के दीक्षित होने के पश्चात् उनके दूसरे चातुर्मास मे उनसे मिले और लगभग छ: वर्ष तक उन्ही के साथ रहे। बाद मे नियतिवाद के प्रश्न को लेकर दोनों मे मतभेद हो गया। भगवती सूत्र की सूचना के अनुसार महावीर की दीक्षा के २४ वर्ष पश्चात् मखलिपुत्त गोसाल ने अपने आप को जिन या तीर्थंकर घोषित कर दिया। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा भगवती सूत्र मे उपलब्ध होती है। किन्तु, हमारी दृष्टि मे वह एकपक्षीय तथा अतिरजित विवरण है। इन कथा-स्रोतो से हम केवल इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मखलिपुत्त गोसाल ने महावीर से स्वतन्त्र अपनी एक परम्परा स्थापित कर ली थी और उनका समाज पर एक व्यापक प्रभाव था। उनका यह सम्प्रदाय आगे चलकर आजीवक के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य[129] मे भी मक्खलि गोसाल को बुद्ध के समकालीन छ तीर्थंकरो मे एक माना गया है। इसके अतिरिक्त थेरगाथा[130] मे भी गोसाल थेर का उल्लेख है। यद्यपि इसकी अट्ठकथा मे जो विवरण है उसमे उन्हे मगध राष्ट्र मे उत्पन्न कहा गया है। यद्यपि अन्य विवरण मे जैन एव बौद्ध उल्लेखो से कोई समानता नही है। बौद्ध और जैन दोनो ही परम्पराओ के उपलब्ध विवरण इतना तो स्पष्ट कर दे रहे है कि मखलिपुत्त गोसाल अपने युग के एक प्रभावशाली आचार्य तथा नियतिवाद के सस्थापक थे। पालि त्रिपिटक और जैन आगम साहित्य मे उनके दार्शनिक मन्तव्यो की विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है। दोनो ही उन्हे नियतिवादी मानते हैं। नियतिवाद वह विचारधारा है जो व्यक्ति के पुरुषार्थ की अपेक्षा विश्व की एक नियत व्यवस्था पर बल देती है। यहाँ हम इस सम्बन्ध मे अधिक विस्तार से चर्चा करना नही चाहेगे। किन्तु, इतना अवश्य ही कहना चाहेगे कि जैन और बौद्ध दोनो ही परम्पराओ मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त मखलि गोसाल के सम्बन्ध मे और उनकी दार्शनिक मान्यताओ के सम्बन्ध मे जो विवरण उपलब्ध है वे एक-पक्षीय आलोचनात्मक है और मखलि गोसाल के व्यक्तित्व और दार्शनिक मान्यताओ को विकृत रूप मे प्रस्तुत करते है। सम्भवत ऋषिभाषित ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ

---

१२५ उपासकदशा ६/२०,२१,२३,२८,७/८,११,४२-४५ (लाडनू)

१२६ आवश्यकनिर्युक्त गाथा ४७४

१२७ विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९२८

१२८ आवश्यक चूर्णि पृ २८२

१२९ दीघनिकाय प्रथम पृ ५३ (पा टे सो)

१३० थेर गाथा २३

है जो मखलिपुत्त को एक सम्मानित अर्हत ऋषि के रूप मे और उनके उपदेशो को प्रमाणिक रूप मे प्रस्तुत करता है। यह सत्य है कि ऋषिभाषित मे मखलि गोसाल का जो उपदेश प्रस्तुत है उसमे भी नियतिवादी तथ्य देखे जा सकते है। किन्तु, मखलिपुत्त के इस नियतिवाद का उद्देश्य व्यक्ति के कर्तृत्व के अहकार को समाप्त कर उसे एक अनासक्त जीवन दृष्टि प्रदान करना है। वे स्पष्ट रूप से कहते है कि जो पदार्थो की परिणति को देखकर कम्पित होता है, प्रभावित होता है, क्षोभित होता है, आहत होता है—वह साधक तदनुरूप मनोभावो से प्रभावित होने के कारण आत्मरक्षक नही बन सकता। मखलिपुत्त के उपदेश का तात्पर्य यही है कि विश्व की घटनाए अपने क्रम से घटित होती रहती है। व्यक्ति के नही चाहने पर भी जीवन मे प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती है। जो व्यक्ति जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो मे इन्हे पुद्गल की परिणति समझकर अप्रभावित, अक्षोभित अनाहत रहता है वही साधक चतुर्गति रूप इस ससार से अपनी और दूसरो की रक्षा कर सकता है। उनके इस उपदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके नियतिवाद का मुख्य उपदेश अनासक्त जीवन के निर्माण के लिए है। यही बात हमे भगवद्गीता के उपदेश मे मिलती है। वहाँ भी नियतिवाद का उपदेश व्यक्ति की फलासक्ति को समाप्त करने के लिए दिया गया है।

महाभारत[131] मे हमे मकि गीता के नाम से मकिऋषि के उपदेश प्राप्त होते है। मेरी मान्यता है कि महाभारत के यह मकि ऋषि निश्चित ही ऋषिभाषित के मखलिपुत्त है। क्योकि, मकी गीता स्पष्ट रूप से नियतिवाद का प्रतिपादन करती है। वह कहती है कि जो कुछ होता है वह व्यक्ति के प्रयत्न से नही अपितु दैव की लीला से है। भाग्य ही सब कुछ है। जो हठपूर्वक पुरुषार्थ करता है तथा उसमे सफल नही होता तो खोज करने पर ज्ञात होता है कि उसमे दैव का ही सहयोग है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ऋषिभाषित के मखलिपुत्त, भगवती सूत्र आदि जैन आगमो मे उल्लिखित मखलि गोसाल, पालि त्रिपिटक साहित्य मे उल्लिखित मक्खलि-गोसाल तथा महाभारत के मकि ऋषि एक ही व्यक्ति है। वस्तुत जैन और बौद्ध परम्पराओ मे जब साम्प्रदायिक अभिनिवेश दृढ हुआ तब ही उनके उपदेशो को तथा उनके जीवन वृत्त को विकृत रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। यह भी साहित्यिक और अभिलेखीय प्रमाणो से सिद्ध होता है कि मखलिपुत्त अपने युग के एक प्रभावशाली श्रमण परम्परा के व्यक्ति थे और उनका आजीवक सम्प्रदाय उनके पश्चात् भी लगभग १००० वर्ष तक अस्तित्व मे रहा। ऋषिभाषित के मखलिपुत्त आजीवक परम्परा के प्रबुद्ध आचार्य मखलि गोसाल ही है। यद्यपि भगवतीसूत्र के १५ वे शतक मे इस परम्परा के अन्य आचार्यो के भी उल्लेख मिलते है।

---

१३१ शान्ति पर्व अ १७७

१२. जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य)

ऋषिभाषित का बारहवा अध्याय जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) से सम्बन्धित है। इसमे याज्ञवल्क्य को अर्हत् ऋषि कहा गया है। याज्ञवल्क्य के जीवनवृत्त एव उपदेशो के सम्बन्ध मे ऋषिभाषित[132] के अतिरिक्त जैन आगम साहित्य एव कथा साहित्य से अन्य कोई सूचना प्राप्त नही होती है। ऋषिभाषित की सग्रहणी गाथा मे उन्हे अरिष्टनेमि के युग का प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। इनके सम्बन्ध मे, विस्तृत जानकारी के लिए हमे जैनतर स्रोतो पर ही निर्भर रहना पडता है। जैनेतर स्रोतो मे भी बौद्ध स्रोतो से हमे कोई जानकारी प्राप्त नही होती है, मात्र वैदिक स्रोतो से ही हमे इनके बारे मे जानकारी प्राप्त होती है। वैदिक स्रोतो मे याज्ञवल्क्य का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण[133], शाखायन आरण्यक[134], बृहदारण्यक उपनिषद्[135] और महाभारत[136] मे प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य के नाम से याज्ञवल्क्य स्मृति भी प्रसिद्ध है। शतपथ ब्राह्मण और शाखायन आरण्यक मे याज्ञवल्क्य के जो उल्लेख उपलब्ध है, वे समान ही है। यदि हम महाभारत और याज्ञवल्क्य स्मृति को छोड दे, तो वैदिक साहित्य मे बृहदारण्यक उपनिषद् ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे याज्ञवल्क्य का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के कथानक के आधार पर ओल्डेनवर्ग, वेबर आदि ने जनक से सम्बन्धित होने के कारण इनको विदेह निवासी बताया है। यद्यपि वैदिक कोश मे श्री सूर्यकान्त ने कुरु-पाचाल के उद्दालक से इनका सम्बन्ध होने के कारण इनके विदेह निवासी होने पर सन्देह प्रकट किया है। वैसे मेरी दृष्टि मे उद्दालक से सम्बन्ध होने पर भी इनके विदेह निवासी होने पर सन्देह करना उचित नही, क्योकि ऋषि परिभ्रमणशील होते थे। उद्दालक का उल्लेख हमे ऋषिभाषित मे भी मिलता है। मेरी दृष्टि मे बृहदारण्यक उपनिषद् मे प्राप्त उल्लेख के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चाहे वे अपने प्रारम्भिक जीवन मे यज्ञ-परम्परा के समर्थक रहे हो, किन्तु जनक के आत्मवाद से प्रभावित होकर अन्त मे वे निवृत्तिमार्गी श्रमण धारा की ओर मुडे। बृहदारण्यक उपनिषद् मे वे कहते है कि आत्मा को जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का त्याग करके भिक्षाचर्या करते हुये विचरण करते है, क्योकि जो पुत्रैषणा है वही वित्तैषणा है

---

१३२ ऋषिभाषित १२ वाँ अध्ययन

१३३ शतपथ ब्राह्मण ६/७, देखे वैदिक कोश (बो एच यू १९३२) पृष्ठ ४२८

१३४ शाखायन आरण्यक १३/१, देखें वही पृष्ठ ४२८

१३५ बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/१ ३/५/१, देखें वही पृ ४२८

१३६ महाभारत सभापर्व ४/१२, ३३/३५, शान्तिपर्व ३१०–३१८

और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा[137] है। बृहदारण्यक उपनिषद् के इस उपदेश की तुलना याज्ञवल्क्य के ऋषिभाषित के उपदेशो से करते है तो दोनो मे विलक्षण रूप से समानता परिलक्षित होती है। ऋषिभाषित मे वे कहते है कि जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है और जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैषणा है, इसलिए साधक को लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग करके गोपथ से जाना चाहिये, महापथ से नही। सम्भवत यहाँ गोपथ का तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार गाय थोडी-थोडी घास चरते हुऐ जीवन जीती है, उसी प्रकार से व्यक्ति को भिक्षाचर्या द्वारा किसी को कष्ट न देते हुए जीवन जीना चाहिए। यहाँ महापथ का तात्पर्य लोक-परम्परा या प्रवृत्ति-मूलक-परम्परा से भी हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि याज्ञवल्क्य अन्त मे निवृत्ति मार्ग के उपदेशक हो जाते है। वैदिक परम्परा मे बृहदारण्यकोपनिषद् के अतिरिक्त महाभारत मे भी उल्लेख उपलब्ध होते है[138]।

शातिपर्व मे इन्हे जनक को उपदेश देते हुए वर्णित किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि ये जनक के समकालीन ऋषि रहे होगे। जैन परम्परा मे इन्हे जो अरिष्टनेमि के युग का ऋषि बताया गया है, वह समीचीन प्रतीत नही होता है। सम्भवत ये इससे भी पूर्वकाल के ऋषि है। बृहदारण्यकोपनिषद् और ऋषिभाषित मे उपलब्ध याज्ञवल्क्य के उपदेशो की तुलना के आधार पर हम इतना अवश्य कह सकते है कि ऋषिभाषित के जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) अन्य कोई नही, अपितु उपनिपदो के याज्ञवल्क्य ही है।

१३. मेतेज्ज भयाली

ऋषिभाषित[139] का तेरहवा अध्याय मेतेज्ज भयालि से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन साहित्य मे भयालि का उल्लेख समवायाग [140] मे

---

१३७ एत वै तमात्मान विदित्वा ब्राह्मण पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्याचरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवत ।

—बृहदारण्यकोपनिषद् ३/५/१

तुलनीय—

जाव ताव लोएसणा ताव ताव वित्तेसणा, जाव ताव वित्तेसणा ताव लोएसणा। से लोएसण च वित्तेसण परिन्नाए गोपहेण गच्छेज्जा णो महापहेण' ''।

—ऋषिभाषित १२

१३८ महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३१० से ३१८।

१३९ ऋषिभाषित १३ वाँ अध्ययन

१४० समवायाग ११/४

उपलब्ध होता है। समवायाग मे इन्हे आगामी उत्सर्पिणी काल मे होने वाला सवर नामक उन्नीसवा तीर्थकर वताया गया है। भयालि के दो अन्य प्राकृत रूप भमालि और भग्गइ भी मिलते है। स्थानागसूत्र [१४१] मे अन्तकृत्दशा का सातवाँ अध्याय भगालि से सम्बन्धित माना गया है। यद्यपि वर्तमान मे यह अध्ययन उपलब्ध नही है, किन्तु मेरी दृष्टि मे अन्तकृत्दशा के प्राचीन सस्करण मे अवश्य ही यह अध्याय रहा होगा और उसमे भगाली के जीवनवृत्त अथवा उपदेशो का सकलन किया गया होगा। औपपातिक मे भग्गइ नामक एक क्षत्रिय परिव्राजक और उसके अनुयाइयो का उल्लेख हुआ है। सम्भव है कि भयालि या भगालि के अनुयायी ही भग्गइ के नाम से जाने जाते हो।

ऋषिभाषित मे भयालि के उपदेशो का प्रतिपाद्य-विषय तो आत्म-विमुक्ति है। वे कहते है कि फल की इच्छा वाला ही पेड का सिचन करता है। जिसे फल की इच्छा नही है वह सिचन भी नही करता। मूल के सिंचन करने से ही फल की उत्पत्ति होती है। मूल को नष्ट कर देने से फल भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार वे यह वताना चाहते है कि ससार से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ससार के मूलभूत कारणो का ही विनाश करना होगा। इसके अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टि से भयालि यह प्रतिपादन भी करते हैं कि सत् का कोई कारण नही होता और असत् का भी कोई कारण नही होता। असत् का भव-सक्रमण भी नही होता।

इस प्रकार उनके दर्शन मे उपनिषद्, गीता और साँख्य का वह तत्त्व समाहित है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि सत् का विनाश नही होता और असत् की उत्पत्ति नही होती। इसी बात को प्रकारान्तर से इस अध्याय मे कहा गया है।

जहाँ तक भयालि के नाम के साथ लगे मेतेज्ज शब्द का प्रश्न है, महावीर के दसवे गणधर का नाम भी मेतेज्ज था, किन्तु मेरी दृष्टि मे ये मेतेज्ज भयालि उनसे भिन्न व्यक्ति है। इनके अतिरिक्त एक अन्य मेतेज्ज नामक श्रमण का उल्लेख मिलता है जो राजगृह के निवासी थे और जिन्होने अपने जीवन को बलिवेदी पर चढाकर भी अहिंसा व्रत की रक्षा की थी। इनका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[१४२] विशेषावश्यक भाष्य,[१४३] आवश्यकचूर्णि,[१४४] स्थानाग,[१४५] और स्थानाग अभयदेवीय

१४१ स्थानाङ्ग सूत्र १५७,२३६

१४२ आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८६६,८७०,८७१

१४३ विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३३३२,३३३८,३३३६

१४४ आवश्यक चूर्णि भाग १, पृष्ठ ४६४–६५

१४५ स्थानाङ्ग सूत्र १५७,२३६

टीका[१४६] मे मिलता है। सम्भव है ये और ऋषिभाषित के उल्लेखित मेतेज्ज भयालि एक ही व्यक्ति हो, किन्तु निश्चित प्रमाण के अभाव मे अधिक कुछ कह पाना सम्भव नही है।

बौद्ध परम्परा मे मेत्तजि थेर[१४७] का उल्लेख उपलब्ध होता है, इन्हे मगध के ब्राह्मण परिवार से सम्बन्धित माना गया है। ये युवा होने पर अरण्यवासी भिक्षु बन गये। तत्पश्चात् ये बुद्ध से मिले, उनसे चर्चा की एव सघ मे प्रवेश लिया और अन्त मे अर्हत् अवस्था को प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे बावरी के शिष्य मेत्तगू थेर का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि मेत्तजि और मेत्तगू थेर का सम्बन्ध मेत्तेज्ज भयालि से हो सकता है, यह कहना कठिन है। इनके अतिरिक्त एक अन्य मेत्तिय थेर का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। इन मेत्तिय थेर को छब्बग्गीया भिक्षुओ के एक वर्ग का नेता भी कहा गया है। इनके अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे मेत्तेय्य का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। ये मेत्तेय्य आगामी पॉचवे कल्प मे होने वाले अजित बुद्ध माने गये है। महावश के अनागत वश में इनका उल्लेख उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त सुत्तनिपात[१४८] मे तिस्स के मित्र एक अर्हत् मेत्तेय्य थेर का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। यद्यपि इन सब विवरणो के आधार पर यह कह पाना तो कठिन है कि मेत्तेज्ज भयालि और बौद्ध परम्परा के मेत्तेय्य का क्या सम्बन्ध है? बौद्ध परम्परा मे एक भद्दालि थेर का भी उल्लेख है। यद्यपि भद्दालि और भगालि मे भाषिक साम्यता होने पर भी दोनो मे किसी प्रकार की समानता बता पाना कठिन ही है।

१४. बाहुक

ऋषिभाषित के चौदहवे अध्याय मे अहत् ऋषि बाहुक के उपदेशो का सकलन मिलता है। बाहुक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त सूत्रकृताङ्ग[१५०], सूत्रकृताङ्ग चूर्णी[१५१] और सूत्रकृताङ्ग पर शीलाकाचार्य[१५२] द्वारा लिखित टीका मे भी है। यद्यपि इन सभी सदर्भो मे हमे उनके जीवनवृत्त के बारे मे कुछ भी ज्ञात नही होता है। सूत्रकृताङ्ग नमि, नारायण, असित देवल, द्वैपायन, पाराशर

१४६ स्थानाङ्ग अभयदेवटीका पृ १८२ एव ४७४
१४७ थेरगाथा ८४
१४८ सुत्तनिपात गाथा ८१४
१४९ ऋषिभाषित १४ वॉ अध्ययन
१५० सूत्रकृताङ्ग १/३/४/२
१५१ सूत्रकृताङ्ग चूर्णि पृ १२१
१५२ सूत्रकृताग शीलाक टीका पृ १५

आदि ऋषियो के उल्लेख के प्रसग मे ही बाहुक का भी उल्लेख करता है और यह बताता है कि अर्हत् प्रवचन मे मान्य इन बाहुक ऋषि ने सचित्त जल का सेवन करते हुए भी मुक्ति को प्राप्त किया। सूत्रकृताग चूर्णी मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इनका उल्लेख ऋषिभाषित मे है तथा इन प्रत्येकबुद्धो ने वन मे निवास करते हुए तथा वनस्पति, बीज और शीतल जल का सेवन करते हुए मुक्ति प्राप्त की। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित और सूत्रकृताग मे उल्लिखित बाहुक एक ही व्यक्ति है। यद्यपि इनके जीवन/विवरण के सम्बन्ध मे इन ग्रन्थो मे कुछ भी प्राप्त नही होता है। ऋषिमण्डलवृत्ति मे भी इनके सम्बन्ध मे कोई विवरण उपलब्ध नही है, अत इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे अधिक कुछ नही कहा जा सकता। स्थानाग सूत्र के अनुसार प्रश्नव्याकरणदशा का दसवा अध्याय बाहु से सम्बन्धित था। यद्यपि वर्तमान प्रश्नव्याकरणदशा मे स्थानाग मे उल्लिखित कोई भी अध्याय उपलब्ध नही है, किन्तु मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख मे इसे स्पष्ट किया है कि प्रश्नव्याकरण के प्राचीनतम सस्करण मे यह अध्याय रहा होगा और इसमे बाहुक के उपदेशो का सकलन भी रहा होगा।

ऋषिभाषित मे प्रस्तुत बाहुक के उपदेशो का सारतत्त्व यही है कि युक्त बात भी यदि अयुक्त विचार के साथ की जाती है तो वह प्रमाण स्वरूप नही है। वस्तुतः इस कथन का आशय यही है कि यदि दृष्टि या चिन्तन अशुद्ध है तो बाह्य क्रिया चाहे वह शुद्ध या नैतिक प्रतीत होती हो, अनैतिक ही मानी जायेगी। इस अध्याय मे मुख्य रूप से अनासक्ति पर बल देते हुए बताया गया है कि निष्काम भाव से जो भी साधना की जाती है, वही मुक्ति की दिशा मे ले जाती है। सकाम भाव से किया गया तपश्चरण आदि भी नरक का कारण है। इस प्रकार बाहुक अनासक्त दर्शन के प्रतिपादक प्रतीत होते है।

बौद्ध परम्परा[१५३] मे बाहुक का नाम तो उपलब्ध नही होता, किन्तु बाहीक या बाही का उल्लेख मिलता है। यद्यपि आज यह कहना कठिन है कि यह बाहीक और ऋषिभाषित के बाहुक एक ही है, क्योकि बौद्ध परम्परा मे इन्हे बुद्ध के अनुयायी के रूप मे ही विवेचित किया गया है, अत इस सम्बन्ध मे निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना कठिन है।

जहाँ तक वैदिक परम्परा[१५४] का प्रश्न है उसमे बाहुव्रक्त नामक ऋषि का उल्लेख है। इन्होने ऋग्वेद के कुछ सूत्र बनाये थे, ऐसा माना जाता है, फिर भी इनकी ऋषिभाषित के बाहुक से समानता खोज पाना कठिन है। महाभारत[१५५] मे

---

१५३ पालि प्रापर नेम्स जिल्द २ पृ २८१–८३

१५४ वैदिक कोश पृ ३३४ (का हि वि वि १९३३)

१५५ महाभारत की नामानुक्रमणिका पृ २१६

भी बाहुक का उल्लेख है। वहाँ उन्हे वृष्णि-वशी वीर के रूप मे प्रकट किया गया है। महाभारत मे ही महाराजा सगर के पिता को भी बाहुक कहा गया है। इसी प्रकार राजा नल का भी एक नाम बाहुक था, किन्तु ये सारे साक्ष्य हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचाने मे सहायक नही होते कि इनका ऋषिभाषित मे उल्लिखित बाहुक के साथ कोई सम्बन्ध था। यह विषय अभी गवेषणात्मक है। विद्वानो से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध मे विशेष खोज करने का प्रयास करेंगे।

१५. मधुरायण

ऋषिभाषित[१५६] का १५वा अध्ययन मधुरायण अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। मधुरायण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन और बौद्ध परम्परा मे अन्यत्र उपलब्ध नही है। अत इनके जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कुछ कह पाना कठिन है। प्रस्तुत अध्याय मे अनेक शब्द विशिष्ट अर्थों मे प्रयुक्त हुए है, अत जब तक उनके उन विशिष्ट अर्थों को स्पष्ट नही कर लिया जाता तब तक मधुरायण के उपदेशो को सम्यक् प्रकार से नही समझा जा सकता।

प्रस्तुत अध्याय के अर्थ के सन्दर्भ मे न तो ऋषिभाषित के सस्कृत टीकाकार स्पष्ट है, और न उसके आधार पर मनोहर मुनि ने जो हिन्दी अनुवाद किया है वह भी अधिक स्पष्ट है। प्रस्तुत सस्करण का हिन्दी और अग्रेजी अनुवाद भी भ्रान्ति रहित नही है। यद्यपि शुब्रिंग ने अपने टिप्पण मे तथा मनोहर मुनिजी ने अपनी व्याख्या मे उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि इस 'अध्याय' का विषय अस्पष्ट है। मेरी दृष्टि मे इस अध्याय के विषय को स्पष्ट करने के लिए इस अध्याय मे प्रयुक्त कुछ विशिष्ट शब्दो को स्पष्ट करना होगा। इस अध्याय के मुख्यत तीन शब्द 'सातादुक्ख' 'दुक्ख' और 'सत' ये तीन शब्द ऐसे है जो अपने अर्थ का स्पष्टीकरण चाहते है। जहाँ तक 'सातादुक्ख' के अर्थ का प्रश्न है सस्कृत टीकाकार और अन्य सभी ने उसे सुख से उत्पन्न दु ख माना है। वस्तुत सुख का तात्पर्य यहाँ सुख की आकाक्षा ही लेना होगा। अत. 'सातादुक्ख' का तात्पर्य है सुख की आकाक्षा से उत्पन्न दु ख। दूसरे शब्दो मे सासारिक सुखो की प्राप्ति के लिए जिस व्यक्ति मे आकाक्षाये जागृत हो वह व्यक्ति सातादु ख अभिभूत कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे सुख की आकाक्षा ही सातादु ख है। इसके विपरीत अशाता दु ख से अभिभूत व्यक्ति का दु ख है निराकाक्ष होने के कारण स्वाभाविक रूप से प्राप्त सासारिक दु ख। साता दु.ख का यह अर्थ करने पर प्रथम प्रश्न और उत्तर इस प्रकार बनता है .—क्या सुख की आकाक्षा से उत्पन्न दु ख से अभिभूत व्यक्ति दु ख को प्रेरित करता है ? या निमन्त्रित करता है ?

---

१५६ ऋषिभाषित १५वाँ अध्ययन

या निराकाक्ष कष्टो का जीवन जीने वाला व्यक्ति दु.खो को निमन्त्रित या प्रेरित करता है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि सुख की आकाक्षा से उत्पन्न दु खो से अर्थात् सासारिक वासना के पीछे पागल व्यक्ति ही दु खो को आमन्त्रित करता है। स्वाभाविक दुःखो से घिरा होने पर भी निराकाक्ष व्यक्ति दु खो को आमन्त्रित नही करता अर्थात् कर्म बन्ध नही करता। वस्तुत सुख की आकाक्षा करना ही दु खो को निमन्त्रण देना है। सुख की आकाक्षा से दुःखी बना व्यक्ति ही दु खो को निमन्त्रित करता है, न कि कष्ट जन्य दु खो से घिरा व्यक्ति। इस प्रकार मधुरायण सासारिक सुखो की आकांक्षा मे ही दु.खों का मूल देखते है।

पुन. 'सत' शब्द यहाँ 'शान्त' के अर्थ मे न होकर सत्ता के अर्थ मे होगा। 'सत दुक्खी' का अर्थ यहाॅ होगा दु खी होकर। पुन. यहाॅ दु खी होने का अर्थ कामना या आकाक्षा से युक्त होना ही है। अत. 'सत दुक्खी दुक्ख उदीरेइ' से अभिप्राय दु खी होकर ही दु ख को निमन्त्रण दिया जाता है। अर्थात् साकाक्ष व्यक्ति ही दु.ख का प्रेरक होता है। इसी प्रकार 'नो असत दुक्खी दुक्ख उदेरइ' दु ख से दु खित न होकर दु ख को निमन्त्रण नही दिया जाता अर्थात् जो व्यक्ति निराकाक्ष है वह दु ख का प्रेरक नही होता है।

इसके पश्चात् इस अध्याय मे मुख्य रूप से पाप को अनिर्वाण और ससार भ्रमण का कारण बताते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार बीज के होने पर अकुरण स्वाभाविक है उसी प्रकार पापो के होने पर भी दु ख का होना स्वाभाविक है। अन्त मे यह कहा गया है कि आत्मा ही अपने कर्मो का कर्त्ता है और अपने कर्मो का भोक्ता है। इसलिए साधक को आत्मार्थ के लिए पाप-मार्ग का त्याग कर देना चाहिए। जिस प्रकार सपेरा साप के विष-दोष को समाप्त करता है उसी प्रकार साधक को दु खो के मूल को समाप्त करना चाहिए। मधुरायण की दृष्टि मे दु.ख का मूल सुख (सासारिक सुखो) की आकाक्षा से रहित होना है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते है कि प्रस्तुत अध्याय की विषय वस्तु की ऋषिभाषित के अन्य अध्यायो की विषय वस्तु से पर्याप्त समानता है। इस १५वे अध्याय की विषय वस्तु ९वे अध्याय के समान है। इस तथ्य को ग्रन्थकार ने भी 'णवमज्झयणगमरण वणेयव्व' कहकर स्वीकार किया है।

बौद्ध और वैदिक परम्पराओ मे अन्यत्र इनका उल्लेख अनुपलब्ध होने से इनके सम्बन्ध मे तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नही है।

१६. शोर्यायण (सौरयायण)

ऋषिभाषित का १६वाँ अध्ययन[१५७] शौर्यायिण (सोरयायण) नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त सोरिय का उल्लेख स्थानाग[१५८]

---

१५७ ऋषिभाषित १६वाँ अध्ययन

१५८ स्थानाग सूत्र ७५५

और विपाक सूत्र[१५९] मे भी मिलता है। विपाक सूत्र मे इनका सोरियदत्त नाम से उल्लेख हुआ है। स्थानाग की सूचना के अनुसार कर्म-विपाक दशा के सातवे अध्याय का नाम सोरिय है, किन्तु उपलब्ध विपाक सूत्र के आठवे अध्याय मे सोरियदत्त का उल्लेख मिलता है। इस अध्याय मे इन्हे सोरियपुर नगर के मछुआरे समुद्रदत्त का पुत्र कहा गया है। कथावस्तु के अनुसार एक वार इनके गले मे मछली का कॉटा फस गया और अनेक प्रयत्नो के वाद भी इसे निकाला नही जा सका और इन्हे अति दु ख भोगना पडा। प्रस्तुत अध्याय मे उल्लिखित सोरियदत्त का ऋषि-भाषित के सोरियायण से इस आधार पर सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है कि सोरियायण ने अपने उपदेश मे मुख्य रूप से ऐन्द्रिक विषयो मे आसक्त न होने का उपदेश दिया है। यही बात प्रकारान्तर से विपाक दशा मे भी कही गयी है कि ऐन्द्रिक विषयो की पूर्ति मे फसकर ही जीव दारुण दु ख भोगता है।

प्रस्तुत अध्याय मे इन्द्रियो के वेग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि व्यक्ति को श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय के मनोज्ञ विषय प्राप्त होने पर आसक्त, अनुरक्त और लोलुप नही होना चाहिये। ये दुर्दान्त इन्द्रियाँ ससार भ्रमण का कारण है। राग-द्वेष से छुटकारा पाने हेतु कछुए के समान इन दुर्दान्त इन्द्रियो का सगोपन करना चाहिए। मनोज्ञ विषयो के प्राप्त होने पर राग नही करना चाहिए और न अमनोज्ञ विषयो के प्राप्त होने पर द्वेषित होना चाहिए। जो मनोज्ञ विषयो के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष करता है वह पाप कर्म का बन्ध करता है। बौद्ध परम्परा[१६०] मे सोरिय का उल्लेख सोरेय्य के रूप मे मिलता है। वहाँ इन्हे श्रेष्ठिपुत्र कहा गया है। यद्यपि बौद्ध परम्परा मे सोरेय्य का जो उल्लेख है उसका जैन परम्परा के सोरिय से कोई निकट का सम्बन्ध नही देखा जा सकता। वैदिक परम्परा[१६१] मे हमे शौरि का उल्लेख शूरसेन के पुत्र के रूप मे (द्रोण पर्व १४४/७) मिलता है। इनका तादात्म्य वसुदेव से बताया गया है, जो कृष्ण के पिता कहे गये हैं, तब भी यह कह पाना कठिन है कि ऋषिभाषित के सोरियायण, पालि साहित्य के सोरेय्य और महाभारत के शौरि एक ही व्यक्ति है या भिन्न व्यक्ति है। अपने नाम के आधार पर ये शूरषेण देश से सम्बन्धित रहे होगे इतना माना जा सकता है। बृहदारण्यकोपनिषद्[१६२] मे आचार्यों की सूचि मे काषायन के शिष्य सौकरायण का नाम आता है, सम्भव है कि प्राकृत मे यही सोरियायण बन गया हो।

---

१५९ विपाक सूत्र २९

१६० धम्मपद अट्ठकथा भाग १ पृ ३२४ टिप्पणी।

१६१ महाभारत द्रोणपर्व १४४/७

१६२ वृहदारण्यकोपनिषद् ४/६/२

१७. विदुर

ऋपिभाषित[१६३] के १७वे अध्याय मे विदु (विदुर) के उपदेशो का सकलन है। ऋषिभाषित मे इन्हे अर्हत् ऋषि कहा गया है। जैन साहित्य मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त ज्ञाताधर्म कथा[१६४] मे भी विदुर का उल्लेख है। उसमे अर्जुन, भीमसेन, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, गगेय आदि के साथ विदुर का भी नामोल्लेख मात्र है। इसके अतिरिक्त आगम साहित्य मे अन्यत्र कही विदुर का उल्लेख नही है।

प्रस्तुत अध्याय मे विदुर के उपदेश के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम यह बताया गया है कि वही विद्या महाविद्या, या सर्व विद्याओ मे श्रेष्ठ विद्या है जो सभी दु खो से मुक्त करती है। पुन. यह कहा गया है कि जिस विद्या के द्वारा जीवो की गति एव आगति का, बन्धन और मुक्ति का तथा आत्मभाव का बोध होता है, वह विद्या दु खो से मुक्त कर सकती है। विदुर ऋपि का यह कथन उस औपनिषदिक कथन का ही रूप है जिसमे कहा गया है कि 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् वही विद्या है जो मुक्ति दिलाती है। पुन इसमे यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार रोग का परिज्ञान और उसका सम्यक् निदान तथा उसकी औषधि का परिज्ञान सही चिकित्सा के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार मुक्ति के लिए ज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही इस अध्याय मे स्वाध्याय और ध्यान पर विशेप रूप से बल दिया गया है। यह भी कहा गया है कि जितेन्द्रिय साधक ससार-वास का समस्त प्रकार से परिज्ञान करके स्वाध्याय और ध्यान मे सलग्न होकर सावद्य प्रवृत्ति के कार्यो से विमुख होता हुआ निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण करे। समस्त परकीय या वैभाविक दशाये सावद्य योग है, दुश्चरित्र है, ऐसा समझकर उनका आचरण न करे। जो साधक इस प्रकार से आचरण करता है वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय मुख्य रूप से सर्वप्रथम स्वाध्याय और ध्यान के साथ सम्यक् ज्ञान पर बल देता है और उसके साथ सावद्य या हिसक प्रवृत्तियो से विमुख होकर अहिसक प्रवृत्ति के आचरण का सन्देश देता है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा[१६५] मे भी हमे 'विधुर' (विदुर) का उल्लेख मिलता है। यद्यपि विधुर की जो कथा बौद्ध परम्परा मे उपलब्ध होती है उसका जैन और वैदिक परम्परा मे उपलब्ध विदुर की कथा से कोई साम्य नही है। बौद्ध परम्परा मे इन्हे ककुसन्ध बुद्ध के दो अग्र श्रावको मे एक माना गया है। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार बोधिसत्त्व के एक जन्म का नाम विदुर था। इस प्रकार

---

१६३ ऋषिभाषित १७ वाँ अध्ययन

१६४ ज्ञाताधर्मकथा सूत्र ११७

१६५ देखे–डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स (मलाल शेखर) खण्ड २, पृ. ८८२, ८८३

बौद्ध परम्परा के विदुर सम्बन्धी इन कथानको का जैन परम्परा के इन विदुर से कोई साम्यता खोज पाना कठिन ही है ।

वैदिक परम्परा मे और विशेष रूप से महाभारत मे विदुर का विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है । इन्हे व्यास के द्वारा अम्बिका की दासी से उत्पन्न बताया गया है । इस प्रकार ये शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न ब्राह्मण पुत्र है । महाभारत के आदि पर्व तथा सभापर्व मे इनका विस्तार से उल्लेख मिलता है । महाभारत के स्त्री-पर्व[१६६] मे इनके उपदेश विस्तार से सकलित है । यदि हम इन उपदेशो को ध्यान पूर्वक देखे तो चाहे उनमे और ऋषिभाषित के उपदेशो मे कोई शाब्दिक समानता न हो, पर वैचारिक समानता स्पष्ट रूप से देखी जाती है । इस आधार पर यह माना जा सकता है कि महाभारत मे उल्लिखित विदुर और ऋषिभाषित के उल्लिखित विदुर एक ही व्यक्ति रहे होगे ।

१८. वारिषेण कृष्ण

ऋषिभाषित[१६७] का १८ वाँ अध्ययन वारिषेण कृष्ण (वरिसव कण्ह) के उपदेशो से सम्बन्धित है । वारिषेण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरित स्थानाग[१६८] मे उपलब्ध होता है । समवायाग[१६९] मे चार जिन प्रतिमाओ ऋषभ और वर्धमान के साथ चन्द्रानन और वारिषेण का भी उल्लेख है । चन्द्रानन और वारिषेण को ऐरावत क्षेत्र का क्रमश. प्रथम एव अन्तिम तीर्थङ्कर कहा गया है । इसके अतिरिक्त स्थानाङ्ग मे काश्यप गोत्र की एक शाखा 'वारिसकण्हा' कही गयी है । अन्तकृद्दशा[१७०] मे वारिषेण को वसुदेव का पुत्र कहा गया है तथा अन्तकृद् ऋषि कहा गया है । इससे इतना तो निश्चित हो जाता है कि ये कृष्ण के समकालीन और अरिष्टनेमि के युग के ऋषि हैं । किन्तु, ऋषिभाषित मे इनके नाम के साथ कण्ह (कृष्ण) शब्द विशेष विचार के लिए प्रेरित करता है । वसुदेव के पुत्र के रूप मे क्या ये स्वय कृष्ण तो नही थे ? प्रस्तुत अध्याय मे यह बतलाया गया है कि जो व्यक्ति प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक और अरति से लेकर मिथ्या-दर्शन शल्य तक के वर्ज्यो (अनाचरणीय कर्मों या पाप कर्मो) का सेवन करता है, वह हस्त-छेदन या पाद-छेदन आदि को प्राप्त होता है और जो इन वर्ज्यों (पापो) का सेवन नही करता है वह सिद्ध स्थान को प्राप्त करता है । ज्ञातव्य है कि हस्त-छेदन पादच्छेद आदि कथन ऋषिभाषित के अध्याय ९ एव १५ मे उल्लिखित है । अन्त मे यह कहा

---

१६६ महाभारत, स्त्रीपर्व अध्याय २ से ७

१६७ ऋपिभाषित अट्ठारहवाँ अध्ययन

१६८ स्थानाग सूत्र ६४३

१६९ सयवायाग सूत्र १५९

१७०. अन्तकृद्दशा ८

गया है कि जिस प्रकार शकुनि (पक्षी) फल को छेद डालता है और राज्य को खण्ड-खण्ड कर देता है या कमल पत्र जल से निर्लिप्त रहता है उसी प्रकार साधक को कर्मफल को छेदकर पाप कर्मो से निर्लिप्त रहना चाहिए।

महाभारत के भीष्मपर्व[171] मे कृष्ण का एक नाम वार्ष्णेय भी बताया गया है। वृष्णि वश का होने के कारण उन्हे वार्ष्णेय कहा गया है। उपनिषदो और ब्राह्मणो[172] मे भी वृष्णि वश के लोगो को वार्ष्णेय या वार्ष्ण्य कहा गया है। श्री कृष्ण वृष्णिवश से सम्बन्धित थे। यद्यपि वृष्णि का प्राकृत वण्हि होता है 'वरिसव' का वारिषेण होता है। यद्यपि 'वरिस' से सस्कृत रूप वृष्णि की सम्भावना हो सकती है। इससे इतना तो निश्चित है कि ये कोई साधक ऋषि थे, जो अरिष्टनेमि के समकालीन थे। पाली साहित्य मे दीघनिकाय के अम्बट्ठ सुत्त मे कृष्ण ऋषि का उल्लेख है और अम्बट्ठ को इनकी परम्परा का बताया गया है। इसी प्रकार औपपातिक सूत्र मे ब्राह्मण परिव्राजको की एक शाखा को 'कण्ह' कहा गया है। यह सम्भव है कि 'वरिसव कण्ह' ही इस शाखाके प्रवर्तक हो। औपपातिक मे ब्राह्मण परिव्राजको की एक अन्य शाखा 'दीवायण कण्ह' (द्वैपायन कृष्ण) भी थी। अत प्रथम शाखा 'वरिसव कण्ह' से सम्बन्धित रही होगी।

१९. आरियायण

ऋषिभाषित[173] का १९ वॉ अध्ययन आरियायण नामक अर्हत् ऋषि से सम्वन्धित है। आरियायण का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता है। बौद्ध और वैदिक परम्पराये भी इनके सम्बन्ध मे मौन हैं। अत इनके व्यक्तित्व और ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे निर्णयात्मक रूप से कुछ कह पाना कठिन है। प्रस्तुत अध्याय मे यह कहा गया है कि सर्वप्रथम आर्य ही थे। पुन उपदेश के रूप मे यह बताया गया है कि अनार्य भाव, अनार्य कर्म और अनार्य मित्र का वर्जन करना चाहिए, क्योकि जो अनार्य भाव, अनार्य कर्म और अनार्य मित्र का ससर्ग करता है वह भवसागर मे परिभ्रमण करता है। इसके विपरीत जो आर्य-भाव, आर्य कर्म और आर्य मित्रो से युक्त होता है वह आर्यत्व को प्राप्त होता है। अन्त मे कहा गया है कि आर्य भाव, आर्य ज्ञान और आर्य चरित्र उचित है, अत इनकी सेवा करना चाहिए।

इस सक्षिप्त उपदेश के अतिरिक्त इनके सम्बन्ध मे अन्य कोई जानकारी हमे उपलब्ध नही है।

---

१७१ भीष्म पर्व २७/३६

१७२ शतपथ ब्राह्मण ३, १, १, ४

१७३ ऋषिभाषित १९वाँ अध्ययन

२०. उत्कट (भौतिकवादी)

ऋषिभाषित के बीसवे अध्ययन[१७४] का नाम उत्कल या उत्कट है। इस अध्याय के प्रवक्ता के रूप मे किसी ऋषि के नाम का उल्लेख नही है। यद्यपि अध्याय के अन्त मे दूसरे अध्यायो के समान ही 'एव सिद्धे बुद्धे……त्तिवेमि' कहा गया है, किन्तु इस कथन का पूर्व कथन से कोई सम्बन्ध सिद्ध नही होता है। मात्र अन्य अध्यायो की शैली मे ही यह वाक्याश यहाँ रख दिया गया है। वस्तुतः प्रस्तुत अध्याय मे भौतिकवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन होने से इसके प्रवक्ता के रूप मे किसी ऋषि का उल्लेख नही किया गया। इस अध्याय मे पाँच प्रकार के उत्कट बताये गये है—दण्डोत्कट, रज्जूत्कट, स्तेनोत्कट, देशोत्कट और सर्वोत्कट। सर्वप्रथम इस सन्दर्भ मे उत्कट शब्द का अर्थ विचारणीय है। वैसे तो उत्कट शब्द के अनेक अर्थ होते है, किन्तु यहाँ उत्कट का उन्मत्त या विषम अर्थ करना ही उचित होगा। उत्कट का एक अर्थ मदिरा भी है। वस्तुतः भौतिकवादी जीवन-दृष्टि अध्यात्मवाद की विरोधी थी, इसलिए उसे उत्कट कहा गया। यह भी सम्भव है कि भौतिकवादी दृष्टिकोण को मानने वाले लोगो को अध्यात्मवादियो ने उन्मत्त कहा हो। चूकि भौतिकवादी मद्य आदि का सेवन करते थे और उसे अनुचित नही मानते थे, इसलिए भी उन्हे उत्कट कहा गया हो। यह भी सम्भव है कि मूल प्राकृत शब्द उक्कल का सस्कृत उत्कुल होगा। सस्कृत मे उत्कुल शब्द पतित या घृणित कुल के अर्थ मे आता है। यदि इसे उत्कुल माने तो इसका अर्थ होगा–किनारे से बाहर निकल कर बहने वाला अर्थात् वे व्यक्ति जो अध्यात्मवादी धारा से भिन्न मत का प्रतिपादन करते थे, उत्कुल कहे जाते होगे।

प्रस्तुत अनुवाद मे जो उत्कल रूप का प्रयोग किया गया है वह मेरी दृष्टि मे उचित नही है, उसे या तो उत्कट होना चाहिए या उत्कुल या उत्कूल। प्रस्तुत अध्याय मे जो पाँच प्रकार के उत्कट कहे गये है वे वस्तुतः पाँच प्रकार की भौतिकवादी दृष्टिया है, जो विभिन्न उदाहरणो के आधार पर अपने भौतिकवादी मान्यताओ को प्रतिपादित करती है।

दण्डोत्कट वे व्यक्ति है जो दण्ड के दृष्टान्त द्वारा यह प्रतिपादित करते है कि जिस प्रकार दण्ड के आदि, मध्य और अन्तिम भाग पृथक्-पृथक् नही रहते है, वह समुदाय मात्र है, उसी प्रकार शरीर से पृथक् कोई आत्मा नही है।

रज्जूत्कट वे है जो यह मानते है कि जिस प्रकार रस्सी विभिन्न तन्तुओ का समुदाय मात्र है, उसी प्रकार जीव भी पाँच महाभूतो का समुदाय मात्र है और इनके अलग-अलग होने पर जीवन का भी उच्छेद हो जाता है।

---

१७४ ऋषिभाषित २०

स्तेनोत्कट वे है जो अन्य शास्त्रो मे प्राप्त दृष्टान्तो को अपने पक्ष मे व्याख्यायित कर अपने ही कथन को सत्य मानते है। इस प्रकार दूसरे की मान्यताओ का खण्डन करके उनके प्रति असहिष्णु होते है। इस स्तेनोत्कटवाद के विरोध मे ही आगे चल कर निर्ग्रन्थ परम्पराओ मे अनेकान्तवाद का विकास हुआ होगा, क्योकि यहाँ 'मेरा कथन ही एकमात्र सत्य है' यह मानने वाले को दूसरो के प्रति करुणा का अपलापक कहा गया है।

देशोत्कट उन्हे कहते है जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी उसे अकर्त्ता आदि कहते है। वस्तुत आत्मा को अकर्त्ता मानने पर पुण्य, पाप, बन्धन आदि की व्यवस्था नही बन पाती है। इसलिए इस प्रकार के विचारको को देशोत्कट या आशिक रूप से भौतिकवादी कहा गया है।

इसी प्रकार सर्वोत्कट वे विचारक है जो तत्त्व की सत्ता को अस्वीकार करते हुए अभाव से ही सभी उत्पत्ति को सम्भव मानते है और यह कहते है कि कोई भी तत्त्व ऐसा नही है जो सर्वथा सर्वकालो मे अस्तित्व रखता हो। इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद का प्रतिपादन करते है, अत इन्हे सर्वोत्कट कहा जाता है।

उक्त पाँच प्रकार के उत्कटो अर्थात् भौतिकवादियो की चर्चा करने के पश्चात् सामान्य रूप से भौतिकवाद के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए शरीर से पृथक् किसी आत्मा की सत्ता को अस्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि शरीर का विनाश होने पर पुन शरीर की उत्पत्ति नही होती अर्थात् पुनर्जन्म नही होता। यही जीवन एकमात्र जीवन है। न तो परलोक है, न सुकृत-दुष्कृत कर्मो का फल, होता है, न तो पुनर्जन्म है और न पुण्य-पाप का फल ही है। पैर से लेकर केशाग्र तक जो शरीर है, वही जीव है। जिस प्रकार दग्ध बीजो से अकुर नही निकलते उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर पुन शरीर की उत्पत्ति नही होती।

इस प्रकार यह अध्याय विशुद्ध रूप से भौतिकवादी दृष्टि प्रस्तुत करता है जिसे भारतीय दर्शन मे चार्वाक दर्शन के नाम से जाना जाता है। वैसे इस प्रकार की भौतिकवादी दृष्टि का उल्लेख प्राचीन जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य मे हमे विस्तार से उपलब्ध होता है। इस अध्याय मे प्रतिपादित विचार हमे सूत्रकृताङ्ग[१७५] और राजप्रश्नीय[१७६] मे उपलब्ध होते है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा मे पयासीसुत्त[१७७] मे भी इसी प्रकार के विचारो का प्रतिपादन मिलता है। अत यह अध्याय उस युग मे प्रचलित भौतिकवादी जीवन दृष्टि का परिचायक कहा

---

१७५ सूत्रकृताङ्ग १/१/१/१२/

१७६ राजप्रश्नीय १६७–१८०

१७७ दीघनिकाय खण्ड २. पयासिराजञ्ञसुत्त (पालि पब्लिकेशन बोर्ड १९५८)

जा सकता है। समवायाङ्ग[१७८] मे ऋषिभाषित के ४४ अध्यायो का उल्लेख है। सम्भव है कि यह अध्याय ऋषिभाषित मे बाद मे जोडा गया हो, क्योकि यही एकमात्र ऐसा अध्याय है जो अध्यात्मवाद के प्रतिपादक ४४ अध्यायो से भिन्न है। भौतिकवादियो के लिए उत्कट शब्द का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता है। इसी प्रकार भौतिकवादियो के इसमे जो दण्डोत्कट, रज्जूत्कट, स्तेनोत्कट, देशोत्कट और सर्वोत्कट ऐसे पाँच विभाग किये गये है वे भी अन्यत्र कही उपलब्ध नही होते है। अत. यह ऋषिभाषित की अपनी विशेषता है। भारतीय दर्शन के ग्रन्थो मे देहात्मवादी, इन्द्रियात्मवादी, प्राणात्मवादी, मनो आत्मवादी आदि जो प्रकार बताये गये है इनसे भिन्न ही है।

२१. गाथापति पुत्र तरुण

ऋषिभाषित[१७९] का २१वाँ अध्याय गाथापति पुत्र तरुण के उपदेशो से सम्बन्धित है। गाथापति पुत्र तरुण का उल्लेख ऋषिभापित के अतिरिक्त न तो जैन साहित्य मे कही उपलब्ध होता है और न बौद्ध और हिन्दू परम्परा मे ही कही इनका उल्लेख मिलता है। ऋषिभाषित मे इनका मूलभूत उपदेश ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक है। इनके अनुसार अज्ञान ही परम दु ख है, वही भय का कारण है और ससार अज्ञान मूलक है अर्थात् अज्ञान के कारण ही प्राणी ससार मे परिभ्रमण करता है। वे स्वय कहते है कि पहले मैं अज्ञान के कारण न जानता था, न देखता था, न समझता था। किन्तु अब मै ज्ञानवान होकर जानता हूँ, देखता हूँ, और समझता हूँ। पूर्व मे अज्ञान के कारण मैंने काम के वशीभूत होकर अनेक अकृत्य और अकरणीय कार्य किये, किन्तु अब ज्ञान युक्त होकर, समस्त दु.खो का अन्त कर शिव एव अचलस्थान अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करूँगा।

प्रस्तुत अध्याय मे उदाहरण देकर यह बताया गया है कि अज्ञान के कारण किस प्रकार मृग, पक्षी और हाथी पाश मे बाँधे जाते है और मत्स्यो के कण्ठ बीधे जाते हैं। किस प्रकार अज्ञान के कारण पतगा दीपक पर गिरकर जल मरता है। अज्ञान के कारण ही वृद्ध सिह जल मे अपनी परछायी को सिह समझकर अपना प्राणान्त कर लेता है। इसी प्रकार अज्ञान से विमोहित होकर माता भद्रा अपने ही पुत्र सुप्रिय का भक्षण करती है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय मे अज्ञान के दुष्प्रभावो को दिखाकर ज्ञानमार्ग के अनुसरण की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि ज्ञान के सुयोग से ही औषधियो का विन्यास, सयोजन और मिश्रण तथा विद्याओ की साधना सफल होती है। इन कथनो से यह फलित होता है कि गाथापति पुत्र तरुण

---

१७८ समवायाङ्ग—समवाय ४४

१७९ ऋपिभापित २१वाँ अध्ययन

ज्ञानमार्ग की परम्परा के कोई ऋषि रहे होगे । जैन और बौद्ध तथा वैदिक परम्परा मे इनके सम्बन्ध मे कोई सूचना नही मिलने से इनके विषय मे अधिक कुछ कह पाना सम्भव नही है । यद्यपि इसकी जल मे अपनी परछाईं को ही दूसरा सिह समझकर, कुएे मे कूदकर सिह के प्राणान्त की कथा पञ्चतन्त्र मे भी उपलब्ध है ।[१८०] इससे पचतन्त्र की कथा और ऋषिभाषित दोनो की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है ।

२२. गर्दभाल (दगभाल)

ऋषिभाषित[१८१] का बाइसवा अध्याय गर्दभाल ऋषि से सम्बन्धित है । जहाँ तक गर्दभाल ऋषि के व्यक्तित्व का प्रश्न है, ऋषिभाषित के अतिरिक्त उत्तराध्ययन सूत्र[१८२] (१८/१९, २२) मे भी उनका उल्लेख प्राप्त होता है । इसमे उन्हे सजय का गुरु या आचार्य तथा भगवान् और विद्याचरणपारगा कहा गया है । इससे उनका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । इस प्रकार ऋषिभाषित के सजय और गर्दभिल्ल दोनो के ऐतिहासिक व्यक्ति होने की पुष्टि उत्तराध्ययन सूत्र से हो जाती है । जैन परम्परा मे इनके अतिरिक्त आचार्य कालक के समकालीन अवन्ति के राजा गर्दभिल्ल का भी उल्लेख मिलता है, जिन्होने कालक की बहन साध्वी सरस्वती का अपहरण किया था । किन्तु, ये गर्दभिल्ल भिन्न व्यक्ति है । इस सम्बन्ध मे सन्देह का कोई अवकाश नही है कि उत्तराध्ययन सूत्र और ऋषिभाषित के गद्दभाल/दगभाल एक ही व्यक्ति है ।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे वर्णित इनके उपदेश का प्रश्न है उसमे प्रथम तो ये यह बताते हैं कि कर्म हिंसा से युक्त (परिशात) होते है, किन्तु बुद्ध हिंसा से रहित होते हैं और इसीलिये वे पुष्करणि मे रहे कमल पत्र की तरह रज (कर्म रज) से लिप्त नही होते है । इसके पश्चात् समग्र अध्याय पुरुष की प्रधानता और नारी की निन्दा से भरा हुआ है । सर्वप्रथम पुरुष की प्रधानता के सम्बन्ध मे कहा गया है कि सभी धर्म पुरुष से प्रारम्भ होते है और पुरुष प्रवर, पुरुष ज्येष्ठ, पुरुष आश्रित, पुरुष प्रकाशित, पुरुष समन्वित और पुरुष केन्द्रित होते है । जिस प्रकार व्रण शरीर आश्रित होते है, वाल्मीक पृथ्वी आश्रित होते है, कमल जल आश्रित होते है और अग्नि अरणी (वृक्ष विशेष की लकडी) के आश्रित होती है, इसी प्रकार धर्म पुरुष के आश्रित होते है । द्रष्टव्य यह है कि यहाँ ऋषिभाषित के सस्कृत टीकाकार एव शुब्रिग ने तथा प्रस्तुत अनुवादक ने धर्म का तात्पर्य ग्राम्यधर्म अर्थात् मैथुनाभिलाष बताया है, किन्तु मेरी दृष्टि मे यहाँ धर्म इस अर्थ मे नही है, अपितु धर्म धार्मिक परम्पराओ या धार्मिक सम्प्रदायो के ही अर्थ मे प्रयुक्त है । जैन धर्म मे दस कल्पो मे पुरुष ज्येष्ठ

---

१८०. पचतन्त्र पृ ९७–१०५ (चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९८५)

१८१. ऋषिभाषित २२वाँ अध्ययन

१८२ उत्तराध्ययन १८/१९,२२

कल्प है, जो यह मानता है कि धार्मिक व्यवस्थाओं के संदर्भ मे पुरुष ही प्रधान है और सौ वर्ष की दीक्षित आर्या के लिये भी सद्य दीक्षित पुरुष वदनीय है। इस प्रकार इसमे पुरुष की ज्येष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। पुरुष के इस ज्येष्ठता की व्यवस्था बुद्ध ने भी अपनी सघ व्यवस्था मे स्वीकार की थी, अत धर्म शब्द का अर्थ धर्म सघ ही लेना चाहिए, न कि आचाराङ्ग आदि की शैली पर ग्राम्य-धर्म अर्थात् कामवासना को।

अध्याय की अग्रिम गाथाओ मे जो नारी निन्दा की गयी है, उससे भी स्पष्ट होता है कि यहाँ धार्मिक व्यवस्थाओं के सदर्भ मे स्त्री की अपेक्षा पुरुष की प्रधानता स्थापित की गई है। नारी-निन्दा करते हुए इस अध्याय मे कहा गया है कि वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य है, जहाँ महिला शासन करती हो। इसी प्रकार वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य है, जो नारी के वश मे रहते है। नारी सिह युक्त स्वर्णगुफा, विषयुक्त पुष्प माला और भवरो से युक्त नदी के समान है। वह मदोन्मत्त बना देने वाली मदिरा है। जिस ग्राम और नगर मे स्त्रिया बलवान है, बेलगाम घोडे की तरह स्वच्छद है, वे ग्राम और नगर अपर्व के दिनो मे मुण्डन के समान है, अर्थात् निन्दनीय है। इससे यह स्पष्ट है कि गर्दभिल्ल ऋषि पुरुष की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता के प्रतिपादक थे। यद्यपि प्रस्तुत अध्याय की एक गाथा ऐसी अवश्य है, जिसमे स्त्री की प्रशसा मिलती है। इसमे कहा गया है कि स्त्री सुदिव्य कुल की प्रशस्ति, मधुर जल, विकसित रम्य कमलिनी और सर्पवेष्टित मालती लता के समान है। यद्यपि इस प्रशसा के अन्त मे भी सर्पवेष्टित मालती लता कह कर उसे वर्जनीय ही बताया गया है।

इस अध्याय के अन्त मे बन्धन के कारणो के सम्यक् परिज्ञान की शिक्षा देते हुए अन्त मे ध्यान मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। वे अन्त मे कहते है कि जिस प्रकार शरीर मे मस्तक और वृक्ष के लिये जड आधारभूत है उसी प्रकार समस्त मुनियो के लिये ध्यान आधारभूत है। उत्तराध्ययन मे गर्दभिल्ल के सम्बन्ध मे जो विशेषण प्रयुक्त है, वे भी उनके ध्यान मार्ग की परम्परा से सम्बन्धित होने के तथ्य की पुष्टि करते है। उनमे उन्हे तपोधन, स्वाध्याय और ध्यान से सयुक्त धर्मध्यान का ध्याता कहा गया है (१८/४)।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध परम्परा मे हमे गर्दभिल्ल का कही उल्लेख नही मिलता, किन्तु वैदिक परम्परा मे बृहदारण्यक उपनिषद् मे जनक के समकालीन गर्दभी विपीत या गर्दभी विभीत नामक एक आचार्य का उल्लेख मिलता है।[१८३] यद्यपि साक्ष्यो के अभाव मे आज यह कह पाना कठिन है कि बृहदारण्यक उपनिषद् के गर्दभी विभीत और ऋषिभाषित के दगभाल-गद्दभाल एक ही व्यक्ति है।

---

१८३ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/१/५

महाभारत के अनुशासन पर्व[१८४] मे विश्वामित्र के एक ब्रह्मवादी पुत्र के रूप मे गर्दभी का उल्लेख मिलता है। उसमे उन्हे ब्रह्मवादी और महान् ऋषि कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये उस युग के एक प्रभावशाली ऋषि थे। यद्यपि उसमे इन्हे विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है, यह मुझे समुचित नही लगता है, क्योकि न केवल इन्हे अपितु गार्गि, याज्ञवल्क्य, नारद, कपिल आदि को भी विश्वामित्र के पुत्र के रूप मे उल्लिखित किया गया है, जो सत्य प्रतीत नही होता। एक सभावना अवश्य प्रकट की जा सकती है कि ये विश्वामित्र की शिष्य परम्परा मे रहे हो। फिर भी इतना अवश्य कह सकते है कि गर्दभिल्ल या गार्दभि एक ऐतिहासिक ऋपि रहे होगे और सभवत ये औपनिषदिक काल के ही ऋषि होगे।

२३. रामपुत्त

ऋषिभाषित[१८५] के २३ वे अध्याय मे रामपुत्त के उपदेशो का सकलन है। सूत्रकृताङ्ग[१८६], स्थानाङ्ग[१८७] और अनुत्तरोपपातिक[१८८] मे भी इनका उल्लेख मिलता है। सूत्रकृताङ्ग[१८९] मे उनका उल्लेख असित देवल, नमि, नारायण, बाहुक, द्वैपायन, पाराशर आदि के साथ हुआ है और इन्हे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे मान्य (इह सम्मता) कहा गया है और बताया गया है कि इन्होने आहार आदि सेवन करते हुए मुक्ति प्राप्त की। ज्ञातव्य है कि सूत्रकृताङ्ग की कुछ मुद्रित प्रतियो एव शीलाङ्क की टीका मे रामगुत्त पाठ भी मिलता है, किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। सूत्रकृताङ्ग चूर्णी मे जो 'रामाउत्ते' पाठ है वही शुद्ध है और उसका सस्कृत रूप 'रामपुत्र' बनता है। इस सम्बन्ध मे प 'बेचरदास दोशी स्मृतिग्रन्थ' मे मेरा और प्रो एम ए ढाकी का एक लेख प्रकाशित है, जिसमे यह सिद्ध किया गया है कि यह पाठ क्यो शुद्ध है। सूत्रकृताङ्ग के अतिरिक्त स्थानाङ्ग की सूचना के अनुसार अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषय वस्तु मे एक रामपुत्त नामक अध्ययन था, जो वर्तमान अन्तकृत्दशा मे अनुप-

---

१८४ महाभारत अनुशासन पर्व ४/१

१८५ ऋषिभाषित २३वाँ अध्ययन

१८६ सूत्रकृताग १/३/४/२,३

१८७ स्थानाङ्ग ७५५

१८८ अनुत्तरोपपातिक ३/६

१८९ सूत्रकृताङ्ग शीलाङ्क वृत्ति खण्ड 2 पृ ७३ (म जै ज्ञानोदय सोसा राजकोट)।
अभुजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुजिआ।
बाहुए उदग भोच्चा, तहा नारायणे रिसी।
असित्ते देविले चेव दीवायण महारिसी।
पारासरे दग भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य॥

लब्ध है। सभवत. इस अध्याय मे रामपुत्त के जीवन एव उपदेशो का सकलन रहा होगा। इसके अतिरिक्त अनुत्तरोपपातिक के तीसरे वर्ग का छठा अध्याय भी रामपुत्त से सम्बन्धित है। यहाँ इन्हे साकेत निवासी और महावीर का समकालीन कहा गया है। इन दो तथ्यो के अतिरिक्त उसमे उपलब्ध अन्य विवरणो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे कहना कठिन है। सूत्रकृताङ्ग और ऋषिभाषित दोनो से ही यह सिद्ध हो जाता है कि रामपुत्त मूलत निर्ग्रन्थ परम्परा के नही थे, फिर भी उसमे उन्हे सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था।

बौद्ध परम्परा मे भी हमे रामपुत्त का उल्लेख मिलता है। पालि त्रिपिटक[१६०] के उल्लेखो के अनुसार इनका पूरा नाम उद्दक रामपुत्त था। ये बुद्ध से आयु मे बड़े थे। प्रारम्भ मे बुद्ध ने इनसे ध्यान-साधना की शिक्षा ली थी, किन्तु जब बुद्ध ज्ञान प्राप्त कर, इन्हे पात्र जान कर उपदेश देने जाने को तत्पर हुए तो इन्हे ज्ञात हुआ कि इनकी मृत्यु हो चुकी है। इस प्रकार ये महावीर और बुद्ध के ज्येष्ठ समकालीन थे। पाली त्रिपिटक से यह भी ज्ञात होता है कि इनकी योगसाधना की अपनी विशिष्ट पद्धति थी और पर्याप्त सख्या मे इनकी शिष्य-सम्पदा भी थी। बुद्ध का इनके प्रति समादर भाव था।

प्रस्तुत अध्याय मे रामपुत्त का उपदेश गद्य रूप मे मिलता है। सर्वप्रथम इसमे दो प्रकार के मरणो का उल्लेख है—सुखपूर्वक मरण (समाधिपूर्वक मरण) और दु खपूर्वक मरण (असमाधि पूर्वक मरण)। पुन इसमे यह भी बताया गया है कि ससार के बन्धनो से मुक्ति के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पालन करना चाहिए। साधक ज्ञान के द्वारा जाने, दर्शन के द्वारा देखे, चारित्र के द्वारा सयम करे और तप के द्वारा अष्टविध कर्मरज का विधुनन करे।

प्रस्तुत अध्याय की विचारधारा का विकसित रूप हमे उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन आगम ग्रन्थ मे भी मिलता है। उत्तराध्ययन के पाँचवे अध्याय मे मरण के इन दो प्रकारो की विस्तृत चर्चा है, साथ ही उसके २८ वे अध्याय मे ज्ञान के द्वारा जानने, दर्शन के द्वारा श्रद्धा करने, चारित्र के द्वारा परिग्रहण और तप द्वारा परिशोधन की बात कही गयी है। उत्तराध्ययन भी तप के द्वारा अष्टविध कर्मो के निर्जरा की वात कहता है, फिर भी ऋषिभाषित का यह पाठ उत्तराध्ययन की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। चूकि इसकी भाषा उत्तराध्ययन की अपेक्षा प्राचीन शैली की है। दूसरे इसमे 'दसणेण सद्दहे' के स्थान पर 'दसणेण पासित्ता' पाठ मिलता है, जो अधिक प्राचीन है, क्योकि जैन परम्परा मे दर्शन शब्द का श्रद्धापरक अर्थ एक परवर्ती

---

१६० (अ) जातक खण्ड १ पृ ६६,८१ (Edited by Fansboll)

(व) पालि त्रिपिटक के अन्य सन्दर्भो के लिये देखिये–Dictionary of pali proper Names by J P Malal Sekhar, 1937, Vol. I, P 382–83

घटना है। आचाराङ्ग मे दर्शन देखने के अर्थ मे आता है जबकि सर्वप्रथम उत्तराध्ययन मे दर्शन का अर्थ श्रद्धा किया गया है। पुन· इससे ऐसा लगता है कि वर्तमान मे जैन परम्परा मे आज कर्म की जो अवधारणा है, उसका मूल भी रामपुत्त के दर्शन मे रहा होगा। इन आधारो से यह निश्चित होता है कि रामपुत्त महावीर एव बुद्ध से ज्येष्ठ श्रमण परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य थे, साथ ही ऋषिभाषित, सूत्रकृताङ्ग और पालित्रिपिटक के रामपुत्त एक ही व्यक्ति है। इन्हे उद्दक-रामपुत्त भी कहा गया है।

२४. हरिगिरि

ऋषिभाषित[१६१] के चौबीसवे अध्ययन मे हरिगिरि के उपदेशो का सकलन है। इन्हे अर्हत् ऋषि कहा गया है। हरिगिरि के सम्बन्ध मे हमे ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से कोई सूचना उपलब्ध नही होती। अत इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे अधिक कह पाना कठिन है। जहाँ तक इनके उपदेशो का प्रश्न है सर्वप्रथम ये कहते है कि पहले सब कुछ भव्य अर्थात् नियत था, किन्तु अब वह अभव्य अर्थात् अनियत है। इनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब तक व्यक्ति अज्ञान मे है तब उसका वर्तमान उसके पूर्वकृत बन्धनो के या कर्मो के अनुरूप अर्थात् नियत ही होता है, किन्तु ज्ञान के होने पर वह अपने भविष्य का निर्माता बनता है, इसलिए उसका भविष्य उसके पुरुषार्थ पर निर्भर रहता है, अर्थात् अनियत होता है। दूसरे शब्दो मे अतीत हमारा निर्माता है, किन्तु हम स्वय अपने भविष्य के निर्माता भी है। अत अतीत भव्य 'नियत' है और भविष्य अभव्य अनियत है। वस्तुत यहाँ उनका प्रतिपाद्य यही है कि व्यक्ति का वर्तमान उसके भूत के आधार पर निर्मित होता है वह नियत होता है, किन्तु व्यक्ति अपने पुरुषार्थ और ज्ञान के द्वारा अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है। अत. प्रबुद्ध साधक का भावी अनियत अर्थात् अभव्य होता है। वस्तुत यह नियतता और अनियतता का प्रश्न कर्मसिद्धान्त के साथ जुडा हुआ है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार हमारा वर्तमान हमारे भूतकालिक कर्मों का परिणाम होता है, किन्तु हम अपने भविष्य के निर्माता बन सकते है। यही भवितव्यता और अभवितव्यता की स्थिति है, जिसका प्रस्तुत अध्याय मे प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय मे कर्म-सिद्धान्त की महत्ता और उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है जो कि अन्य अध्यायो के समान ही है। कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् मुख्य रूप से कर्म के बन्धन के रूप मे मोह या अज्ञान की चर्चा की गयी है और यह बताया गया है कि व्यक्ति मोह दशा के कारण किस प्रकार कर्म का बन्धन करता है। इसी सन्दर्भ मे यह भी बताया गया है कि व्यक्ति स्वय ही बन्धन मे आता है और स्वय ही मुक्त हो सकता है। अत साधक को कर्म-परम्परा के वैचित्र्य को सम्यक् प्रकार से जानकर

---

१६१ ऋषिभाषित २४ वाँ अध्ययन

कर्म-सन्तति से मुक्त होने के लिए समाधि को प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार हम देखते है कि ऋषिभाषित मे प्रतिपादित हरिगिरि के विचारो मे मनुष्य के सन्दर्भ मे नियति (भवितव्यता) और पुरुषार्थ के सम्यक् सयोजन के साथ कर्म-सिद्धान्त और कर्म-बन्धन के रूप मे मोह के परिणामो की विस्तृत चर्चा की गयी है, किन्तु ये सभी तथ्य समान रूप से अन्य ऋषियो के कथनो मे भी मिलते है। अत यह बता पाना कि हरिगिरि का कोई विशिष्ट दर्शन था, कठिन है, मात्र हम यही कह सकते है कि उन्होने नियतिवाद और पुरुपार्थवाद के समन्वयक के रूप मे कर्म-सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था।

बौद्ध परम्परा मे हारित थेर का उल्लेख उपलब्ध है[१६२] किन्तु यह कह पाना कठिन है कि ये हारित थेर और ऋषिभाषित के हरिगिरि एक ही व्यक्ति होगे। यद्यपि बौद्ध परम्परा मे इनका अर्हत् तथा विशिष्ट तपस्वी के रूप मे स्मरण किया गया है, किन्तु उपलब्ध विवरणो के अभाव मे निश्चयात्मक रूप से इनके बारे मे कुछ कह पाना कठिन है। बौद्ध परम्परा के अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी आचार्यो की जो वश-सूची दी गयी है उसमे कश्यप के शिष्य हरित कश्यप का उल्लेख है।[१६३] मेरी दृष्टि से यह सभव है कि बृहदारण्यक उपनिषद् मे वर्णित हरित ऋषि ही ऋषि-भाषित के हरिगिरि हो। यद्यपि स्पष्ट प्रमाण के अभाव मे इसे भी निश्चयात्मक रूप से स्वीकार कर पाना कठिन है।

२५. अम्बड परिव्राजक

ऋषिभाषित का २५वा[१६४] अध्याय अम्बड परिव्राजक का है। जैन आगम साहित्य मे इनका उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त समवायाङ्ग,[१६५] भगवती,[१६६] औपपातिक[१६७] एव स्थानाङ्ग[१६८] मे भी मिलता है। समवायाङ्ग मे इन्हे आगामी उत्सर्पिणी कालचक्र मे होने वाला तीर्थङ्कर कहा गया है। भगवतीसूत्र के अनुसार ये श्रावस्ती के निवासी एक परिव्राजक थे। महावीर से चर्चा के उपरान्त अम्बड सन्यासी द्वारा श्रावक धर्म ग्रहण करने सम्बन्धी उल्लेख भगवती और औपपातिक सूत्र मे मिलता है। इससे यह फलित होता है कि महावीर के धर्म के प्रति निष्ठावान

---

१६२ देखे—डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स भाग २ पृ १३२३–१३२४
१६३ बृहदारण्यकोपनिद् ६१/४१/३३
१६४ ऋपिभापित, २५वाँ अध्ययन
१६५ समवायाग, सूत्र १५६
१६६ भगवती मूत्र ५२६–५३०
१६७ औपपातिक मूत्र ३८–४०
१६८ स्थानाग सूत्र ६६२

होकर भी इन्होने अपनी स्वतत्र परम्परा को बनाये रखा था। औपपातिक से यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण परिव्राजको की एक शाखा उनके नाम पर प्रसिद्ध थी जो सभवत. औपपातिक के वर्तमान स्वरूप निर्धारण काल अर्थात् ईसा की चौथी–पाचवी शती तक चलती रही होगी। इसी प्रकार स्थानाङ्ग के अनुसार अन्तकृत्दशा का दसवा अध्याय अम्बड परिव्राजक से सम्बन्धित था, यद्यपि वर्तमान अन्तकृत्दशा मे यह अध्याय (दशा) अनुपलब्ध है। औपपातिक मे इस सम्बन्ध मे भी विस्तार से चर्चा की गई है कि अम्बड आदि इन ब्राह्मण परिव्राजको की कल्प्य-अकल्प्य अर्थात् आचार व्यवहार की क्या व्यवस्था थी। यद्यपि विस्तार भय से इसकी समग्र चर्चा यहाँ अपेक्षित नही है। औपपातिक मे इस सम्बन्ध मे विस्तार से विवरण उपलब्ध है कि अम्बड परिव्राजक और उनके शिष्यो ने किस प्रकार बिना दिये जल ग्रहण नही करने के अपने नियम के पालनार्थ पुरिमताल नगर की ओर जाते हुए मार्ग के एक वन खड मे गगा नदी के किनारे ग्रीष्म ऋतु मे बालू की शय्या पर सल्लेखना ग्रहण कर अपने प्राण त्याग दिये। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह विवेचन महत्वपूर्ण है और अम्बड परिव्राजक की आचार-परम्परा की एक विस्तृत झाकी प्रस्तुत करता है। जैन आगम साहित्य मे सर्वत्र ही अम्बड परिव्राजक का आदर के साथ उल्लेख हुआ है।

बौद्ध परम्परा[१९९] मे अम्बट्ठ माणवक का उल्लेख मिलता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार अम्बट्ठ पोष्कर साती ब्राह्मण के शिष्य थे तथा इनका भगवान् बुद्ध से ब्राह्मणो की श्रेष्ठता को लेकर विवाद हुआ था। जहाँ एक ओर अम्बट्ठ शाक्यो को निम्न जाति का बताते थे, वही दूसरी ओर अन्य लोग अम्बट्ठ को दासी पुत्र कह कर अपमानित करते थे।

इस समग्र चर्चा के उपसहार के रूप मे बुद्ध जातिवाद या वर्ण व्यवस्था मे आचरण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रसग मे मुख्य रूप से यह द्रष्टव्य है कि अम्बट्ठ को कृष्ण ऋषि की वश परम्परा का अर्थात् कार्ष्णायन कहा गया है। ज्ञातव्य है कि औपपातिक मे ब्राह्मण परव्राजको की एक परम्परा का नाम 'कण्ह' है। हो सकता है कि अम्बट्ठ सुत्त मे उल्लिखित कृष्ण ऋषि ऋषिभाषित के वारिसव कण्ह हो।

जहाँ तक वैदिक परम्परा[२००] का प्रश्न है, हमे अम्बष्ठ का उल्लेख एक जाति के रूप मे ही मिलता है, जो कि ब्राह्मण पिता और वैश्य स्त्री द्वारा उत्पन्न हुई थी। बौद्ध परम्परा मे इस जाति को क्षत्रिय पिता और दास सभवत शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान कहा गया है। जहाँ तक अम्बड या अम्बष्ठ के एक ऋषि के रूप मे

---

१९९ दीघनिकाय खण्ड १ पृष्ठ ८७ (पालि टेक्स्ट सोसाइटी)

२०० ऐतरेय ब्राह्मण ८,२१

उल्लिखित होने का प्रश्न है, बौद्ध और वैदिक परम्परा हमे कोई सूचना प्रदान नही करती।

ऋषिभाषित के अम्बड नामक अध्याय मे योगन्धरायण ऋषि का भी उल्लेख आता है। इनके सम्बन्ध मे जैन परम्परा मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त आवश्यक-चूर्णी[२०१] मे भी विवरण प्राप्त होता है। आवश्यकचूर्णी मे इन्हे उदायन राजा का अमात्य कहा गया है। अत अम्बड और योगन्धरायण निश्चित रूप से महावीर के समकालीन थे।

२६. मातङ्ग

ऋषिभाषित[२०२] के छब्बीसवे अध्याय मे मातङ्ग नामक अर्हत् ऋषि के उपदेशो का सकलन है। जैन परम्परा मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त मातङ्ग का उल्लेख अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता है। यद्यपि आवश्यक मे मातङ्ग यक्ष का उल्लेख है, किन्तु उनका ऋषिभाषित के मातङ्ग से सम्बन्ध स्थापित कर पाना कठिन है। ऋषिभाषित के मातङ्ग नामक अध्याय मे सर्वप्रथम सच्चे ब्राह्मण के लक्षण बताये गये हैं, ये लक्षण उत्तराध्ययन[२०३] के पच्चीसवे अध्याय से दिये गये सच्चे ब्राह्मण के लक्षणो से समानता रखते है। इसी प्रकार धम्मपद[२०४] के ब्राह्मण वर्ग मे प्रतिपादित ब्राह्मणो के लक्षणो से भी इनकी समानता है। यद्यपि यहाँ केवल छह गाथाओ मे इन लक्षणो का उल्लेख है जब कि उत्तराध्ययन और धम्मपद मे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से इनका उल्लेख पाया जाता है। फिर भी शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त विषय वस्तु की दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नही है। इसके अतिरिक्त इसी अध्याय मे आध्यात्मिक कृषि का विवेचन है। यह विवेचन ऋषिभाषित के ३२वे पिंगीय नामक अध्याय मे तथा बौद्ध ग्रथ सुत्तनिपात[२०५] के कसी-भारद्वाज सुत्त मे भी मिलता है। इस अध्याय के अन्त मे यह कहा गया है कि जो इस प्रकार की सर्व प्राणियो की दया से युक्त कृषि करता है, वह चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र हो–वह विशुद्धि को प्राप्त करता है। ज्ञातव्य है कि ऋषिभाषित के ३२वे पिंगीय नामक अध्याय की गाथा क्रमाक ४ भी शब्दश. यही है।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध परम्परा मे भी मातङ्ग का उल्लेख मिलता है। बौद्ध परम्परा मे मातङ्ग को प्रत्येकबुद्ध कहा गया है और इन्हे राजगृह का

---

२०१ (अ) आवश्यक चूर्णि–भाग १ पृ १३
(ब) देखे—Prakrit Proper Names Vol I P. 56

२०२ ऋषिभाषित २६ वाँ अध्ययन

२०३ उत्तराध्ययन सूत्र २५/१६–२६

२०४ धम्मपद ब्राह्मण वर्ग ४०५–४१०

२०५ सुत्तनिपात उरगवर्ग कसिभारद्वाज सुत्त

निवासी बताया गया है। मातङ्ग जातक[२०६] के अनुसार इनका जन्म चाण्डाल कुल मे हुआ था और इन्होने ब्राह्मणो के जाति अहकार को नष्ट किया था। ऋषिभाषित मे इनके उपदेशो मे सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का प्रतिपादन भी यही सूचित करता है कि ये जन्मना आधार पर ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता को अस्वीकार करते थे।

मातङ्ग शब्द चाण्डाल जाति का सूचक है। द्रष्टव्य है कि बौद्ध परम्परा के मातङ्ग जातक की कथा उत्तराध्ययन[२०७] के हरकेशी नामक १२वे अध्याय से समरूपता रखती है।

ब्राह्मण परम्परा मे महाभारत[२०८] मे भी हमे मातग ऋषि का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत मे उपलब्ध मातङ्ग मुनि के उपदेशो का सारतत्त्व यही है कि वीर पुरुष को सदैव ही प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसे किसी के सामने नतमस्तक नही होना चाहिए, क्योकि उद्योग करना ही पुरुष का कर्त्तव्य है। वीर पुरुष चाहे असमय मे नष्ट भले ही हो जाये, परन्तु कभी भी अपना सिर नही झुकाते। जब हम मातङ्ग के इस उपदेश की तुलना ऋषिभाषित के उपदेश से करते है तो दोनो में एक समानता तो स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है और यह कि दोनो मे व्यक्ति को अपने कुलधर्म के अनुसार आचरण करने का निर्देश है। ऋषिभाषित मे मातङ्ग ब्राह्मणो के शस्त्रजीवी होने एव राजा तथा वणिको के यज्ञ-याग मे प्रवर्त होने पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह तो ऐसा ही है मानो अन्धे से जुड़े हुए है। इस अध्याय मे मुख्य रूप से यह बताया गया है कि ब्राह्मण न तो धनुष और रथ से युक्त होता है और न शस्त्रधारी ही। सच्चे ब्राह्मण को न तो झूठ बोलना चाहिए और न ही चोरी करनी चाहिए।

इस समग्र चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि मातङ्ग महावीर और बुद्ध के पूर्व अध्यात्ममार्ग के प्रणेता चाण्डाल कुलोत्पन्न एक प्रमुख ऋषि थे, जिनके उपदेश जैन, बौद्ध, और वैदिक तीनों ही परम्पराओ मे आदर के साथ स्वीकार किये जाते थे।

२७. वारत्तक

ऋषिभाषित[२०९] के २७ वे अध्याय मे वारत्तक नामक अर्हत् ऋषि के उपदेशो का सकलन उपलब्ध होता है। जैन परम्परा मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त

---

२०६ (अ) जातक खण्ड ४ ३७५-९० (Ed Fausball)
(ब) देखें—Dictionary of Pali Proper Names Vol II P 599

२०७ उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १२

२०८ महाभारत उद्योग पर्व १२९/१९-२१

२०९ ऋषिभाषित २७ वां अध्ययन

आवश्यक चूर्णी[२१०], निशीथ भाष्य[२११], बृहत्कल्पभाष्य[२१२], आवश्यक हरिभद्रीय टीका[२१३] आदि मे भी इनका उल्लेख मिलता है। उपलब्ध अन्तकृत्दशा के छठे वर्ग का नवा अध्ययन भी वारत्तक से सम्बन्धित है। इसमे इन्हे राजगृह का एक व्यापारी बताया गया है, जिन्होने भगवान महावीर के समीप दीक्षा ग्रहण करके विपुल पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था। इसके विपरीत आवश्यक चूर्णी, निशीथ भाष्य, बृहत्कल्प भाष्य आदि मे वारत्तक को वारत्तपुर नगर के अभयसेन नामक राजा का मत्री बताया गया है। आवश्यक चूर्णी के अनुसार ये धर्मघोष नामक आचार्य के पास दीक्षित हुए थे। आवश्यक चूर्णी के अतिरिक्त वारत्तक की कथा हमे ऋषिमण्डलवृत्ति मे भी मिलती है। कथा के अनुसार मुनि जीवन मे ही इन्होने कोई भविष्य वाणी की थी, जिसके परिणाम स्वरूप सुसुमार नगर के राजा धुन्धुमार ने चण्डप्रद्योत पर विजय प्राप्त की। किसी समय चण्डप्रद्योत ने धुन्धुमार राजा के विजय के कारण को जानकर वारत्तक को नैमित्तिक मुनि के नाम से सम्बोधित किया। अपनी भाषा समिति सम्बन्धी भूल का ज्ञान होने पर वारत्तक मुनि ने पश्चात्ताप किया और मोक्ष को प्राप्त हुए। इस कथा मे कितनी सत्यता है यह कहना कठिन है, किन्तु वारत्तक के सम्बन्ध मे उपलब्ध यह उल्लेख इतना तो अवश्य सूचित करता है कि ये एक प्रभावशाली ऋषि रहे होगे।

प्रस्तुत अध्याय मे वारत्तक ऋषि के उपदेशो के रूप मे एक आदर्श श्रमण को कैसा होना चाहिए, इस तथ्य का चित्रण उपलब्ध होता है। इनके अनुसार मुनि सासारिक या गृहस्थो के सम्पर्क से विरत रहे, साथ ही स्नेह बन्धन को छोडकर स्वाध्याय मे तल्लीन रहकर, चित्त के विकार से दूर रह कर निर्वाण मार्ग मे लगा रहे। जो मुनि गृहस्थो का कौतूहल, लक्षण, स्वप्न आदि से मनोरजन करता है तथा दान आदि का प्रयोग करता है, भक्तो के चूडोपनयनादि वैवाहिक प्रसगो मे सम्मिलित होता है, राजाओ के साथ युद्ध मे भाग लेता है, स्वय की पूजा-मान्यता तथा लौकिक सुखो के लिये उक्त कार्य करता है, तो उपरोक्त सभी कार्य मुनि के जीवन के विपरीत है। अत श्रमण धर्मजीवी अकिचन बनकर प्रिय और अप्रिय को सहन करे और आत्म लक्ष्य का त्याग न करे। इस प्रकार वह जितेन्द्रिय, वीतराग तथा त्यागी बनता है तथा पुन ससार मे नही आता है। वारत्तक के उपर्युक्त उपदेश कुछ शाब्दिक परिवर्तनो के साथ हमे उत्तराध्ययन के सभिक्षु और पाप-श्रमण नामक अध्यायो मे भी मिलते है। यद्यपि वहाँ इनके प्रवक्ता का स्पष्ट नामोल्लेख नही है।

---

२१० आवश्यक चूर्णि भाग २ पृ १९९

२११ निशीथ भाष्य गाथा ५८९०

२१२ बृहद्कल्पभाष्य गाथा ४०९६

२१३ आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति पृ ७११–७१२

बौद्ध परम्परा मे वारण थेर का उल्लेख है[२१४] जो जगल मे निवास करने वाले किसी भिक्षु का उपदेश सुनकर प्रव्रजित हुए थे। यद्यपि वारत्तक से इनका कोई सम्बन्ध जोड पाना कठिन है। वैदिक परम्परा मे वारत्तक का कोई उल्लेख हमे दृष्टिगत नही होता है। अत. अन्य स्रोतो के आधार पर इनके सम्बन्ध मे कुछ बता पाना कठिन है।

२८. आर्द्रक

ऋषिभाषित[२१५] का २८वॉ अध्याय आर्द्रक से सम्बन्धित है। आर्द्रक के प्राकृतरूप अद्दअ, अद्दग आदि मिलते है। यद्यपि हमे यहॉ यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋषिभाषित मे आर्द्रक और उद्दालक—ऐसे दो ऋषियो का वर्णन है। उद्दालक को प्राकृत मे 'अद्दालअ' कहा गया है। अत. दोनो के सस्कृत रूपो की भिन्नता को ध्यान मे रखना चाहिये। ऋपिभाषित के अतिरिक्त आर्द्रक का उल्लेख हमे सूत्रकृताग[२१६], सूत्रकृताग निर्युक्ति[२१७], सूत्रकृताग चूर्णि[२१८] मे भी मिलता है। आवश्यक[२१९] मे भी इनका उल्लेख आर्द्रक कुमार के रूप मे हुआ है। सूत्रकृताग के अनुसार जब ये दीक्षित होने को जाते है तो इन्हे आजीवक, बौद्ध एव हस्तितापस आदि अन्य श्रमण परम्पराओ के व्यक्ति मिलते है तथा अपनी परम्परा की विशेषता उनके सम्मुख प्रस्तुत करते है। सूत्रकृताग चूर्णि मे इनके पूर्व-जीवन एव वर्तमान-जीवन की कथा भी दी गई है। कथा के अनुसार ये आर्द्रकपुर के राजा के पुत्र थे। इन्हे अभय कुमार के द्वारा उपहार के रूप मे ऋषभ की प्रतिमा भेजी गई थी, जिसे देखकर उन्हे वैराग्य जागृत हो गया। वसन्तपुर नगर मे इन्हे खेल-खेल मे एक लडकी अपना पति मान लेती है। अन्त मे इन्हे कुछ समय पश्चात् उससे अपना विवाह करना पडता है। किन्तु, पुन वैराग्य को प्राप्त कर दीक्षित होने के लिए प्रस्थान करते है। मार्ग मे इन्हे पूर्व वर्णित श्रमण-परम्परा एव तापस परम्परा के व्यक्ति मिलते है। उपर्युक्त कथा मे कितनी यथार्थता है, यह कहना तो कठिन है किन्तु इतना निश्चित है कि आर्द्रक बुद्ध और महावीर के समकालीन कोई ऐतिहासिक ऋषि थे। सूत्रकृताग मे विभिन्न परम्परा के श्रमणो एव तापसो से हुई इनकी चर्चा से

---

२१४ देखे—Dictionary of Palı Proper Names, Vol. II P 854

२१५ ऋषिभाषित २८ वॉ अध्ययन

२१६ सूत्रकृताग २/६

२१७ सूत्रकृताग निर्युक्ति गाथा १८७–२००

२१८ सूत्रकृताग चूर्णि पृ ४१३–१७

२१९ (अ) आवश्यक सूत्र पृ २७
(ब) Prakrıt Proper Names, Vol I P 44

इस तथ्य को पुष्टि होती है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से प्रभावित या सम्बन्धित रहे होगे।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे इनके उपदेशो का प्रश्न है ये सासारिक कामभोगो से दूर रहने का उपदेश देते है, क्योकि इनके अनुसार कामवासनाये ही रोग है और दुर्गति का कारण है। कामवासना ग्रस्त जीव ही दु ख के भागी होते है। काम शल्य है, काम विष है। जब तक प्राणी इस काम रूपी शल्य या विष का नाश नही कर देता, वह भव-भ्रमण की परम्परा से मुक्त नही हो पाता। मेधावी एव पण्डित को प्रतिसमय एव प्रतिक्षण अपनी मलिनता को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब एक क्षणमात्र के लिए भी की गई शुभ क्रिया विपुल फल प्रदान करती है तो मोक्ष के लिए किया गया पुरुषार्थ फिर असीम फल प्रदान क्यो नही करेगा ? प्रस्तुत उपदेश मे हमे कोई विशिष्ट नवीन बात नही मिलती है। इस अध्याय की अनेक गाथाये कुछ शाब्दिक परिवर्तनो के साथ उत्तराध्ययन और दशवैकालिक मे पाई जाती है। आर्द्रक का सूत्रकृताग जैसे प्राचीन ग्रन्थ मे उपलब्ध उल्लेख यह सिद्ध करता है कि ये एक ऐतिहासिक व्यक्ति रहे होगे।

जैन परम्परा के अतिरिक्त बौद्ध एव वैदिक परम्परा मे आर्द्रक का उल्लेख कही नही प्राप्त होता है। अत तुलनात्मक दृष्टि से इनका और इनके उपदेशो का अध्ययन कर पाना कठिन है। अन्य परम्पराओ मे इनके उल्लेख का अभाव यह भी सूचित करता है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से ही सम्बन्धित रहे होगे।

२९. वर्द्धमान

ऋषिभाषित[२२०] के २९वे अध्याय मे वर्द्धमान नामक अर्हत् ऋषि के उपदेश सकलित है। जैनो की परम्परागत मान्यता के अनुसार इन्हे तीर्थङ्कर पार्श्व के तीर्थ का अर्हत् ऋषि या प्रत्येकबुद्ध कहा गया है। किन्तु, मेरी दृष्टि मे ये वर्द्धमान अन्य कोई नही, अपितु स्वय भगवान महावीर ही है। जैन परम्परा मे महावीर का पारिवारिक नाम वर्द्धमान ही है। कल्पसूत्र एव चतुर्विंशति स्तव मे भी महावीर का इसी नाम से उल्लेख हुआ है। जहाँ तक वर्द्धमान के जीवन-वृत्त का सम्बन्ध है आचाराग,[२२१] सूत्रकृताग,[२२२] भगवती,[२२३] कल्पसूत्र[२२४] आदि अनेक प्राचीन जैनागमो मे हमे उनके व्यक्तित्व एव दर्शन का विस्तृत विवरण उपलब्ध हो

---

२२० ऋषिभाषित, २९वाँ अध्ययन
२२१ आचाराग २/१७९
२२२ सूत्रकृताग १/६ (वीरत्थुइ)
२२३ देखें, भगवती सूत्र-शतक ९ एव १५
२२४. कल्पसूत्र ४–१४५

जाता है। मेरी दृष्टि से इस सम्बन्ध मे सन्देह का कोई अवकाश तो नही है कि ऋषिभाषित के वर्द्धमान, चौबीसवे तीर्थङ्कर के रूप मे मान्य भगवान महावीर ही है। इस तथ्य का एक अन्य प्रमाण यह है कि आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के 'भावना' नामक अध्याय मे उल्लेखित एव उत्तराध्ययन[२२५] के ३२वे अध्याय मे उल्लिखित महावीर के उपदेशो से ऋषिभाषित के इनके उपदेशो की पूर्ण समानता है।

प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ मे वे कहते है—चारो ओर से स्रोत (आस्रव) है, इन स्रोतो का निवारण क्यो नही करते। स्रोतो का निरोध कैसे होता है ? पाँच इन्द्रियो के जागृत होने पर आत्मा सुप्त हो जाती है और पाँच के सुप्त होने पर आत्मा जागृत होती है। पाच से रज (कर्मरज) का आदान होता है और पाँच से ही रज (कर्मरज) का आदान रुक जाता है। श्रोत्र आदि पाच इन्द्रियो के शब्दादि विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ होते है, अत न तो मनोज्ञ के प्रति राग-भाव होना चाहिए और न अमनोज्ञ के प्रति द्वेषभाव होना चाहिए। जो मनोज्ञ के प्रति आसक्त नही होता और अमनोज्ञ के प्रति द्वेषित नही होता, जो असुप्त (जागृत) और अविरोधी होता है उसके स्रोत (आस्रव) निरुद्ध हो जाते है। जो मन और कषायो को जीतकर सम्यक् तप करता है वह शुद्धात्मा अग्नि मे दी गई हविष् के समान प्रदीप्त होती है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय पाँच इन्द्रियो और मन के सयम पर बल देता है।

प्रस्तुत अध्याय की यह विषय वस्तु कुछ शाब्दिक रूपान्तरण के साथ आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भावना नामक अध्याय मे तथा उत्तराध्ययन के प्रमाद-स्थान नामक ३२वे अध्ययन मे मिलती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह वस्तुत. वर्द्धमान महावीर का मूल उपदेश रहा होगा। इसका 'देवा वि त नमसति' दशवैकालिक[२२६] की प्रथम गाथा मे भी मिलता है।

यह उनका मूल उपदेश था, इसकी भाषा तद्रूप थी। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि पालि त्रिपिटक[२२७] मे 'निगठनातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र अर्थात् वर्द्धमान) के उपदेश मे 'सव्व वारि वारितो' वाक्याश पाया जाता है। इस अध्याय मे भी 'सव्व वारीहि वारिए' वाक्याश है। स्मरणीय है प राहुल साकृत्यायन ने इस 'वारि' का अर्थ जल या पानी किया है, वह उचित नही है। यहाँ 'वारि' का अर्थ वारण करने योग्य अर्थात् पाप कर्म है। महावीर के उपदेश के सम्बन्ध मे सूत्रकृताग मे भी 'से वारिया इत्थी सरायभत्त' का उल्लेख है।[२२८]

---

२२५ उत्तराध्ययन ३२/२१–१००

२२६ दशवैकालिक १/१

२२७ देखें–दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त तथा मज्झिमनिकाय उपालिसुत्त

२२८ सूत्रकृताग १/६/२८

जैन साहित्य के अतिरिक्त वर्द्धमान महावीर का उल्लेख हमे पालि बौद्ध साहित्य मे भी मिलता है। इसमे इनका उल्लेख 'निग्गठ नातपुत्त' के रूप मे हुआ है। इन्हे बुद्ध का ज्येष्ठ समकालीन माना गया है। यद्यपि प्रचलित बुद्ध निर्वाण सवत् और वीर निर्वाण सवत् के आधार पर वर्द्धमान महावीर से बुद्ध लगभग ३० वर्ष छोटे सिद्ध होते है। उनको बुद्ध के समकालीन छह तीर्थङ्करो मे माना गया है। पालि साहित्य मे उनके सम्बन्ध मे जो उल्लेख मिलते है उस पर पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानो ने पर्याप्त रूप से विवेचन किया है, अत मैं उस पर विशेष चर्चा करना नही चाहता। मैं केवल थेर गाथा अट्ठकथा[२२९] का एक सन्दर्भ अवश्य प्रस्तुत करना चाहूँगा जो विद्वानो के लिए उपेक्षित रहा है। थेर गाथा की अट्ठकथा मे वद्धमाण थेर को वैशाली का लिच्छवी वशीय राजकुमार कहा गया है। यह एक ऐसा तथ्य है जो उनकी सगति वर्द्धमान महावीर के साथ वैठाता है। मैं तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि थेरगाथा के सभी थेर बौद्ध परम्परा के नही है, उसमे बुद्ध के पूर्ववर्ती अनेक लब्ध-प्रतिष्ठित श्रमणो के उद्‌गार सम्मिलित है। यद्यपि साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण अट्ठकथाओ मे उन्हे बौद्ध परम्परा से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार जैन परम्परा मे ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन मे अन्य श्रमण परम्परा के ऋषियो के विचार सकलित है। उसी प्रकार थेर गाथा मे भी अन्य श्रमण-परम्परा के ऋषियो के उपदेश सकलित है। इसी आधार पर मेरी यह मान्यता है कि ऋषिभाषित के वद्धमाण और थेर गाथा के वद्धमाण एक ही व्यक्ति है। साथ ही पालि त्रिपिटक के निग्गठ नातपुत्त और जैन परम्परा के वर्द्धमान महावीर भी ऋषिभाषित और थेर गाथा के वर्द्धमान ही है। इस आधार पर वर्द्धमान की ऐतिहासिकता भी सुस्पष्ट है। थेरगाथा मे भी वर्द्धमान थेर ने राग के प्रहीण की वही बात कही है, जो आचाराग और उत्तराध्ययन मे भी कही गई है।

३०. वायु

ऋषिभाषित का तीसवॉ अध्याय वायु नामक ऋषि से सम्बन्धित है।[२३०] ऋषिभाषित के अतिरिक्त वायु नामक ऋषि का उल्लेख जैनागम साहित्य मे अन्यत्र उपलब्ध नही है। यद्यपि भगवान् महावीर के ११ गणधरो मे तीसरे गणधर का नाम वायुभूति है,[२३१] किन्तु वायुभूति और वायु ऋषि एक ही व्यक्ति है, यह कह

२२९ (अ) थेरगाथा अट्ठकथा—प्रथम भाग पृष्ठ १५३
(ब) देखे—Dictionary of Pali Proper Names, Vol II P. 820

२३० ऋषिभाषित अध्याय ३०

२३१ (अ) भगवतीसूत्र सूत्र १२८,१३२
(ब) विशेषावश्यक भाष्य २४३५

पाना कठिन है, क्योकि इस सम्बन्ध मे कोई अन्तर या बाह्य साक्ष्य उपलब्ध नही है। बौद्ध परम्परा मे वायु का उल्लेख मात्र एक देवता के रूप मे हुआ है। वैदिक स्रोतो मे भी मुख्यत. वायु को एक देव के रूप मे ही स्वीकार किया गया है। मात्र महाभारत के शान्ति पर्व मे वायु नामक एक प्राचीन ऋषि का उल्लेख है, जो शर-शय्या पर पड़े हुए भीष्मजी को देखने आये थे। इसी प्रकार महाभारत के शल्य पर्व मे वायु चक्र, वायु ज्वाल, वायु बल, वायु मण्डल, वायु रेता एव वायु वेग नामक ऋषियो के उल्लेख है; किन्तु प्रथम तो ये पौराणिक ही हो जाते है, ऐतिहासिक नही। दूसरे इनकी वायु ऋषि से कोई सगति भी नही प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त महाभारत मे ही वायु भक्ष नामक एक अन्य ऋषि का भी उल्लेख है, जो युधिष्ठिर की सभा मे उपस्थित थे तथा जिनकी मार्ग मे कृष्ण से भेट हुई थी[२३२]। वैसे वायु भक्षी तापसो का उल्लेख औपपातिक मे भी है। जहाँ तक ऋषिभाषित मे वायु ऋषि के उपदेशो का प्रश्न है, वे मुख्य रूप से कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। वे कहते है कि जैसा बीज होता है वैसा फल होता है, अच्छे कर्मो का फल अच्छा और बुरे कर्मो का फल बुरा होता है। कोई भी कर्म निष्फल नही जाता है। कर्म का फल मरणोत्तर काल मे कैसे मिलता है, इसे पुष्ट करते हुए कहा गया है कि पानी तो जडो को दिया जाता है, किन्तु फल शाखाओ पर लगते है। जिस प्रकार फल जहाँ सिञ्चन किया गया है, वहाॅ न होकर अन्य क्षेत्र और काल मे होता है, उसी प्रकार कृत-कर्मो का फल भी अन्य क्षेत्र और काल मे होता है। कर्म सिद्धान्त के इस सामान्य प्रतिपादन के अतिरिक्त इस अध्याय मे कोई नवीन तथ्य नही मिलता है।

३१. पार्श्व

ऋषिभाषित के इकतीसवे अध्याय मे अर्हत् पार्श्व के दार्शनिक विचारो का सकलन है।[२३३] यद्यपि जैनो की परम्परागत मान्यता तो यह है कि ये अर्हत् पार्श्व तेइसवे तीर्थंकर पार्श्व के काल मे हुए एक प्रत्येकबुद्ध है और तीर्थकर पार्श्व से भिन्न है। किन्तु, सभी विद्वान् इस सम्बन्ध मे एक मत है कि ये स्वय तीर्थकर पार्श्व ही है। इनके उपदेशो मे चातुर्याम का प्रतिपादन इस मान्यता का पुष्ट प्रमाण है।[२३४] यद्यपि पार्श्व के सम्बन्ध मे बौद्ध और वैदिक स्रोतो से स्पष्टत: कोई जानकारी नही मिलती है, किन्तु बौद्ध परम्परा मे निर्ग्रन्थ ज्ञात-पुत्र के नाम से जो चातुर्याम सयम का प्रतिपादन हुआ है वह वस्तुत: पार्श्व का चातुर्याम ही है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य

---

२३२ सम्पूर्ण सन्दर्भो के लिए देखें—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ ३०३

२३३ ऋषिभाषित अध्याय ३१

२३४ (अ) वही ३१, (ब) उत्तराध्ययन २३/१२, (स) आवश्यक निर्युक्ति २३६; (द) सूत्रकृताग २/७/८१

मे बुद्ध के चाचा वप्प शाक्य के निर्ग्रन्थ परम्परा के अनुयायी होने की सूचना मिलती है। वप्प भी पार्श्व की परम्परा से ही सम्बन्धित रहे होगे, क्योकि महावीर की परम्परा तो उस समय विकसित हो रही थी। पार्श्व की ऐतिहासिकता अनेक प्रमाणो से पुष्ट होती है और इसे अनेक पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानो ने स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध मे मैंने अपने ग्रन्थ 'अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा' मे विस्तार से विचार किया है, अत. जिज्ञासु पाठको से उसे वहाँ देखने की अपेक्षा उल्लेख की जा सकती है।[२३५] जैनागम साहित्य मे पार्श्व एव उनकी परम्परा के सम्बन्ध मे आचाराग,[२३६] सूत्रकृताग,[२३७] समवायाग,[२३८] भगवती,[२३९] औपपातिक,[२४०] राजप्रश्नीय,[२४१] निरयावलिका,[२४२] कल्पसूत्र,[२४३] आवश्यक चूर्णि[२४४] आदि मे पाये जाते है। इसके अनेक कथा-ग्रथो मे पार्श्व के जीवन-वृत्त का आशिक रूप से या स्वतन्त्र रूप से उल्लेख है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृताग और भगवती मे पार्श्व और महावीर की परम्परा के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।[२४५] मुख्य विवादास्पद प्रश्न थे—चातुर्याम और पाच महाव्रत, सचेलता और अचेलता। किन्तु, इनके अतिरिक्त प्रतिक्रमण, अहिंसा सम्बन्धी प्रत्याख्यान के स्वरूप तथा सामायिक सयम, सवर, विवेक एव व्युत्सर्ग के स्वरूप को लेकर भी मत-भेद थे जिनकी चर्चा हमे सूत्रकृताग और भगवती से मिलती है। भगवती सूत्र के अनुसार कालस्यवैशिक पुत्र नामक पार्श्वापत्य अनगार ने महावीर के सघ मे प्रवेश करते समय पच महाव्रतो एव सप्रतिक्रमण धर्म के साथ-साथ नग्नता, मुण्डितता, अस्नान, अदन्तधावन, छत्ररहित एव उपानह (जूते) रहित होना, भूमिशयन, फलक-शयन, काष्ठ-शयन, केशलोच, ब्रह्मचर्य, (भिक्षार्थ) परगृह-प्रवेश, लब्ध-अलब्ध मे समभाव आदि नियमो को भी ग्रहण किया था।[२४६] इससे स्पष्ट है कि ये नियम पार्श्व की परम्परा मे अप्रचलित थे। छेद सूत्रो मे मुनि आचार मे छाता, जूते, चमडे के थेले रखने एव क्षुर मुण्डन सम्बन्धी जो विधान उपलब्ध होते है वे पार्श्वापत्यो के प्रभाव के कारण ही महावीर

---

२३५ अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, प्रो सागरमल जैन पृष्ठ १–७
२३६ आचाराग २/१५/२५,
२३७ सूत्रकृताग २/७/८
२३८ समवायाग ८/८,६/४, १६/४, २३/३,,
२३९ भगवती १/६/४२३,
२४० औपपातिक २/५/६५
२४१ राजप्रश्नीय २१३ (मधुकर मुनि)
२४२ निरयावलिका ३/१,
२४३ कल्पसूत्र १४६/१५६
२४४ आवश्यक चूर्णि भाग १, पृष्ठ २८५,२६१,२६८
२४५. उत्तराध्ययन २३/१२-१३, सूत्रकृताग २/७/३८
२४६ भगवती १/६/४३२-४३३

की परम्परा मे आये थे। यह भी सत्य है कि पार्श्वापत्य श्रमणो की सुविधावादी और भोगवादी प्रवृत्तियो के कारण ही आगे चलकर पासत्थ (पार्श्वस्थ) शब्द शिथिलाचार का पर्याय बन गया। ज्ञाता और आवश्यक चूर्णि मे पार्श्वापत्य परम्परा के अनेक श्रमणो एव श्रमणियो के शिथिलाचारी होने के उल्लेख है।[२४७] इस चर्चा का निष्कर्ष मात्र यही है कि पार्श्व एक ऐतिहासिक ऋषि है। उनकी परम्परा जो अपेक्षाकृत सुविधावादी थी, महावीर के युग मे प्रचलित थी तथा अनेक पार्श्वापत्य श्रमण महावीर के सघ मे प्रविष्ट हो रहे थे।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे वर्णित पार्श्व के धर्म-दर्शन का प्रश्न है, वह निश्चित ही पार्श्व की धार्मिक एव दार्शनिक मान्यताओ का प्रामाणिक एव उपलब्ध प्राचीनतम रूप है। ऋषिभाषित मे पार्श्व के दार्शनिक एव आचार सम्बन्धी दोनो ही प्रकार के विचार उपलब्ध है। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि ऋषिभाषित मे पार्श्व नामक अध्ययन का वह पाठान्तर भी उपलब्ध है, जो **गति व्याकरण** नामक ग्रन्थ मे समाहित था।[२४८] दार्शनिक दृष्टि से इसमे लोक का स्वरूप, जीव एव पुद्गल की गति, कर्म और फल विपाक तथा इस विपाक के स्वरूप होने वाली विविध गतियो की चर्चा है। साथ ही इसमे पच अस्तिकायो एव मोक्ष के स्वरूप की चर्चा भी उपलब्ध होती है। आचार सम्बन्धी चर्चा मे चातुर्याम, कषाय, प्राणातिपात से मिथ्या दर्शन तक १८ पापस्थान, उचित भोजन आदि की चर्चा है।

सर्व प्रथम इसमे लोक एव पचास्तिकाय को शाश्वत कहा गया है। किन्तु, लोक को शाश्वत मानते हुए भी उसे पारिणामिक अर्थात् परिवर्तनशील कहा गया है। पार्श्व लोक को शाश्वत मानते है, यह बात भगवती सूत्र मे भी उपलब्ध होती है। पुन. जीव और पुद्गल दोनो को गतिशील कहा गया है तथा जीव को स्वभावत ऊर्ध्वगामी और पुद्गल को अधोगामी कहा गया है। सामान्यतया द्रव्यगति, क्षेत्रगति, कालगति और भावगति इन चार गतियो की चर्चा है, किन्तु, पाठान्तर मे प्रयोग गति (पर-प्रेरित) और विस्रसागति (स्व-प्रेरित गति) की भी चर्चा है। इसमे अष्ट प्रकार की कर्म-ग्रन्थियो की, देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च इन चार गतियो का भी उल्लेख है। पाठान्तर औदयिक और पारिणामिक गति का भी निर्देश करता है। साथ ही यह भी बताया गया है कि जीव स्वकृत पुण्य-पाप के फल का भोग करता है। अन्त मे नैतिक विचारो को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो चातुर्याम से युक्त, कषायरहित, अचित्त-भोजी (मृत-भोजी) होता है, वह अष्ट कर्म-ग्रन्थियो का बन्धन नही करता है और अन्त मे मुक्ति को प्राप्त करता है।[२४९]

---

२४७ अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा, पृष्ठ ३६-३८

२४८. ऋषिभाषित अध्याय ३१

२४९. देखे—ऋषिभाषित अध्याय ३१,

३२. पिंग

ऋषिभाषित मे पिग का उल्लेख ब्राह्मण परिव्राजक अर्हत् ऋषि के रूप मे हुआ है।[२५०] ब्राह्मण परिव्राजक विशेषण से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे ब्राह्मण परम्परा के ऋषि थे। ऋषिभाषित मे उनका जो उपदेश सकलित है उसमे मुख्य रूप से आध्यात्मिक कृषि का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। पिग ऋषि से किसी अज्ञात ऋषि का प्रश्न है कि आपका खेत (क्षेत्र) कौन-सा है ? बीज क्या है ? नगल क्या है ? उसके उत्तर मे कहा गया है कि आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, सयम नगल है, अहिसा और समिति बैल है। यही धर्म रूपी कृषि है। अलुब्ध मुनि के लिए यही कृषि शोभती है तथा परलोक मे सुखावह होती है। सर्व प्राणियो के प्रति दया करता हुआ जो इस प्रकार की कृषि करता है वह चाहे ब्राह्मण हो क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो सिद्धि को प्राप्त करता है।[२५१] यह आध्यात्मिक कृषि का स्वरूप है जो एक ओर आध्यात्मिक साधना के विभिन्न अगो को स्पष्ट करता है, तो दूसरी ओर यह भी स्पष्ट करता है कि इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि करने वाला व्यक्ति चाहे वह किसी जाति का हो मुक्ति को प्राप्त करता है। इसी अध्याय मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो हमे देखने को मिलती है वह यह है कि एक ब्राह्मण परिव्राजक चारो वर्णो की मुक्ति की अवधारणा को प्रतिपादित करता है।

स्वय ऋषिभाषित मे ही इस प्रकार की आध्यात्मिक कृषि का वर्णन कुछ भिन्न रूप मे हमे मातग नामक २६वे अध्याय मे भी मिलता है। जहाँ पिंग नामक इस अध्ययन मे केवल चार गाथाओ मे दूसरा विवरण है वहाँ मातग मे ८ गाथाओं मे इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय से आध्यात्मिक कृषि का विवरण २६वे मातग अध्याय का ही एक सक्षिप्त रूप है।

जैन परम्परा मे तो हमे इस प्रकार की कृषि का विवरण देखने को नही मिला, किन्तु बौद्ध परम्परा मे सुत्तनिपात और सयुत्तनिकाय मे इस आध्यात्मिक कृषि का निरूपण है। सुत्तनिपात के चतुर्थ कसिभारद्वाज सुत्त मे दूसरा विवरण हुआ है। वहाँ बुद्ध स्वय अपने को एक कृषक के रूप मे प्रस्तुत करते है और कहते है—श्रद्धा मेरा बीज है, तप वृष्टि है, प्रज्ञा मेरे युग और नगल है, लज्जा नगल दण्ड है। मन जोत है और स्मृति मेरी फाल एव छकुनी है। मैं वचन और आहार के विषय मे सयत हूँ। सत्य की निराई करता हूँ। निर्वाण की ओर जाने वाला वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ मेरे जोते हुए बैल है। वे निरन्तर उस दिशा की ओर जा रहे है जहाँ जाकर कोई शोक नही करता। इस प्रकार की जाने वाली खेती अमृत फल-प्रदायी होती है और ऐसी खेती करके मनुष्य सब दु खो से मुक्त हो जाता है।

---

२५० ऋषिभाषित, ३२
२५१ वही ३२

सयुत्तनिकाय मे भी लगभग इसी प्रकार का विवरण उपलब्ध होता है। आध्यात्मिक कृपि सम्बन्धी विवरण इस तथ्य की ओर हमे सूचित करता है कि समाज मे भिक्षोपजीवी श्रमणो के प्रति भी कही-कही आक्रोश भी था और उनसे यह कहा भी जाता था कि तुम भिक्षा मागने की अपेक्षा खेती क्यो नही करते ? इसके प्रत्युत्तर मे श्रमण अपने आध्यात्मिक कृषि का विवरण प्रस्तुत करते थे।

ऋषिभापित के अतिरिक्त पिग सम्बन्धी विवरण हमे बौद्ध परम्परा मे भी मिलता है।[२५२] बौद्ध परम्परा मे अगुत्तरनिकाय मे पिगियानी नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख है जो वैशाली का निवासी और बुद्ध का अनुयायी था। सयुत्तनिकाय मे एक अन्य पिंगी का उल्लेख उपलब्ध होता है जिसने अर्हत् पद को प्राप्त किया था। सुत्तनिपात मे भी हमे महर्षि पिगी का उल्लेख उपलब्ध होता है। सुत्तनिपात के पारायणवग्ग मे सर्वप्रथम महर्षि पिगी को बावारी का शिष्य बताया गया है। बावारी के १६ शिष्यो मे महर्षि पिगी भी एक है। इन्हे लोक-विश्रुत, ध्यानी, पूर्व सस्कारो से सुसस्कृत, गणी आदि विशेषण भी दिए गए है। पारायणवग्ग के पिंगी मानवक पुच्छा सुत्त मे बुद्ध और पिगी के बीच हुई चर्चा का भी उल्लेख है। यहाँ पिंगी बुद्ध के सम्मुख अपनी वृद्धावस्था का भी चित्रण प्रस्तुत करते है और कहते है कि मैं जीर्ण हूँ, दुर्बल हूँ, विवर्ण हूँ, मेरे नेत्र और कान ठीक नही है। आप मुझे धर्म का उपदेश करे जिसे जानकर जन्म-जरा का अन्तर कर सकूँ और बीच मे ही मोह सहित मृत्यु को न प्राप्त करू। बुद्ध पिंगी को अप्रमत्त बनने का तथा तृष्णा के अन्त करने का उपदेश देते है।

सुत्तनिपात के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पिग बुद्ध के समकालीन हैं, किन्तु वय मे उनसे ज्येष्ठ हैं। सुत्तनिपात मे उनके बुद्ध के अनुयायी होने का विवरण वुद्ध शासन की महिमा दिखाने हेतु है। अत. सुत्तनिपात का सम्पूर्ण विवरण यथावत् रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता है। प्रो० सी० एम० उपासक[२५३] ने पालि साहित्य मे उल्लेखित पिंगी या पिंगियानी के ऋषिभाषित के पिंग से भिन्न होने की सम्भावना व्यक्त की है। उनके अनुसार ऋषिभाषित के पिंग एक प्राचीन ऋषि है, जिससे पिंगी या पिंगियानी की परम्परा चली है। हमे प्रो० उपासक के इस निष्कर्ष से सहमत होने मे कोई आपत्ति नही है। यह सम्भव है कि पिंग ऋषि की परम्परा मे हुए किसी पिंगियानी ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया हो। किन्तु, सुत्तनिपात के उपर्युक्त उल्लेख की जिसकी हमने चर्चा की है प्रो० उपासक ने सम्भवत उसे लक्ष्य मे नही लिया है। वे सयुत्तनिकाय और अगुत्तरनिकाय के पिगियानी की चर्चा करते है। सुत्तनिपात मे इन्हे महर्षि बावारी शिष्य बताया है, अत यहाँ पिंगी, परम्परा का नही

---

२५२ बौद्ध परम्परा मे पिंग सम्बन्धी समस्त विवरणो के लिए देखे—Dictionary of Pali Proper Names, Vol II P 198-200

२५३ देखें—प० दलसुखभाई अभिनन्दन ग्रन्थ (पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी) मे प्रकाशित उनका लेख।

अपितु व्यक्ति का सूचक है। पुन पिगी को व्यक्ति के रूप मे महर्षि, गणनायक, लोकविश्रुत, ध्यानी आदि विशेषण दिये गये है। वे निश्चय ही बुद्ध से ज्येष्ठ है। सुत्तनिपात मे उल्लेखित पिगी को ऋषिभाषित का पिग ऋषि माना जाये या उनका शिष्य माना जाये, यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु इससे ऋषिभाषित के पिंग नामक अर्हत् ऋषि की ऐतिहासिकता सपुष्ट होती है। सुत्तनिपात की अट्ठकथा मे पिंगी को अर्हत् कहा गया है।[२५४] अत सम्भावना यह भी हो सकती है कि सुत्तनिपात के पिगी ही ऋषिभाषित के पिंग हो।

महाभारत मे पिगल नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है।[२५५] किन्तु, इनकी ऋषिभाषित के पिग से कालिक एव अन्य आधारो पर एकरूपता वता पाना कठिन है।

३३. महाशालपुत्र अरुण

ऋषिभाषित का ३३वॉ अध्याय महाशालपुत्र अरुण के उपदेशो से सम्बन्धित है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त जैन आगमिक एव आगमेतर साहित्य मे अरुण का कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता है। ऋषिभाषित मे इन्हे महाशालपुत्र अरुण कहा गया है।[२५६] प्रश्न यह है कि ये अरुण ऋषि कौन है ? वस्तुत. अरुण औपनिषदिक ऋषि है। शुब्रिग अरुण का तादात्म्य औपनिषदिक ऋषि आरुणि से करते है,[२५७] किन्तु यह मान्यता उचित नही है। क्योकि, आरुणि का दूसरा नाम उद्दालक भी है और ऋषिभाषित मे उद्दालक का स्वतन्त्र अध्याय है। स्वय आरुणि शब्द भी यह सूचित करता है कि वे अरुण के पुत्र (वशज) या शिष्य होगे। अतः महाशालपुत्र अरुण आरुणि-उद्दालक के पिता एव गुरु हैं। वैदिक कोश और महाभारत नामानुक्रमणिका मे आरुणि-उद्दालक को एक व्यक्ति माना गया है और अरुण को उनका पिता कहा गया है।[२५८] शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार इनका पूरा नाम 'अरुण औपवेशि गौतम' था। उपवेशि के शिष्य होने से औपवेशि और गौतम गोत्र के होने से गौतम कहलाते है।[२५९] किन्तु, प्रश्न यह है कि ऋषिभाषित मे इनके नाम के साथ महाशालपुत्र नामक जो विशेषण जुड़ा है

---

२५४ (अ) सुत्तनिपात अट्ठकथा भाग २, पृष्ठ ६०३
(ब) Dictionary of Pali proper Names, Vol II P 199,

२५५ देखें—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ १९७

२५६ ऋषिभाषित, ३३

२५७ इसिभासियाइ Introduction P. 4

२५८ देखें—(अ) वैदिककोश पृष्ठ ५६
(ब) महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ ३१, एव ४२

२५९ इन समस्त सन्दर्भो के लिए देखे—वैदिक कोश पृष्ठ २३

उसकी क्या सगति है ? छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार अश्वपति से शिक्षित ब्राह्मण महाशाल कहे जाते थे,[२६०] चूकि इनकी शिक्षा भी अश्वपति के द्वारा हुई है। यही कारण हो सकता है कि इन्हे महाशालपुत्र कहा गया हो। अत सिद्ध होता है कि ऋषिभाषित के महाशालपुत्र अरुण औपनिषदिक ऋषि अरुण औपवेशि गौतम है और आरुणि-उद्दालक के पिता एव गुरु है। इस अध्याय मे मिथिला अधिपति सजय का नाम भी आया है। इस सम्बन्ध मे हमने आगे ३९वे सजय नामक अध्याय के प्रसग मे विचार किया है।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे प्रतिपादित अरुण ऋषि के उपदेशो का प्रश्न है, ये कहते है कि व्यक्ति के भाषा-व्यवहार और कर्म (आचरण) के आधार पर ही उसके पण्डित या मूर्ख होने का निर्णय किया जा सकता है। अशिष्ट वाणी, दुष्कर्म और कार्य-अकार्य के विवेक का अभाव ये मूर्ख के लक्षण है। इसके विपरीत शिष्ट-वाणी, सुकृत कर्म और धर्म-अधर्म का विवेक पण्डितजन के लक्षण है। इसके साथ ही इसमे यह भी वताया गया है कि व्यक्ति पर ससर्ग का सर्वाधिक प्रभाव पडता है। इस तथ्य को अनेक उदाहरणो से पुष्ट भी किया गया है। अन्त मे यह कहा गया है कि जितेन्द्रिय और प्रज्ञावान साधक को समत्व और अहिसा को सम्यक् प्रकार जानकर कल्याणकारी मित्रो का ही ससर्ग करना चाहिए[२६१]।

यद्यपि बौद्ध परम्परा मे अरुण नामक पाँच व्यक्तियो का उल्लेख प्राप्त होता है,[२६२] किन्तु उनके सम्बन्ध मे उपलब्ध विवरणो के आधार पर उनमे से किसी के भी साथ ऋषिभाषित के अरुण की सगति नही बैठती है। अत निष्कर्ष यही है कि ऋषिभाषित के महाशालपुत्र अरुण औपनिषदिक अरुण औपवेशि गौतम है।

३४. ऋषिगिरि

ऋषिभापित के चौतीसवे अध्याय मे ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक के उपदेशो का सकलन है। ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कही उपलब्ध नही होता है। यद्यपि ऋषिदत्त, ऋषिगुप्त आदि नामो के उल्लेख मिलते है, किन्तु इनकी ऋषिगिरि से कोई सगति बिठा पाना कठिन है। इसी प्रकार बौद्ध और वैदिक परम्परा मे भी हमे ऋषिगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक का कोई उल्लेख नही मिला। अत इनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की जानकारी दे पाना कठिन है।

---

२६० देखें—वैदिककोश पृष्ठ ३७३

२६१ ऋषिभाषित, ३३

२६२ देखें—Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I. P. 182-184

जहाँ तक ऋषिगिरि के उपदेशो[२६३] का प्रश्न है, वे मूर्खो या दुष्टजनों द्वारा दिये गये कष्टो को समभावपूर्वक सहन करने का निर्देश देते है। वे कहते है कि यदि कोई परोक्ष मे निन्दा करता है, तो यह सोचकर समभाव धारण करना चाहिये कि वह प्रत्यक्ष मे तो आलोचना नही करता है। यदि कोई प्रत्यक्ष मे आलोचना करता है, तो यह सोचना चाहिए कि वह केवल शब्दो से निन्दा करता है, हमारे शरीर को तो पीडा नही पहुचाता है। यदि कोई पीडा पहुचाता है, तो यह सोचना चाहिये कि वह हमारा शस्त्र से अग-भग तो नही करता है। यदि कोई अग-भग करता है, तो सोचना चाहिए कि वह अग-भग करता है, किन्तु प्राण-हरण तो नही करता है। यदि वह प्राण-हरण करता है, तो यह सोचना चाहिए कि वह प्राण ही लेता है धर्मभ्रष्ट तो नही करता है। अज्ञानी तो मूर्ख स्वभाव के होते है, हिताहित का ज्ञान नही होता है, ऐसा समझकर उनके प्रति समभाव धारण करना चाहिए।

ज्ञातव्य है कि यही विवरण हमे पालि साहित्य मे भी मिलता है। जहाँ बुद्ध किसी भिक्षु से पूछते है कि यदि कोई तुम्हारी आलोचना करता है तो तुम क्या करोगे? और वह कहता है कि यह सोचूगा कि वह मेरी आलोचना ही तो करता है, मुझे पीटता तो नही है। इसी प्रकार समग्र चर्चा वहाँ भी दोहराई गयी है। अन्तर मात्र यह है कि वहाँ चर्चा भगवान बुद्ध और एक भिक्षु के मध्य है, जबकि प्रस्तुत अध्याय मे यह ऋषिगिरि के उपदेश के रूप मे वर्णित है।

इसके अतिरिक्त इस अध्याय मे लोक के स्वरूप को जानकर पाँच महाव्रत से युक्त, कषायरहित, सयमी एव जितेन्द्रिय बनने का निर्देश किया गया है। भोगो मे आसक्त दीन व्यक्ति कभी जीवन की आकाक्षा करता है, तो कभी मृत्यु की। और, इस प्रकार वह अपना ही नाश करता है। जबकि जो काम-वासनाओ मे लुब्ध नही होता है, वह छिन्न-स्रोत अनास्रवी मुक्ति को प्राप्त करता है। ऋषिगिरि का यह उपदेश सामान्य रूप मे अन्यत्र भी उपलब्ध है, अत उपदेश के आधार पर उनकी किसी विशिष्ट अवधारणा का ज्ञान नही होता है।

३५. उद्दालक

ऋषिभाषित के ३५वे अध्याय मे उद्दालक (अद्दालअ) के उपदेश सकलित है। जैन आगमिक एव आगमेतर साहित्य मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी उद्दालक का उल्लेख नही मिलता है। वस्तुत उद्दालक एक औपनिषदिक ऋषि हैं। ये अरुण औपवेशि गौतम के पुत्र थे। इनका प्रसिद्ध नाम उद्दालक-आरुणि है। अरुण के पुत्र होने से उन्हे आरुणि कहा जाता है। इनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण, कौषीतकि ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्

---

२६३ ऋषिभाषित, ३४,

आदि मे मिलता है।[२६४] ये अपने पिता अरुण, मद्रवासी, पतचलकाप्य के शिष्य थे। इनके पुत्र श्वेतकेतु थे। यद्यपि इन्हे नचिकेता का भी पिता कहा गया है, किन्तु श्री सूर्यकान्त ने वैदिककोश मे इस सम्बन्ध मे सदेह प्रकट किया है।[२६५]

उद्दालक का उल्लेख पालि साहित्य के उद्दालक जातक मे मिलता है।[२६६] उसके अनुसार ये बनारस के राजा के पुरोहित के पुत्र थे, जो एक दासी से उत्पन्न हुए थे। पश्चात् शिक्षा हेतु तक्षशिला गये और शिक्षित होकर सन्यासियो के एक वर्ग के आचार्य बन गये। इन्होने वाराणसी तक की यात्रा की और जनता मे पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की। किन्तु, पुरोहित ने इनके छद्म जीवन की यथार्थता को जानकर सन्यास छोडने को विवश किया और अपने अधीन पुरोहित बना दिया। इसी सन्दर्भ मे श्वेतकेतु का उल्लेख आया है। वैदिक परम्परा मे श्वेतकेतु को उद्दालक पुत्र कहा गया है। इन सभी सन्दर्भों से ऐसा लगता है कि बौद्ध परम्परा मे इस कथानक को थोडा विकृत करके प्रस्तुत किया गया है।

इन सब आधारो पर हम यह कह सकते है कि ऋषिभाषित, जातक कथा और उपनिषदो मे उल्लेखित उद्दालक एक ही व्यक्ति हैं।

जहाँ उद्दालक के ऋषिभाषित मे उपलब्ध उपदेशो[२६७] का प्रश्न है, वहाँ सर्वप्रथम उन्होने क्रोधादि चार कषायो को वर्ज्य कहा है। जो इनका सेवन करता है वह ससार मे परिभ्रमण करता है और जो इनका सेवन नही करता है वह अक्रोधित, निरहकारी, अमायावी एव अलोभी साधक त्रिगुप्त, त्रिदण्डविरत, गारवरहित, चार विकथाओ से विरत, पाँच समितियो से युक्त और पाँच इन्द्रियो से सवृत होकर, शरीर सधारणार्थ एव योग निर्वाहार्थ नवकोटि परिशुद्ध उद्गम-उत्पाद दोषरहित, विभिन्न ऊँच-नीच कुलो से प्राप्त परकृत, परनिसृत, विगत अङ्गार, विगत धूम, शस्त्रानीत, शस्त्र परिणत भिक्षा (पिण्ड), शय्या और उपधि का भोग करता है। इसके पश्चात् इसमे स्वार्थ और परार्थ की समस्या की चर्चा करते हुए आत्मार्थ के साधन का निर्देश दिया गया है। इनका मन्तव्य है कि आत्मार्थी ही सच्चे अर्थों मे लोकमगल कर सकता है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओ और कषायो मे नियन्त्रण नही रख पाता है, वह कैसे लोक-कल्याण (परार्थ) करेगा? आत्मार्थ के विना परार्थ तो बन्धन का ही कारण बनता है। क्योकि, परिशुद्ध आत्मा ही स्व-पर दोनो के लिए शान्ति प्रदाता होता है।

---

२६४ देखें—वैदिक कोश पृष्ठ ५६

२६५ वही पृष्ठ ५६

२६६ देखें—(अ) Dictionary of Poli proper Names, Vol I P. 383
(ब) जातक स ४८७

२६७ ऋषिभाषित ३५

इस अध्याय मे पाँच इन्द्रियो, सज्ञाओ (मन की आकांक्षाओ) त्रिदण्ड, त्रिशल्य, त्रिगर्व और बावीस परिषहो को चोर कहा गया है, क्योकि ये आत्मशान्ति रूपी धन की चोरी करते है। अत अन्त मे साधक को सर्वत्र जाग्रत रहने का सदेश दिया गया है।

इस अध्याय की विशेषता यह है कि इसमे जैन आचार की परम्परागत शब्दावली का ही प्रयोग देखा जाता है। अत यह विचार हो सकता है कि क्या ग्रन्थकर्त्ता ने उद्दालक के मुख से अपनी ही मान्यताओ का प्रतिपादन करवाया है या उनकी अपनी मान्यताये ही थी ? साधक और बाधक प्रमाणो के अभाव मे आज इस सम्बन्ध मे निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है। फिर भी इस सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता है कि जैन परम्परा ने अपनी समकालीन परम्पराओ से पर्याप्त रूप से ग्रहण किया होगा।

३६. नारायण (तारायण)

ऋषिभाषित का छत्तीसवा अध्ययन नारायण (तारायण) ऋषि के उपदेशो से सम्बन्धित है। जैन साहित्य मे ऋषिभाषित के अतिरिक्त नारायण ऋषि का उल्लेख सूत्रकृताग[२६८] एव सूत्रकृताग चूर्णि[२६९] मे मिलता है। ऋषिभाषित मे इनके नाम के पूर्व 'वित्त' विशेषण लगाया गया है, किन्तु इसका क्या तात्पर्य है यहाँ स्पष्ट नही है। सूत्रकृताग मे इनका उल्लेख नमि, असित देवल, बाहुक आदि के साथ हुआ है। सूत्रकृताग और ऋषिभाषित दोनो से यह स्पष्ट है कि ये जैनेतर परम्परा के ऋषि हैं तथापि इन्हे जैन परम्परा मे सम्मानित रूप मे देखा जाता था।

नारायण ऋषि के उपदेश का मुख्य प्रतिपाद्य क्रोधाग्नि की दुर्निवार्यता है।[२७०] कहा गया है कि अग्नि को जल से शान्त किया जा सकता है, किन्तु क्रोधाग्नि का निवारण कठिन है। अग्नि तो एक ही भव (जीवन) को समाप्त करती है, किन्तु क्रोधाग्नि तो अनेक भवो को समाप्त करती है। अग्नि से जला हुआ शान्ति प्राप्त कर लेता है, किन्तु क्रोधाग्नि से जला हुआ तो बार-बार दु ख (अशान्ति) का अनुभव करता है। सामान्य अन्धकार तो ज्योति या मणि से दूर किया जा सकता है, किन्तु क्रोध रूपी अन्धकार तो दुर्निवार्य है। पुन, क्रोध अपने को और दूसरो को दोनो को जलाता है। उसके कारण धर्म, अर्थ और काम तीनो ही पुरुषार्थ नष्ट हो जाते है अत. क्रोध का निरोध करना चाहिए।

---

२६८ सूत्रकृताग १/३/४/२

२६९ सूत्रकृताग चूर्णि पृष्ठ १२०

२७० ऋषिभाषित ३६

यद्यपि जैन परम्परा मे आठवे वासुदेव का नाम भी नारायण है, जिन्हे लक्ष्मण भी कहा गया है, किन्तु ऋषिभाषित के नारायण (तारायण) इनसे भिन्न हैं। इनकी पहचान वैदिक परम्परा के नारायण ऋषि से की जा सकती है। वैदिक या हिन्दू परम्परा मे नारायण स्वय ईश्वर का ही नाम है, किन्तु उसमे नारायण नामक ऋषि भी हुए है, जिन्हे भी ईश्वर का अवतार माना जाता है। सामान्यतया इन्हे नर-नारायण नामक ऋषि-युगल के रूप मे जाना जाता है।[२७१] इन्होने बद्रिकाश्रम मे रहकर सहस्रो वर्षो तक तप किया है।[२७२] शान्तिपर्व मे नारद के साथ इनके सवाद का उल्लेख है।[२७३] तैत्तिरीय आरण्यक का दसवा प्रपाठक नारायणोपनिषद के नाम से प्रसिद्ध है।[२७४]

बौद्ध परम्परा मे नारायण नामक ऋषि के सम्बन्ध मे कोई जानकारी नही मिलती है। अन्यत्र उपलब्ध विवरणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूत्रकृताग और ऋषिभाषित मे उल्लेखित नारायण (तारायण) हिन्दू परम्परा के नारायण नामक ऋषि ही है।

३७. श्रीगिरि

ऋषिभाषित का सैंतीसवा अध्याय श्रीगिरि नामक ब्राह्मण परिव्राजक से सम्बन्धित है। यह अध्याय तेतलीपुत्र (१०), बाहुक (१४), उत्कटवादी (२०), एव पार्श्व (३१) अध्ययन के समान पूर्णत गद्यरूप मे है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त श्रीगिरि का उल्लेख न तो जैन साहित्य मे कही उपलब्ध होता है और न बौद्ध एव वैदिक साहित्य मे ही। अत. श्रीगिरि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे हमे कोई जानकारी किन्ही भी स्रोतो से उपलब्ध नही है।

प्रस्तुत अध्याय के प्रथम भाग मे हमे सृष्टि सम्बन्धी तीन सिद्धान्तो का उल्लेख मिलता है।[२७५] इसमे कहा गया है कि (१) सर्वप्रथम जल ही था उसमे अण्डा प्रकट हुआ, फिर लोक (सृष्टि) उत्पन्न हुआ और वह सश्वसित (जीवन युक्त) हुआ—ऐसा वरुण विधान नही है। यहाँ श्रीगिरि सृष्टि की जल एव अण्डे से उत्पत्ति होने सम्बन्धी अवधारणा का खण्डन करते है। यह स्पष्ट है कि सृष्टि सम्बन्धी यह अवधारणा औपनिषदिक चिन्तन मे उपस्थित थी। सूत्रकृताग

---

२७१ देखें—महाभारत नामानुक्रमणिका पृष्ठ १७५

२७२ महाभारत वन पर्व ७२/३३९

२७३ महाभारत शाति पर्व ३३४/१३–१५

२७४ देखे, वैदिक कोष पृ २४४

२७५ ऋषिभाषित ३७

मे भी इस अवधारणा को प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया गया है।[२७६] (२) सृष्टि सम्बन्धी दूसरी अवधारणा 'माया' की है—सृष्टि को माया से प्रसूत कहा जाता है, किन्तु श्रीगिरि इसका खण्डन करते हुए कहते है कि यह विश्व माया नही है। इस प्रकार इन दो अवधारणाओ का खण्डन करने के पश्चात् वे अपनी तीसरी अवधारणा शाश्वतवाद की प्रस्तुत करते हुए कहते है कि (३) ऐसा नही था कि विश्व कभी नही था, कभी नही है अथवा कभी नही रहेगा। इस प्रकार यहाँ सृष्टि को शाश्वत स्वीकार किया गया है। यह अवधारणा पार्श्व की भी थी, जिसका भगवती सूत्र (५/९) मे महावीर ने भी समर्थन किया था। वैदिक परम्परा मे यह अवधारणा मीमासा दर्शन के निकट है। उपनिषदो मे भी इसका उल्लेख मिलता है।

श्रीगिरि के आचार सम्बन्धी उपदेशो से ऐसा लगता है कि वे वैदिक कर्मकाण्ड के समर्थक थे, फिर भी उनके द्वारा प्रस्तुत अग्निहोत्र (यज्ञ) मे प्राणी हिसा का विधान नही है। वे कहते है—उभय काल, उभय सन्ध्या मे दूध, मक्खन, मधु, क्षार, शख और समिधा को एकत्रित कर उन्हे समर्पित करता हुआ अग्निहोत्र कुण्ड को जागृत रखते हुए मै रहूँगा। इसीलिए मैं यह सब कहता हूँ जिसे सुनकर साधक सूर्य के साथ गमन करे, जहाँ रात्रि हो जावे वही रुक जाये और सूर्य के उदित होने पर प्राची, प्रतीचि, उत्तर या दक्षिण दिशा मे युगमात्र (चार हस्त प्रमाण भूमि) को देखता हुआ यथारीति विचरण करे। सूर्य के साथ गमन की यह बात प्रकारान्तर से जैन परम्परा मे 'कप्प' (दशाश्रुतस्कन्ध ५/६-८), निसीह (निशीथ १०/३१-३४) और दसवेयालिय (दशवैकालिक ८/२८) मे भी उपलब्ध है।[२७७] सामान्यतया यह अवधारणा उस युग के सभी श्रमण ब्राह्मण परिव्राजको मे प्रचलित थी। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से श्रीगिरि के विचारो की प्रामाणिक जानकारी होते हुए भी हमे उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नही है।

३८. सारिपुत्र (सातिपुत्त)

ऋषिभाषित का अडतीसवा अध्याय सारिपुत्र (सातिपुत्त) अर्हत् बुद्ध के उपदेशो से सम्बन्धित है। ये सातिपुत्त निश्चय ही बौद्ध परम्परा के सारिपुत्र ही है। इनके नाम के साथ लगा 'बुद्ध' विशेषण और इनके विचारो की बौद्ध परम्परा से समानता इस तथ्य के महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त सारिपुत्र का उल्लेख आवश्यक चूर्णि मे प्राप्त होता है।[२७८] उसमे इन्हे बुद्ध का अनुयायी बताया

---

२७६ सूत्रकृताग १/१

२७७ देखें—इसिभासियाइ (शुब्रिग) पृ ११८

२७८ आवश्यकचूर्णि I पृ ८२

है। इसी प्रकार आचारांग शीलाङ्क टीका मे भी इनका उल्लेख है।[२७९] इसके अतिरिक्त साईदत्त (स्वातिदत्त) नामक चम्पा के निवासी एक ब्राह्मण का भी उल्लेख मिलता है। महावीर ने उसकी शाला मे एक चातुर्मास किया था।[२८०] किन्तु, इनकी सातिपुत्त या सारिपुत्त के साथ एकरूपता स्थापित कर पाना कठिन है।

सारिपुत्र के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण बौद्ध परम्परा मे उपलब्ध है। 'डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स्' मे इनके सम्बन्ध मे पालि साहित्य के आधार पर जो विवरण उपलब्ध है वह भी १० पृष्ठो मे है।[२८१] विस्तार भय से वह सब विवरण यहाँ दे पाना कठिन है। हम मात्र कुछ प्रमुख तथ्यो का ही उल्लेख करेंगे। बौद्ध परम्परा मे इन्हे बुद्ध के दो अग्र श्रावको मे स्थान देकर इनका सम्मान किया गया है। इन्हे नालक ग्राम के ब्राह्मण वङ्गन्त के पुत्र कहा गया है। इनकी माता का नाम रूपसारी था। अपनी माता के नाम पर ये सारिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। बुद्ध ने इन्हे धर्म-सेनापति और महाप्रज्ञावान कहा था। बौद्ध धर्म सघ मे प्रवेश करने के पूर्व ये सञ्जय के शिष्य थे। सञ्जय का उल्लेख भी ऋषिभाषित मे अर्हत् ऋषि के रूप मे हुआ है।[२८२] बरुआ ने इन सञ्जय को बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरो मे से एक सञ्जय वेलट्ठिपुत्त माना है।[२८३] मेरी दृष्टि मे भी यही सञ्जय सारिपुत्र के पूर्व गुरु होगे, जिन्हे सारिपुत्र ने बुद्ध से मिलने के लिए आमन्त्रित किया था, किन्तु इन्होने इससे इन्कार कर दिया था। पालि साहित्य मे सारिपुत्र के उपदेश और दार्शनिक विचार विस्तार से उपलब्ध है। ऋषिभाषित के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

ऋषिभाषित मे सारिपुत्र के उपदेश का मुख्य प्रतिपाद्य अतियो से बचकर मध्यम मार्ग की साधना है।[२८४] यह उपदेश बौद्ध धर्म का केन्द्रीय तत्त्व है। वे कहते हैं जिस सुख से सुख प्राप्त होता है वही आत्यन्तिक सुख है, किन्तु जिस सुख से दु ख प्राप्त हो, उसका समागम न हो। इस कथन का वक्तव्य यही है कि, दु ख प्रदाता सुख वरेण्य न होकर सुख प्रदाता सुख ही वरेण्य है। सुख से सुख प्राप्त होता है, दु ख से सुख प्राप्त नही होता है। इसीलिये वे आगे कहते है कि मनोज्ञ भोजन कर, मनोज्ञ शय्या और आवास मे रहकर भिक्षु समाधि पूर्वक ध्यान करता है। जबकि

---

२७९ आचाराग शीलाङ्क टीका पृ १३५
२८० (अ) आवश्यक चूर्णि I पृ ३१६, ३२० (ब) विशेषावश्यक भाष्य गाथा १९७९
२८१ Dictionary of Pali Proper Names-II, P P. 1108–1118
२८२ ऋषिभाषित ३९
२८३ Dictionary of Pali Proper Names Vol. II, P 1000
२८४ देखें–ऋषिभापित ३८

अनमोज्ञ भोजन, शय्या और आवास मे रहकर वह दु खपूर्वक ध्यान करता है। यहाँ स्पष्ट रूप से निर्ग्रन्थो की देह-दण्डन की प्रक्रिया का विरोध परिलक्षित होता है। यद्यपि इसका तात्पर्य यह नही है कि सारिपुत्र भोग मार्ग के समर्थक है। अग्रिम गाथाओ मे उन्होने इन्द्रिय सयम का उपदेश दिया है। वे कहते हैं, अप्रमत्त (जागृत) प्रज्ञावान साधक को इन्द्रियो के विपयो मे लुब्ध नही होना चाहिए, उनमे आसक्ति का त्याग करना चाहिए। क्योकि, अप्रमत्त साधक की सुप्त पचेन्द्रिया अल्प दु ख का कारण होती है। पुन साधना का उद्देश्य सुख-दु ख का अतिक्रमण बताते हुए कहा गया है—जिस प्रकार व्याधि को शान्त करने के लिए कटु या मधुर जैसी भी औषधि वैद्य द्वारा निर्देश हो सेवन की जाती है, उसी प्रकार मोह रूपी व्याधि के उपशमन के लिए ज्ञानीजनो द्वारा उपदिष्ट कठोर (कष्टप्रद) या सरल (सुखप्रद) साधना की जाती है। जिस प्रकार चिकित्सा का उद्देश्य रोग-शमन है, सुख और दु ख नही है, यद्यपि चिकित्सा काल मे सुख-दु ख होते हैं, उसी प्रकार साधना का उद्देश्य मोह प्रहाण है, सुख या दु ख नही, यद्यपि साधना काल मे सुख-दु ख होते है। इस प्रकार साधक को सुख-दु ख से परे रहने को कहा गया है। सामान्यजनो का सवेग (पाप से भय), उत्तमजनो का निर्वेद (वैराग्य), यदि आकाक्षा युक्त है तो वे दीनभाव है। सारिपुत्र अरण्यवास और आश्रमवास की अवधारणाओ मे मध्यस्थ भाव रखते हुए कहते है—दमितेन्द्रिय वीर पुरुष के लिए क्या जगल और क्या आश्रम ? स्वभावभावित आत्मा के लिए अरण्य और ग्राम दोनो ही समान हैं। ऐसी आत्मा तो मुनिवेश और परिवार कही भी रहकर विशुद्धि प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार सारिपुत्र साधनो पर बल न देकर साधना मे चित्तवृत्ति की विशुद्धि पर वल देते है जोकि वौद्ध धर्म-दर्शन की विशेषता है।

उपर्युक्त विवरणो से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये सारिपुत्र बौद्ध परम्परा के सारिपुत्र ही है। इसका आधार यह है कि इस अध्याय की प्रारम्भिक गाथाए बौद्ध मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए शीलाङ्क की सूत्रकृताग टीका मे तथा षड्दर्शन समुच्चय की टीका मे कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ उपलब्ध होती है। परम्परागत मान्यता के अनुसार इन्हे महावीर के काल का अर्हत् ऋषि या प्रत्येकबुद्ध माना जाता है। बुद्ध के समकालीन होने से ये स्वत महावीर के समकालीन भी सिद्ध हो जाते हैं।

३६. संजय

ऋषिभाषित का उन्तालीसवा अध्याय सजय नामक अर्हत् ऋषि से सम्वन्धित है। सजय का उल्लेख ऋषिभाषित के अतिरिक्त उत्तराध्ययन मे भी उपलब्ध है।[२८५] यद्यपि जैन परम्परा मे सजय नामक अनेक व्यक्तियो के उल्लेख

---

२८५ देखे—उत्तराध्ययन अध्याय १८

मिलते है, किन्तु उनकी ऋषिभाषित के सजय के साथ कोई सगति नही बैठती है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे सशय का कोई अवकाश नही है कि उत्तराध्ययन के १८वे अध्याय मे उल्लेखित सजय और ऋषिभाषित के सजय एक ही व्यक्ति है। उत्तराध्ययन के अनुसार ये कम्पिलपुर के राजा थे। किसी समय शिकार के लिए केशर उद्यान मे गये। वहाँ उन्होने हरिण का शिकार किया। मृत हरिण को वहाँ ध्यानस्थ गर्दभिल्ल नामक आचार्य के चरणो के निकट देखकर ये मुनि के शाप के भय से भयभीत हुए। मुनि से क्षमायाचना की। आचार्य के अभय और अहिसा के उपदेश से प्रभावित हो, राज्य का परित्याग कर उनके चरणो मे दीक्षित हो गये। मृग-वध की यह बात वे ऋषिभाषित के इस अध्याय की पाचवी गाथा मे स्वीकार करते है और कहते है—मुझे सुस्वादु भोजन एव भव्य (भद्र) आवासो से कोई प्रयोजन नही, जिनके कारण मृग का वध करने के लिए सजय जगल मे जाता है।[२८६] ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन मे वर्णित सजय की एकरूपता के लिए इससे अधिक किसी अन्य प्रमाण की कोई आवश्यकता नही रह जाती है। उत्तराध्ययन के उस अध्याय को 'सयतीय' कहा जाता है यह ठीक नही है, उसे 'सजयीय' कहना चाहिए। उत्तराध्ययन के अनुसार ये गर्दभिल्ल के शिष्य है। ऋषिभाषित के ही ३३वे अध्याय मे यह उल्लेख है कि कल्याण-मित्रो के ससर्ग से मिथिलापति सजय देवलोक को प्राप्त हुए (३३/१६)। किन्तु, ये सजय मिथिला के राजा है जबकि उत्तराध्ययन के सजय कम्पिलपुर के राजा है, अत दोनो को एक मानने मे बाधा आती है। मेरी दृष्टि मे ३३वे अध्याय मे उल्लेखित सजय ३९वे अध्याय के प्रवक्ता सजय से भिन्न होगे।

बौद्ध परम्परा मे हमे सजय नामक ७ व्यक्तियो का उल्लेख मिलता है,[२८७] किन्तु उनमे से सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और संजय वेलट्ठिपुत्त के नाम से प्रसिद्ध सजय के अतिरिक्त अन्य किसी सजय से ऋषिभाषित मे उल्लेखित सजय की एकरूपता स्थापित कर पाना कठिन है। बौद्ध विद्वानो मे इस सम्बन्ध मे अधिक मतभेद नही है कि सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और सजय वेलट्ठिपुत्त एक ही व्यक्ति है। ये बुद्ध के समकालीन छह तीर्थकरो मे एक माने गये है, अत दोनो मे कालिक समानता तो है ही। साथ ही सारिपुत्र और मोग्गलायन के साथ इनके २५० शिष्यो का बुद्ध के सघ मे प्रवेश भी इस तथ्य का सूचक है कि ये अपने युग के प्रभावशाली आचार्य थे। अत यह निर्विवाद है कि सारिपुत्र के पूर्व-गुरु और सजय वेलट्ठिपुत्त एक ही व्यक्ति है। अब प्रश्न यह है कि क्या ये और ऋषिभाषित के सजय भी एक ही व्यक्ति हैं? यदि हम इस परम्परागत मान्यता को स्वीकृत करते हैं कि ऋषिभाषित के सजय महावीर के समकालीन है, तो बुद्ध के समकालीन और सारिपुत्र के पूर्व-गुरु

---

२८६ जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए सजए। —ऋषिभाषित ३९/५

२८७ देखे—Dictionary of Pali Proper Names Vol II. P P. 998–1000.

सजय वेलट्ठिपुत्त से इनकी एकरूपता स्थापित करने मे कालिक दृष्टि से कोई बाधा नही आती है। चूकि, यदि ऋषिभाषित मे महावीर के समकालीन मखलि गोसाल के विचार सकलित हो सकते है, तो उसमे सजय वेलट्ठिपुत्त के विचारो को सकलित होने मे कोई आपत्ति नही हो सकती है। बौद्ध परम्परा मे सजय को विक्षेपवादी या सशयवादी कहा गया है, क्योकि वे तात्त्विक प्रश्नो के निश्चयात्मक या एकान्तिक उत्तर नही देते थे । आज की भापा मे वे किसी तात्त्विक समस्या के सम्वन्ध मे विविध विकल्पों की सम्भावना को देखते होगे, अत. निश्चयात्मक भापा का प्रयोग नही करते होगे। ऋषिभाषित मे उनकी इस प्रकार की दृष्टि के प्रमाण उनके निम्नलिखित शब्दो मे मिलते है—पाप कर्म को सम्यक् रूपेण जान पाना रहस्यमय है,[२८८] क्योकि कर्म का (अच्छा या वुरा होने का निर्णय) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अध्यवसाय आदि की दृष्टि से सम्यक् विचार करने पर ही हो सकता है। ऋषिभाषित मे प्रयुक्त 'रहस्से' शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। यहाँ 'समज्जिणित्ता' की जगह 'सम्म जाणित्ता' पद अधिक उपयुक्त होगा। (देखे—गाथा ४ के पश्चात् का गद्य भाग)

ऋषिभाषित मे सजय का उपदेश अति सक्षिप्त है। उसमे कहा गया है–पाप कृत्य न तो करना चाहिए और न करवाना चाहिए। यदि करना पड़ा हो या कर लिया हो तो उसे बार-बार न करे और उसकी आलोचना करे।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन मे उल्लेखित सजय ऋषि एक ही हैं और सम्भावना यही है कि वे ही सारिपुत्र के पूर्व गुरु और बुद्ध के समकालीन छह तीर्थकरो मे से एक सजय वेलट्ठिपुत्त हो । वैदिक परम्परा मे महाभारतकालीन धृतराष्ट्र के मत्री सजय का उल्लेख तो मिलता है,[२८९] किन्तु ये कालिक एव अन्य दृष्टियो से ऋषिभाषित के सजय से भिन्न ही हैं।

४०. द्वैपायन (दीवायरण)

ऋषिभाषित के ४०वे अध्याय मे द्वैपायन नामक ऋषि के उपदेशो का सकलन है। ऋषिभाषित के अतिरिक्त द्वैपायन (दीवायण) का उल्लेख सूत्रकृताग,[२९०] समवायांग,[२९१] औपपातिक,[२९२] अन्तकृद्दशा,[२९३] दशवैकालिक

२८८ रहस्से खलु भो पावकम्म... । —ऋषिभाषित ३९
२८९ महाभारत नामानुक्रमणिका–पृ ३६४–३६५
२९० सूत्रकृताग १/३/४/३
२९१. समवायाग सूत्र १५९ (प्रकीर्णक समवाय)
२९२ औपपातिक सूत्र ३८
२९३. अन्तकृत्दशा वर्ग २

चूर्णि,[२९४] सूत्रकृताग चूर्णि,[२९५] मे मिलता है। इतना निश्चित है कि सर्वत्र इन्हे निर्ग्रन्थ परम्परा से भिन्न परम्परा के ऋषि कहा गया है। सूत्रकृताग मे इनका उल्लेख नमि, बाहुक, असित देवल, नारायण, पाराशर आदि ऋषियो के साथ हुआ है और यह कहा गया है कि इन्होने सचित्त जल एव फल आदि का उपभोग करते हुए सिद्धि प्राप्त की। समवायाग के अनुसार ये आगामी उत्सर्पिणी काल मे तीर्थंकर होगे। औपपातिक मे इन्हे ब्राह्मण परिव्राजको की एक परम्परा का प्रणेता कहा गया है। अन्तकृत्दशा, दशवैकालिक चूर्णि आदि मे यह कहा गया है कि यादवो ने इनकी साधना मे विघ्न उपस्थित किये। परिणाम स्वरूप इन्होने द्वारिका के विनाश का निदान कर लिया और मर कर ये अग्निकुमार देव हुए और द्वारिका का विनाश किया। यद्यपि इन ग्रन्थो मे इनके जीवन की विविध घटना-क्रमो के आधार पर इनके व्यक्तित्व की एकरूपता को देखने का प्रयास नही हुआ है, किन्तु मेरी दृष्टि मे ये सभी उल्लेख एक ही द्वैपायन के सन्दर्भ मे हैं। इनके सम्बन्ध मे परम्परागत यह धारणा कि, ये महावीर के काल मे हुए, भ्रान्त है। उपरोक्त सन्दर्भो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये औपनिषदिक काल के पूर्व महाभारत काल के ऋषि रहे होगे।

बौद्ध परम्परा मे कण्ह दीपायण नाम के दो व्यक्तियो के उल्लेख है।[२९६] कृष्ण द्वैपायन (कण्ह दीपायण) जातक मे जो कण्ह दीपायण की कथा दी गई है, उसका ऋषिभाषित और जैन परम्परा मे उल्लेखित द्वैपायन (दीवायण) से कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु, जातक मे ही कण्ह दीपायण की एक अन्य कथा भी दी गई जिसमे उनका सम्बन्ध द्वारिका (द्वारवती) एव वासुदेव के वश (यादव वश) के विनाश से दिखाया गया है। थोडे बहुत परिवर्तनो के साथ यह कथा जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो परम्परा मे पाई जाती है।

वैदिक परम्परा मे कृष्ण द्वैपायन या द्वैपायन का उल्लेख महाभारभ मे विस्तार से मिलता है।[२९७] वैदिक परम्परा मे इनका प्रचलित नाम व्यास अथवा वेद व्यास है। इन्हे महर्षि पाराशर का पुत्र तथा महाभारत का रचयिता भी माना जाता है। इन्होने भीष्म की आज्ञा से विचित्रवीर्य की पत्नियो से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर ये पुत्र उत्पन्न किये थे। शुकदेव को भी इनका पुत्र कहा जाता है। वैशम्पायन इनके प्रमुख शिष्य थे। महाभारत इनके जीवन और उपदेशो का विस्तृत विवरण है, यद्यपि उसमे पौराणिक पक्ष अधिक और ऐतिहासिक पक्ष कम है।

---

२९४ दशवैकालिक चूर्णि पृ ४१

२९५ सूत्रकृताग चूर्णि पृ १२०

२९६ देखे–Dictionary of Pali Proper Names, Vol I P P 501–502

२९७ देखे–महाभारत नामानुक्रमणिका पृ ८७, १९२

जन, बौद्ध और वैदिक तीनो परम्पराओ मे इनके उल्लेख से यह माना जा सकता है कि ये प्राक् ऐतिहासिक काल के कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है । यद्यपि औपनिषदिक प्राचीन साहित्य मे इनके नाम का उल्लेख न होना विचारणीय अवश्य है, यद्यपि उसमे इनके पिता पाराशर और पाराशरी पुत्रो का उल्लेख है ।[२९८]

ऋषिभाषित मे इनका जो उपदेश सकलित है, उसमे इच्छा को अनिच्छा मे परिवर्तित करने का निर्देश है ।[२९९] दूसरे शब्दो मे ये आकाक्षा के प्रहाण का उपदेश देते है । उनका कथन है कि इच्छाओ के कारण ही प्राणी दु ख पाता है । इच्छाओ के वशीभूत हो माता-पिता, गुरुजन, राजा और देवता सभी की अवमानना कर देता है । इच्छा ही धनहानि, बन्धन, प्रिय वियोग और जन्म-मरण का मूल है । अत. इच्छाओ पर विजय प्राप्त करना चाहिये, क्योकि इच्छारहित होना ही सुख का मूल है । इस अध्याय की गाथा २ एव ३ कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ ऋषिभाषित के ३६वे अध्याय की गाथा १३-१४ के रूप मे मिलती है । इसी प्रकार इसका 'जहा थाम जहा बल जधा विरिय' वाक्याश दशवैकालिक मे भी मिलता है ।

४१. इन्द्रनाग (इंदनाग)

ऋषिभाषित का ४१वा अध्याय इन्द्रनाग नामक अर्हत् ऋषि से सम्बन्धित है । ऋषिभाषित के अतिरिक्त इन्द्रनाग का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति,[३००] विशेषावश्यक भाष्य,[३०१] आवश्यक चूर्णि,[३०२] आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति[३०३] और आचाराग की शीलाङ्क टीका मे मिलता है ।[३०४] ये बाल तपस्वी के रूप मे प्रसिद्ध थे । गणधर गौतम ने इनसे सम्पर्क स्थापित किया था । इन्हे जीर्णपुर (जिण्णपुर) का निवासी बताया गया है । बौद्ध एव वैदिक परम्परा मे हमे इनका कोई उल्लेख उपलब्ध नही हुआ । जैन स्रोतो से यह भी निश्चित हो जाता है कि ये महावीर के समकालीन थे, जिसे परम्परागत रूप मे मान्य किया गया है ।

जहाँ तक ऋषिभाषित मे उपलब्ध इन्द्रनाग के उपदेशो का प्रश्न है, वे सर्वप्रथम यह बताते है कि आजीविका के लिए किया जाने वाला तप तथा सुकृत

---

२९८ वृहदारण्यकोपनिषद् ६/५/१
२९९ ऋषिभाषित ४०
३०० आवश्यक निर्युक्ति ८४७
३०१ विशेषावश्यक भाष्य ३२९०
३०२ आवश्यक चूर्णि I पृ १२, १३४, १३९ एव ४६६
३०३ आवश्यक हरिभद्रीयवृत्ति पृ ३४७
३०४ आचाराग शीलाक टीका पृ १७९

निरर्थक है। विषय-वासना मे डूबा हुआ प्राणी अपना विनाश ही करता है। मुनिवेश को आजीविका का साधन नही बनाना चाहिए। मुनि को विद्या, तन्त्र-मन्त्र, दूत-कर्म, भविष्य फल कथन आदि से भी आजीविका प्राप्त नही करनी चाहिए। इस प्रकार इनके उपदेश का सार लोकैषणा से उपर उठकर सयम की साधना है। सामान्य रूप से यह उपदेश अनेक प्रसगो मे पाया जाता है। इस अध्याय की गाथा १३ उत्तराध्ययन और धम्मपद मे यथावत् रूप मे मिलती है। इसी प्रकार १६वी गाथा ऋषिभाषित के जण्णवक्क (याज्ञवल्क्य) नाम १२वे अध्याय मे तथा कुछ शाब्दिक परिवर्तन के साथ दशवैकालिक मे भी मिलती है।

४२–४५ सोम, यम, वरुण एवं वैश्रमण

ऋषिभाषित के अन्तिम चार अध्याय क्रमश सोम, यम, वरुण और वैश्रमण से सम्वन्धित है। यद्यपि प्रस्तुत अध्यायो मे इन्हे अर्हत् ऋषि कहा गया है और सग्रहणी गाथा के अनुसार ये चारो प्रत्येकबुद्ध भगवान महावीर के युग मे हुए, ऐसा माना जाता है। किन्तु, इनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध मे हमे किन्ही भी स्रोतो से कोई भी जानकारी उपलब्ध नही होती है। यद्यपि जैन साहित्य मे सोम नामक ब्राह्मण के पार्श्व की परम्परा मे दीक्षित होने के उल्लेख है और यह भी माना गया है कि ये अपनी मृत्यु के पश्चात् शुक्र के रूप मे उत्पन्न हुए।[३०५] इसी प्रकार वरुण का उल्लेख एक श्रमणोपासक के रूप मे हुआ है, जो रथ-मूसल सग्राम मे मारा गया था और मर कर देव हुआ। इसका विश्वास था कि युद्ध मे मरने पर स्वर्ग मिलता है।[३०६] इसी प्रकार यमदग्नि के पिता के रूप मे यम का भी उल्लेख है।[३०७] यद्यपि ये ही व्यक्ति ऋषिभाषित के ऋषि है ऐसा स्पष्टतया प्रतीत नही होता है। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा मे भी सोम, वरुण आदि नाम के कुछ व्यक्तियो का उल्लेख है, किन्तु उनका सम्बन्ध ऋषिभाषित के इन ऋषियो से जोड पाना कठिन है। वस्तुत जैन, बौद्ध एव वैदिक तीनो परम्पराओ मे इन्हे लोकपाल के रूप मे स्वीकृत किया गया है। यद्यपि जहाँ जैन परम्परा मे सोम, यम, वरुण और वैश्रमण—ये चार लोक-पाल है,[३०८] वहाँ वैदिक परम्परा मे इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण ये चार लोकपाल है।[३०९] इन्हे धर्मोपदेष्टा माना गया है। उपनिषदो मे यम नचिकेता सम्वाद प्रसिद्ध है। फिर भी ये चारो पौराणिक ही है, ऐतिहासिक व्यक्ति नही हैं। लोकपालो को

---

३०५ देखे–Prakrit Proper Names, Vol, II P 864

३०६ Igid Vol II–P P 677–678

३०७ आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ ५१६

३०८ (अ) Prakrit Proper Names-Vol II P 657,
(ब) भगवती सूत्र ४१७–४१८

३०९ महाभारत नामानुक्रमणिका पृ २६१

धर्मोपदेशक माने जाने के कारण ही इन्हे ऋषिभाषित मे स्थान दिया गया होगा। वैसे इनके साथ लगा अर्हत् ऋषि पद विचारणीय हे।

जहाँ तक इन चारो ऋषियो के उपदेशो का प्रश्न है वहाँ प्रथम तीन अर्थात् सोम, यम और वरुण के उपदेश मात्र एक-एक गाथा मे मिलते हैं। मात्र वैश्रमण का उपदेश विस्तार से ५३ गाथाओ मे मिलता है।

सोम का उपदेश है कि साधक ज्येष्ठ, मध्यम या कनिष्ठ किसी भी पद पर हो, अल्प से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करे।[३१०]

यम कहते है जो लाभ मे प्रसन्न और अलाभ मे कुपित नही होता है वही मनुष्यो मे श्रेष्ठ है।[३११]

वरुण का कथन है कि जो राग-द्वेष से अप्रभावित रहता है वही सम्यक् निश्चय कर पाता है।[३१२]

जहाँ तक वैश्रमण के उपदेशो का प्रश्न है। वे सर्वप्रथम तो काम के निवारण और पाप कर्म नही करने का सामान्य उपदेश ही देते है। इनके साथ ही अहिंसा के महत्त्व एव आत्मतुल्यता का आदर्श प्रस्तुत कर अहिंसा के पालन का सदेश देते है।[३१३] इस अध्याय मे अगधण कुल के सर्प,[३१४] तैल-पात्र[३१५] तथा पुण्य-पाप की स्वर्ण और लौह वेडियो से तुलना[३१६] के उदाहरण प्रयुक्त किये गये है। जो आगे चलकर उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक चूर्णि, कल्पसूत्रटीका एव कुन्दकुन्द के समयसार मे विकसित हुए है।

यह स्पष्ट है कि जैन धर्म एव दर्शन का कोई भी ऐसा पक्ष नही है जिसके मूल बीज ऋषिभाषित मे उपलब्ध नही हो। वस्तुत आज आवश्यकता इस बात की है कि इसमे वर्णित व्यक्तित्वो और उनके उपदेशो का तुलनात्मक दृष्टि से गम्भीर अध्ययन किया जाये। इस ग्रन्थ के तुलनात्मक अध्ययन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन यह हो कि जहाँ एक ओर हम भारत की विभिन्न धार्मिक परम्पराओ की निकटता के दर्शन करेंगे, वही आज की जैन परम्परा मे कहाँ से क्या आया है? इसका भी बोध हो सकेगा।

---

३१० ऋषिभाषित ४१
३११ वही ४२
३१२ वही ४३
३१३ ऋषिभाषित ४५
३१४ वही ४५/४०, तुलनीय उत्तराध्ययन २२/४१
३१५ वही ४५/२२। ३१६ वही ४५/५०

ऋषिभाषित निर्युक्ति और ऋषिमण्डल

यहाँ ऋषिभाषित निर्युक्ति और ऋषिमण्डल के सबध मे भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य भद्रबाहु के निर्युक्ति साहित्य मे ऋषिभाषित का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति और सूत्रकृताग निर्युक्ति मे हुआ है। आवश्यक निर्युक्ति मे वे ऋषिभाषित पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करते हुए निम्न गाथा प्रस्तुत करते है —

आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे।
सूयगडे निज्जुत्ति वुच्छामि तहा दसाण च॥
कप्पस्स य णिज्जुति, ववहारस्सेव परमणिउणस्स।
सूरिअपणत्तीए, वुच्छ इसिभासिआण च॥

—आवश्यक निर्युक्ति ८४–८५

इसके पश्चात् सूत्रकृताग-निर्युक्ति मे वे ऋषिभाषित के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते है कि—

तह वि य कोई अत्थो उप्पज्जइ तम्मि समयम्मि।
पुव्वभणिओ अणुमओ य होइ इसिभासिएसु जहा॥

—सूत्रकृताग-निर्युक्ति १८९

अर्थात् इसी प्रकार किसी सिद्धान्त (अन्य परम्परा) मे कोई विशेष अर्थ परिलक्षित होता है, तो वह ऋषिभाषित के समान पूर्वकथित और मान्य होता है। इस निर्युक्ति गाथा का एक फलित यह भी है कि ऋषिभाषित पूर्व-कथित और मान्य है। यदि पूर्व साहित्य पार्श्व की परम्परा का साहित्य है, जो महावीर की परम्परा द्वारा मान्य है, तो ऋषिभाषित पूर्व साहित्य का ग्रन्थ होने से पार्श्व की परम्परा का ग्रन्थ माना जाएगा, जिसे महावीर की परम्परा मे मान्य किया गया था। शुब्रिंग ने अपनी भूमिका मे इसे पार्श्व की परम्परा से सम्बद्ध माना है।

भद्रबाहु (द्वितीय) की आवश्यक निर्युक्ति से ऋषिभाषित निर्युक्ति लिखी जाने की सूचना मिलती है। किन्तु, वर्तमान मे ऋषिभाषित निर्युक्ति अनुपलब्ध है। परिणामत आज विद्वानो मे इस विषय पर भी मतभेद है कि वे यह निर्युक्ति लिख पाये थे, या नही। सामान्य विश्वास यही है कि उन्होने ऋषिभाषित पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा अवश्य की थी, किन्तु वे लिख नही पाये। उनके ऋषिभापित निर्युक्ति नही लिख पाने के दो कारण हो सकते है, प्रथम तो यह कि इस निर्युक्ति के लिखने का क्रम आने के पूर्व ही ये स्वर्गवासी हो गये हो अथवा दूसरे यह कि ऋषिभाषित मे अन्य परम्पराओ के ऋषियो के विचार सकलित होने से उन्होने स्वय ही उस पर निर्युक्ति लिखने का विचार त्याग दिया हो। किन्तु,

आचाराग चूर्णि मे निर्दिष्ट 'इसिमण्डलत्थू' एव उपलब्ध ऋपिमण्डल स्तव (इसिमण्डल) को देखने से मुझे ऐसा लगता है कि ऋषिभापित निर्युक्ति लिखी अवश्य गई होगी, चाहे आज वह अनुपलब्ध हो। अपने वर्तमान रूप मे इसिमण्डल को ऋषिभाषित की निर्युक्ति तो नही माना जा सकता है, फिर भी मेरा विश्वास है कि इसमे ऋषिभाषित निर्युक्ति की कुछ गाथाये यथावत् रूप मे या परिवर्तित रूप मे अवश्य सम्मिलित है। मेरे इस विश्वास के कुछ आधार है, जिस पर विद्वानो को गम्भीरतापूर्वक विचार करके अपनी प्रतिक्रियाए व्यक्त करना चाहिए।

सर्वप्रथम तो हमे यह देखना है कि निर्युक्ति की शैली मे तथा ऋपिभापित की शैली मे क्या कुछ समानता है ? निर्युक्ति की शैली की विशेपता यह होती है कि ग्रन्थ के जिस भाग या अध्याय पर निर्युक्ति लिखी जाती है, उसके प्रमुख शब्दो की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या के साथ उस अध्याय की विपय वस्तु का भी सक्षेप मे उल्लेख किया जाता है। इसिमण्डल मे इसिभासियाइ (ऋषिभाषित) की विषयवस्तु का सक्षिप्त विवरण देने वाली निम्न दो गाथाए मिलती है—

नारयरिसिपामुक्खे, वीस सिरिनेमिनाहतित्थम्मि।
पन्नरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि।।
पत्तेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउ सिव पत्ता।
पणयालीस इसिभासियाइ अज्झयणपवराइ।।

—इसिमण्डल–४४, ४५

उपर्युक्त दोनो गाथाये स्पष्ट रूप से इसिभासियाइ (ऋषिभाषित) पर लिखी जाने वाली किसी निर्युक्ति अथवा अन्य व्याख्या ग्रन्थ की प्रारम्भिक गाथाए हो सकती है, वैसे ये दोनो गाथाए ऋषिभाषित की सग्रहणी गाथा के रूप मे भी मानी जाती है। इसी प्रकार ऋपिमण्डल मे नारद के सम्बन्ध मे जो निम्न दो गाथाए उपलब्ध है वे भी ऋषिभापित के नारद नामक अध्ययन की सक्षिप्त व्याख्या जैसी प्रतीत होती है—

सुच्चा जिणिदवयण, सच्च सोय ति पभणिओ हरिणा।
कि सच्च ति पवत्तो चिततो जायजाइसरो।।
सबुद्धो जो पढम, अज्झयण सच्चमेव पन्नवई।
कुच्छुल्लनारयरिसि, त वदे सुगइमणुपत्त।।

—इसिमण्डल–४२, ४३

यदि हम इन दोनो गाथाओ की तुलना सूत्रकृताग निर्युक्ति की निम्न गाथा से करे, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि दोनो मे कितना शैली-साम्य है। सूत्रकृताग निर्युक्ति की वह गाथा इस प्रकार है—

अद्दपुरे अद्दसुतो नामेण अद्दश्रो त्ति अणगारो ।
तत्तो समुट्ठियमिण अज्झयण अद्दइज्ज ति ॥

—सूत्रकृताग-निर्युक्ति-गाथा—१८७

इसी प्रकार ऋपिमण्डल और सूत्रकृताग-निर्युक्ति की निम्न गाथाओ की तुलना से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनो मे कितना शैली एव भापा-साम्य है। इसी प्रकार—

नालदाए अद्धत्तेरस—कुलकोडिकय निवासाए ।
पुच्छिअ गोअमसामि, सावयवयपच्चक्खाणविहि ॥
जो चरमजिणसमीवे, पडिवन्नो पचजामिय धम्म ।
पेढालपुत्तमुदय, त वदे मुणियसयलनय ॥

—इसिमण्डल—१०२, १०३

तुलनीय

नालदाए समीवे मणोहरे भासि इन्दभूइणा उ ।
अज्झयण उदगस्स उ एय नालदइज्ज तु ॥
पासावच्चिज्जो पुच्छियाइयो अज्जगोयम उदगो ।
सावगपुच्छा धम्म सोउ कहियम्मि उवसन्ता ॥

—सूत्रकृताग-निर्युक्ति—२०४, २०५

यद्यपि पौराणिकता और समास बहुल भाषा की दृष्टि से सूत्रकृताग निर्युक्ति की अपेक्षा ऋषिमण्डल की गाथाए अपेक्षाकृत कुछ परवर्ती लगती है, फिर भी दोनो मे शैली साम्य है।

उपर्युक्त तुलनात्मक साम्यता से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषिभाषित पर कोई निर्युक्ति अवश्य लिखी गयी थी, जिसकी गाथाए यथावत् रूप मे अथवा किञ्चित् परिवर्तन के साथ पहले इसिमण्डलत्थू मे तथा बाद मे धर्मघोष कृतक माने जाने वाले ऋषिमण्डल प्रकरण (इसिमण्डल) मे सम्मिलित कर ली गई होगी। ऋषिमण्डल मे ऋषिभाषित के अधिकाश ऋषियो का उल्लेख मिलने से इस धारणा की पुष्टि होती है कि चाहें वर्तमान इसिमण्डल (ऋषिमण्डल) को ऋषिभाषित की निर्युक्ति अथवा आचाराग चूर्णि मे उल्लेखित इसिमण्डलत्थू न भी माना जाये, तो भी यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उनकी अनेक गाथाओ को अपने मे समाहित करता है।

'ऋषिमण्डल' के नाम से आज अनेक रचनाये उपलब्ध है। इनमे कुछ सस्कत मे और कुछ प्राकृत मे है। इनकी सूचना हमे खम्भात, पाटन और जैसलमेर

भण्डारो की हस्तप्रतो की सूचियो एव जिनरत्नकोश से मिलती है । किन्तु, प्रस्तुत विवेचन के प्रसग मे ऋषिमण्डल से हमारा तात्पर्य प्राकृत भाषा मे उपलब्ध तथा सामान्यतया धर्मघोषसूरि की रचना माने जाने वाले इसिमण्डल को तपागच्छीय धर्मघोषसूरि की रचना माना है, जो चौदहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हुए है । किन्तु, इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार नही किया गया है । इसके अनेक कारण है —

१ खरतर गच्छ, तपा गच्छ, अचल गच्छ और उपकेश गच्छ आदि सभी मे धर्मघोषसूरि नामक आचार्यो के होने की सूचना पट्टावलियो से प्राप्त होती है । ऋषिमण्डल की अन्तिम प्रशस्ति-गाथा मे 'सिरिधम्मघोस' मात्र इतना उल्लेख है । अत इस आधार पर यह निश्चित करना कठिन है कि ये धर्मघोष किस गच्छ के है और कब हुए है ?

२ जैसलमेर और खम्भात के भण्डारो मे इसिमण्डल प्रकारण की प्राचीन प्रतिया उपलब्ध होती है । इनमे ऋषिमण्डल प्रकरण की वृत्ति सहित सबसे प्राचीन ताडपत्रीय प्रति जैसलमेर भण्डार मे मिलती है । इस प्रति का लेखनकाल विक्रम १३८० उल्लिखित है, अत. रचना तो इसके भी पूर्व मे हुई होगी । तपागच्छ की पट्टावलियो के अनुसार तपागच्छीय धर्मघोषसूरि का समय वि स १३०२ से १३५७ माना जाता है । यदि यह उनके जीवन के उत्तरार्ध की रचना है तो मात्र २३ वर्षो मे उस पर वृत्ति लिखा जाना और उसकी प्रतिलिपियाँ हो जाना सम्भव प्रतीत नही होता है । इसी आधार पर निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित श्री ऋषिमण्डल प्रकरण (वृतियुक्त)की भूमिका (पृ २) मे विजयोमगसूरि ने इसे तपागच्छीय धर्मघोषसूरि की रचना मानने पर मूल ग्रन्थकार की अपेक्षा व्याख्याकार की प्राचीनता सिद्ध होने की सम्भावना व्यक्त की है । उनकी दृष्टि मे यह विधिपक्ष अचलगच्छनायक जयसिहसूरि के पट्टधर धर्मघोपसूरि की रचना होने की सम्भावना है । इनका काल वि स १२०८ से १२६८ माना गया है ।

३ ऋषिमण्डल (इसिमण्डल) को धर्मघोषसूरि की रचना मानने मे सबसे बाधक प्रमाण यह है कि आचाराग-चूर्णि मे 'इसिमण्डलत्थू' का उल्लेख है । अत. इतना निश्चित है कि आचाराग-चूर्णिकार के समक्ष उस नाम का कोई ग्रन्थ अवश्य था । आचाराग-चूर्णि के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते है । विद्वानो ने इनका समय विक्रम सवत ६५० से ७५० तक माना है । नन्दीचूर्णि मे उसका रचनाकाल शक स० ५९८ अर्थात् वि० स० ७३३ उल्लिखित है । अत आचाराग-चूर्णि भी लगभग इसी काल की होगी । इससे यह सिद्ध होता है कि 'इसिमण्डलत्थू' इसके पूर्व अर्थात् कम से कम छठी शताब्दी की रचना अवश्य होगी । विद्वानो ने निर्युक्तियो के रचयिता भद्रबाहु (द्वितीय) का काल भी यही माना है । यहाँ यह भी सम्भावना हो सकती है कि भद्रबाहु द्वितीय ने ऋषिभाषित-निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की हो, किन्तु बाद मे उनके स्थान पर स्वय 'इसिमण्डलत्थू' की रचना की

हो। आचाराग चूर्णि मे उल्लिखित 'इसिमण्डलत्थू' का वास्तविक स्वरूप क्या था, आज यह बता पाना कठिन है।

४. ऋषिमण्डल को धर्मघोषसूरि की ही रचना मानने मे एक अन्य कठिनाई यह भी है कि ऋषिमण्डल की सभी प्रतियो मे वे अन्तिम गाथाये नही है जिसमे उसके कर्त्ता के रूप मे धर्मघोषसूरि का नाम है। जैन विद्याशाला अहमदाबाद से प्रकाशित गुजराती भाषान्तर युक्त ऋषिमण्डल वृत्ति मे भी यह गाथा नही है। जैसलमेर भण्डार के केटलाग और खम्भात भण्डार के केटलाग मे ऋषिमण्डल की धर्मघोषसूरि कृत मानी जाने वाली प्रतियो मे भी गाथाओ की सख्या मे भिन्नता है। कुछ प्रतियो मे १०८ गाथाओ का उल्लेख है, कुछ मे २१० और किन्ही-किन्ही प्रतियो मे २२५ तथा २३३ गाथाओ का भी उल्लेख है।

मात्र यही नही, ऋषिमण्डस्तव के उपलब्ध प्रकाशित सस्करणो मे गाथाओ की सख्या मे स्पष्ट रूप से विभिन्नता परिलक्षित होती है—

(अ) ऋषिमण्डल वृत्ति शुभवर्द्धनसूरि कृत वृत्तियुक्त (प्रकाशित जैन विद्या शाला, दोशीवाडा पोल, अहमदाबाद सन् १९२५ ई.) मे २०५ गाथाये प्राप्त होती है। इसमे कर्त्ता के रूप मे धर्मघोषसूरि का उल्लेख नही है।

(ब) 'जैन स्तोत्र सन्दोह' मे (प्रकाशित प्राचीन जैन साहित्योद्धार ग्रन्थावलि न. १, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद १९३२) २०९ गाथाए और अन्त मे ग्रन्थ के कर्त्ता के रूप मे धर्मघोषश्रमण का उल्लेख है।

(स) 'ऋषिमण्डल प्रकरण', (प्रकाशित पद्ममन्दिर गणि कृत वृत्ति सहित—सेठ पुष्पचन्द्र क्षेमचन्द्र, वलाद वाया अहमदाबाद सन् १९३९ ई) मे २१७ गाथाये उपलब्ध है और इसमे कर्त्ता के रूप मे 'सिरिधम्मघोससमण' का उल्लेख है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान मे धर्मघोषसूरि कृत माने जाने वाले ऋषिमण्डल मे एकरूपता नही है। पुन गाथाओ के क्रम मे भी भिन्नता मिलती है। अत यह सम्भावना निरस्त नही की जा सकती कि वर्तमान ऋषिमण्डल प्रकरण मे आचाराग-चूर्णि मे उल्लिखित इसिमण्डलत्थू या ऋषिभाषित निर्युक्ति की गाथाए हो। अत धर्मघोषसूरि कृतक माना जाने वाला ऋषिमण्डल प्रकरण पूर्णत उनकी ही रचना हो यह सन्देहास्पद है।

५ ऋषिमण्डल प्रकरण की अन्तिम गाथाओ के सम्बन्ध मे विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि अन्तिम ३ या ४ गाथाएँ इसमे बाद मे जोड़ी गई है।

पूर्व मे ऋषिमण्डल प्रकरण देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की ही वन्दना के साथ समाप्त होता होगा। क्योकि, नन्दीसूत्र की एव कल्पसूत्र की स्थविरावलियो मे भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक के आचार्यो की ही वन्दना की गई है। यदि ऋषिमण्डल प्रकरण वस्तुत धर्मघोषसूरि की रचना होती, तो इसमे देवर्द्धिगणि के बाद के कुछ प्रमुख आचार्य यथा सिद्धसेन, जिनभद्र, जिनदास, हरिभद्र, सिद्धर्षि, अभयदेव और हेमचन्द्र आदि का भी उल्लेख अवश्य होता। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के वन्दन के पश्चात् इसमे जो ४ गाथाये मिलती है उनमे एक गाथा मे वर्तमान अवसर्पिणी के पचम आरे के अन्त मे होने वाले दु प्रसहसूरि नामक मुनि, फल्गुश्री नामक साध्वी, नागिल नामक श्रावक और सत्यश्री नामक श्राविका को वदन किया गया है। सम्पूर्ण ऋषिमण्डल मे यही एकमात्र ऐसी गाथा है जिसमे श्रावक और श्राविका को वन्दन किया गया है। पुन पचम काल के अन्त मे होने वाले साधु-साध्वी एव श्रावक-श्राविका का उल्लेख सर्वप्रथम तीर्थोद्गालिक एव व्यवहार भाष्य मे मिलता है। निश्चित ही ये रचनाए छठी शताब्दी के पूर्व की नही है। इसके पश्चात् की अगली गाथा मे भरत, ऐरावत और विदेह के भूतकालिक और वर्तमानकालिक ऋषियो को समुच्चय रूप मे वन्दन किया गया है। इसके पश्चात् की गाथा मे ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमती, चन्दना आदि को वन्दन किया गया है। साध्वियो को वदन इन्ही गाथाओ मे हुआ है। अन्तिम गाथा मे ग्रन्थ के रचयिता के रूप मे धर्मघोषसूरि का उल्लेख हुआ है। इसमे भी लेखक ने अपने को 'श्रीधर्मघोष' (सिरि-धम्मघोस) कहा है। लेखक द्वारा अपने आगे 'श्री' का प्रयोग भी विचारणीय है। मुझे लगता है कि ये गाथाएँ प्राचीन 'इसिमण्डलत्थू' को ही कुछ सशोधित परिवर्द्धित करके बाद मे जोड़ दी गई होगी। यदि यह स्वतन्त्र रचना भी मानी जाये तो भी यह मानने मे तो कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि प्रस्तुत कृति आचाराग चूर्णि मे उल्लिखित इसिमण्डलत्थू के आधार पर निर्मित हुई होगी। विद्वानो से इस सम्वन्ध मे गम्भीर गवेषणाओ की अपेक्षा है।

ऋषिभाषित की भाषा

ऋषिभाषित का भाषायी स्वरूप एव छन्द-योजना को लेकर प्रो. शुब्रिग ने अपनी भूमिका मे विस्तार से विचार किया है। उन्होने उपलब्ध विभिन्न हस्तप्रतो मे प्राप्त पाठान्तरो की भी चर्चा की है, अत. इस सम्बन्ध मे और अधिक विवेचन न तो आवश्यक ही है और न मै उसके लिये अपने को अधिकारी विद्वान ही मानता हूँ। फिर भी मेरी दृष्टि मे प्रो. शुब्रिग द्वारा सम्पादित मूल पाठ के भी भाषायी दृष्टि से पुन. सम्पादन की आवश्यकता अनुभव करता हूँ।

जहाँ तक ऋषिभाषित की भाषा का प्रश्न है, वह अर्धमागधी का प्राचीन रूप है, जिसकी कही-कही संस्कृत से निकटता देखी जाती है। भाषा की प्राचीनता

की दृष्टि से उसे आचाराग प्रथम श्रुतस्कध और सूत्रकृताग-उत्तराध्ययन के मध्य रखा जा सकता है । जहाँ सूत्रकृताग और उत्तराध्ययन मे महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया है, वहाँ ऋषिभाषित की भाषा सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से मुक्त कही जा सकती है । यद्यपि इसमे भी किञ्चित् रूप महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित प्रतीत होते हैं । किन्तु, उन स्थलो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रभाव लहियो (प्रतिलिपिकारो) के दोप के कारण ही आया होगा । उदाहरण के रूप मे ऋषिभाषित के ४५ अध्ययनो मे से ४३ अध्ययनो मे 'बुइय' अथवा 'बुइत' शब्द का प्रयोग है, किन्तु इनमे भी ३६ अध्ययनो मे 'बुइत' पाठ है, मात्र ७ अध्ययनो मे 'बुइय' पाठ है । निश्चित ही 'बुइय' पाठ महाराष्ट्री प्रभाव का सूचक है, किन्तु यह युक्तियुक्त प्रतीत नही होता कि स्वय लेखक ने ३६ अध्यायो मे 'वुइत' पाठ रखा हो और सात मे 'वुइय' पाठ रखा हो । स्पष्ट है कि 'बुइय' पाठ लहियो की सजगता के अभाव मे एव उन पर महाराष्ट्री के प्रभाव के कारण आ गया होगा । इसी प्रकार 'जधा' और 'जहा', 'मूसीकार' और 'मूसीयार', 'ताती' और 'ताई', 'धूता' और धूय', 'लोए' और 'लोगे' पाठो को लेकर भी चर्चा की जा सकती है । चालीसवें अध्ययन के अन्त मे जहा और जधा दोनो ही पाठ एक ही पक्ति मे प्रयुक्त हुए है, जैसे—'जहा बल जधा विरिय' निश्चित रूप से ये दोनो प्रयोग मूल लेखक को अभीष्ट नही होगे, कालक्रम से ही यह परिवर्तन आया होगा ।

पुन:, जहाँ इसके तीसरे, पच्चीसवे एव पैतालीसवे अध्ययन मे केवल जधा पाठ का ही प्रयोग देखा जाता है, वहाँ नवे, बारहवे, बाईसवे और अट्ठाइसवे अध्ययन मे केवल जहा शब्द का ही प्रयोग मिलता है, अत विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या अध्यायो के सकलन मे जहाँ जिस प्रकार का पाठ था, उसे यथावत् रख लिया गया था ? अथवा ये परिवर्तन परवर्ती प्रभाव के कारण हुए है ? सामान्यतया ऋषिभाषित मे प्रथम पुरुष के प्रयोग जैसे पभासती, जायति, मेधती, हिसती, जीवती, विन्दती, विज्जती, छिन्दती, सीदति, विसुज्झती, वस्सती, सिचति, लुप्पती आदि पाये जाते है और महाराष्ट्री प्राकृत के समान इनमे अन्तिम व्यञ्जन के लोप की प्रवृत्ति नही देखी जाती है । सम्पूर्ण ऋषिभाषित मे आठ-दस स्थलो के अतिरिक्त हमे कही भी अतिम व्यजन का लोप दृष्टिगोचर नही हुआ । इसी प्रकार ऋषिभाषित मे 'त' श्रुति के स्थान पर 'य' श्रुति के प्रयोग भी नगण्य ही है । सामान्यतया सम्पूर्ण ऋषिभासित 'त' श्रुतिप्रधान ही है । आत्मा के लिए उसमे एक दो स्थलो को छोडकर सर्वत्र आता शब्द का प्रयोग हुआ है । दसवे अध्ययन मे सर्वत्र तेतलीपुत्त शब्द का ही प्रयोग है न कि तेयलिपुत्त—जैसा कि ज्ञाताधर्मकथा मे पाया जाता है । इसी प्रकार इस अध्याय मे उसकी पत्नी के लिए 'मूसिकारधूता' शब्द का प्रयोग हुआ है । यद्यपि एक स्थान पर 'धूय' शब्द का प्रयोग भी देखा जाता है । स्पष्ट है कि ये महाराष्ट्री प्रभावित परवर्ती रूप मूल

ग्रन्थ मे परवर्ती प्रभाव से ही आये होगे। हो सकता है कि जब इस ग्रन्थ की ताडपत्रो पर प्रतिलिपियाँ की गयी होगी, तब ये परिवर्तन उस युग की भाषा के प्रभाव के कारण प्रतिलिपिकारो के द्वारा इसमे आ गये होगे। यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत का यह प्रभाव ऋषिभाषित मे दो प्रतिशत से ज्यादा नही है, जबकि प्राचीन माने जाने वाले अर्धमागधी आगम यथा—आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक मे यह प्रभाव लगभग पन्द्रह से पचीस प्रतिशत के लगभग है। यद्यपि इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जहाँ उत्तराध्ययन और दशवैकालिक अधिक प्रचलन मे रहे, वहाँ ऋषिभाषित उतना प्रचलन मे नही रहा। फलत उस पर उच्चारण मे हुए परिवर्तनो का प्रभाव कम हुआ हो, जबकि इन ग्रन्थो के अधिक प्रचलन मे रहने के कारण इनके ताडपत्र आदि पर लिखे जाने के पूर्व ही अन्तिम वाचना तक यह प्रभाव आ चुका होगा। दुर्भाग्य से आगमो के सम्पादन के समय इन तथ्यो पर ध्यान नही दिया गया और उनकी भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को सुरक्षित रखने का प्रयास नही किया गया। मैं समझता हूँ अर्धमागधी के प्राचीन गन्थो यथा—आचाराग, सूत्रकृताग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र आदि की प्राचीन हस्तप्रतो को सकलित किया जाये और यदि किसी भी हस्तप्रत मे प्राचीन पाठ मिलता है तो उसे सुरक्षित रखा जाये। मात्र यही नही, जब एक ही पक्ति मे आता और आया, जधा और जहा, लोए और लोगे पाठ हो तो उनमे से प्राचीन पाठ को ही मान्यता दी जाये। यह सन्तोष का विषय है कि इस दिशा मे प्रो मधुसुदन ढाकी, प्रो के आर चन्द्रा आदि कुछ विद्वानो ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है और हम आशा करते है कि भविष्य मे जो आगम पाठो का सम्पादन होगा, उनमे इन तथ्यो पर अधिक ध्यान दिया जायेगा, क्योकि ग्रन्थ का भाषायी स्वरूप उसके काल-निर्णय मे बहुत कुछ सहायक होता है, अतः विद्वानो का यह दायित्व है कि ग्रन्थो की भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को सुरक्षित रखे।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते है कि आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और ज्ञाताधर्मकथा के अनेक गाथाश, गद्याश और शब्द ऋषिभाषित मे भी उपलब्ध है, किन्तु दोनो के भाषायी स्वरूप के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित का पाठ भाषा की दृष्टि से प्राचीन है। उदाहरण के रूप मे ऋषिभाषित के तेतलीपुत्त नामक अध्ययन और ज्ञाता का तेयलिपुत्त नामक अध्ययन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिभाषित की भाषा 'त' श्रुतिप्रधान और अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक मे जहाँ आत्मा के लिये 'आया' शब्द का प्रयोग है वही, ऋषिभाषित मे एक-दो स्थलो को छोड़कर सर्वत्र 'आता' शब्द का प्रयोग है। इससे इसकी प्राचीनता सुस्पष्ट हो जाती है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते है कि अपनी भाषा और विषय-वस्तु दोनो की दृष्टि से ऋषिभाषित प्राकृत वाड्मय का प्राचीनतम ग्रन्थ सिद्ध होता है। जैसा कि हम पूर्व मे सिद्ध कर चुके है—"यह ग्रन्थ सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य मे आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोडकर प्राचीनतम एव ई पू पाचवी शती का ग्रन्थ है।" इस ग्रन्थ का महत्त्व न केवल इसकी प्राचीनता की दृष्टि से है, अपितु इसमे प्राचीनकालीन ऋषियो एव उनकी मान्यताओ के जो उल्लेख मिलते है, वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमे अनेक ऐसे प्राचीन ऋषियो के उल्लेख मिलते है, जिनके सम्बन्ध मे अब अन्य कोई जानकारी का स्रोत ही नही रह जाता। इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता इसका साम्प्रदायिक अभिनिवेशो से मुक्त होना है। जैन परम्परा मे इस ग्रन्थ का निर्माण जहाँ एक ओर जैन धर्म की सहिष्णु और उदारदृष्टि का परिचायक है वहाँ दूसरी ओर यह इस बात का भी सूचक है कि सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिक धारा अपने मूल मे एक ही है, चाहे वह आगे चलकर औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक आदि परम्पराओ मे विभक्त हो गई हो। ऋषिभाषित ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसमे औपनिषदिक ऋषियो, ब्राह्मण परिव्राजको, आजीवक श्रमणो, बौद्ध भिक्षुओ और जैन मुनियो के उपदेशो को एक ही साथ सकलित किया गया है। यह ग्रन्थ भारतीय समन्वयात्मक एव उदार जीवन दृष्टि का स्पष्ट प्रमाण है। आज जब हम साम्प्रदायिक अभिनिवेश एव विद्वेष मे आकण्ठ डूबे हुए है यह महान ग्रन्थ हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। आशा है इस ग्रन्थ का व्यापक प्रसार हमे साम्प्रदायिक मतान्धता से मुक्त कर सकेगा।

आभार

मैं सर्वप्रथम तो **प्राकृत भारती अकादमी** के मत्री **श्री देवेन्द्रराज मेहता** एव **महोपाध्याय विनयसागरजी** का आभारी हूँ जिनके अत्याधिक आग्रह और धैर्य के कारण यह विस्तृत प्राक्कथन शीघ्र पूर्ण हो सका है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे अभी भी अधिक गम्भीर चिन्तन अपेक्षित है। आशा है हमारे युवा विद्वान् इस कमी को पूरा करेगे। मेरे कारण इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे भी पर्याप्त विलम्ब हुआ है इसके लिए मै प्रकाशको और पाठको दोनो के प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ।

साथ ही मै प्रो शुब्रिग आदि उन सब विद्वानो का भी आभारी हूँ जिन्होने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्बन्ध मे शोधपरक दृष्टि से चिन्तन और विचार-विमर्श किया तथा जिनके लेखनो से मैं लाभान्वित हुआ हूँ। इसी प्रकार मैं Dictionary of Pali Proper Names, Prakrit Proper Names, वैदिक कोश,

महाभारतनामानुक्रमणिका आदि के लेखको का भी आभारी हूँ जिनके कारण अनेक सन्दर्भ मुझे सहज सुलभ हो सके। अन्त मे प्रो० मधुसुदन ढाकी एव मेरे शोधछात्र और सहयोगी डॉ० अरुणप्रताप सिह, डॉ० शिवप्रसाद, डॉ० अशोककुमार सिह आदि का आभारी हूँ जिनका इस प्राक्कथन को पूर्ण करने मे मुझे सहयोग मिला है।

सागरमल जैन
आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग
म. ल. बा कला एव वाणिज्य महाविद्यालय,
ग्वालियर

RISHI-BHASHIT : A STUDY

RISHI-BHASHIT : A STUDY

The Place of Rishibhashit in Jain Literature :

Rishibhashit is one of the oldest works in *Ardhamagadhi* Jain canonical literature Under the accepted system of classification of Jain canons, this is classified as *Prakeernaka* (anthology). The *Digambar* tradition has 12 *Angas* & 14 *Angabahyas*, but Rishibhashit is not included in them The *Terapanthi* and *Sthanakvasi* sects of the *Swetambar* tradition also do not include Rishibhashit in the 32 *Agamas* they recognise The idol worshiping sect of the *Swetambar* tradition recognises 45 *Agamas* including 11 *Angas*, 12 *Upangas*, 6 *Chhedsutras*, 4 *Moolsutras*, 2 *Chulika-sutras* and 10 *Prakeernakas*, Rishibhashita is not included even in these 10 *Prakeernakas* However, it is included in the list of *Kaliksutras* mentioned in *Nandisutra* and *Pakkhisutra*[1] The *Angabahya* works listed in *Tattvarthabhashya* of Acharya Umaswati first mention six works including *Samayik* and then *Dashvaikalika, Uttaradhyayan, Dasha (Achardasha), Kalp, Vyavahar, Nisheeth* and Rishibhashit[2] Haribhadra in the *Vritti* of *Avashyak Niryukti* mentions Rishibhashit once with *Uttaradhyayan*[3] and at another place with an anthology titled *Devinduthuya*[4] The reason for this confusion may be that besides Rishibhashit Haribhadra also came accross *Rishimandal Stava* which gets a mention in *Acharanga churni* His intension must have been to connect Rishibhashit, *Uttaradhyayan,* and *Rishimandal Stava* with Devinduthuya It should be noted that *Rishimandal* not only mentions many of the *Rishis* (ascetics) of Rishibhashit but also refers to chapters and contents therein This indicates that the author of *Rishimandal* must have been aware of and had studied Rishibhashit The similarity between these two works is so much that with a little variation in sequence and names almost all *Rishis* of Rishibhashit can be found in *Rishimandal* The mention of *Rishimandal* in *Acharanga churni* (Isinama-kittanam Isimandalatthan, page 374) conclusively establishes that it predates *Acharanga churni* (7th century A D) Scholars should give a serious thought to this fact It is believed that *Rishimandal* was written by

---

Note For foot-notes please refer to the foot notes of original Hindi text,

Dharmaghosh Suri of *Tapagachchha* sect, but I have my doubts as his period is 14th century A D In fact, the language and style of *Rishimandal* indicates that it is an ancient work and its author had studied Rishibhashit In the course of studies of canons for mendicants prescribed by *Acharya Jinaprabh* in his work *Vidhimargprabha* the list of anthologies to be studied has been concluded with the mention of Rishibhashit [5] As such, according to the accepted system of classification, Rishibhashit can be classified as an anthological work

In the ancient Jain tradition it was recognised as an important work In *Aavashyak Niryukti* Bhadrabahu has expressed his intent to write a *Niryukti* on Rishibhashit [6] As no such work is available today, it is difficult to surmise if it was written at all Of course, *Rishimandal*, which finds a mention in *Acharanga churni*, certainly appears to be a connected work All this goes to prove that upto a certain period Rishibhashit must have been an important work in Jain tradition *Sthanang* refers to it as a part of *Prashnavyakarandasha* [7] *Samvayang* has mentioned about its fourtyfour chapters [8] As already mentioned, *Nandisutra*, *Pakkhisutra* etc include it in the classification *Kaliksutra* *Aavashyak Niryukti* classifies it as a work of *Dharmakathanuyog*

Style and Period of Rishibhashit :

According to its language, style, and subject matter this is an extremely old work among the Jain canonical works of *Ardhamagadhi* language I consider this work being of a period slightly later than that of first Shrutaskandha of Acharanga but earlier than that of other ancient works like Sutrakritang, Uttaradhyayan, and Dashvaikalika Even its present form can under no circumstances be dated later than 3rd or 4th century B C As per the information available in *Sthanang* this work was originally a part of *Prashnavyakarandasha*; the ten *Dashas* described in *Sthanang* include Rishibhashit also *Samvayang* informs that this contains 44 Chapters As such Rishibhashit certainly pre-dates these works In *Sutrakritang* there is a mention of ascetics like *Nami*, *Bahuk*, *Ramaputta*, *Asit Deval*, *Dvaipayan*, and *Parashar* as also little indications about their ritual beliefs. They have been addressed as ascetics and great men These ancient *Rishis* have been recognised by *Sutrakritang*, an exposition by *Arhat* All these Rishis attained liberation inspite of their consumption of seeds and water[9]

This gives rise to the question as to which work predating *Sutrakritang* has accepted these people in the exalted position ? In my opinion only Rishibhashit is such a work The term 'Iha-sammata', from

the verse ın *Sutrakrıtang*, appears to be referıng to the antıquıty of Rıshıbhashıt rather than *Sutrakrıtang* ıtself It should be noted that ın both Sutrakrıtang as well as Rıshıbhashıt, many Rıshıs of tradıtıons other than Jaın, e g Asıt Deval, Bahuk etc , have found a revered mentıon Although these two are maınly ın verse, from the vıewpoınt of language fırst *Shrutaskandha* of *Sutrakrıtang* appears to be of a later perıod Thıs ıs because the language of *Sutrakrıtang* ıs nearer to *Maharashtrı Prakrıt* whereas that of Rıshıbhashıt ıs ancıent *Ardhamagadhı*, leavıng asıde a few later changes Also, *Sutrakrıtang* has crıtıcısed the thınkers of other tradıtıons but Rıshıbhashıt has eulogısed them

This ıs a fırmly establıshed fact that thıs work was created prıor to the ınstıtutıonalısatıon of Jaın relıgıon and socıal organısatıon Study of thıs work explıcıtly ındıcates that at the tıme of ıts wrıtıng Jaın organısatıon was completely free of sectarıan bıas *Mankhalı Goshalak* and hıs phılosophy fınd mentıon ın Jaın canons lıke *Sutrakrıtang*[10], *Bhagvatı*[11], and *Upasakdashang*[12] and Buddhıst works lıke *Suttanıpata, Deeghnıkaya* (*Sammanjafalasutta*)[13] Although there ıs no specıfıc mentıon of *Mankhalı Goshalak* ın *Sutrakrıtang, Nıyatıvad* has been commented upon ın ıts chapter tıtled *Aardrak* Analysıng from the vıew poınt of development of sectarıan feelıngs, the portıon of Bhagvatı dealıng wıth Mankhalı Goshalak clearly appears to be of later perıod than even Sutrakrıtang and Upasakdashang These two works as well as many works of Palı Trıpıtaka mentıon the Nıyatıvad of Mankhalı Goshalak and then counter ıt Stıll, unlıke Jaın Canonıcal works, the Suttanıpata has recognısed the ınfluentıal personalıty and value of the works of Mankhalı Goshalak by ıncludıng hıs name ın the lıst of sıx Teerthankaras contemporary to Buddha[14] Rıshıbhashıt has gone a step further and eulogısed hım as Arhat Rıshı

As such from the vıewpoınt of relıgıous tolerance, the perıod of Rıshıbhashıt ıs earlıer than that of Palı-Trıpıtak Thıs ıs because the growth of sectarıanısm sets ın only after a relıgıon becomes properly organısed Rıshıbhashıt ındıcates that ıt had been wrıtten much earlıer than the begınnıng of sectarıanısm ın the Jaın tradıtıon Except the fırst *Shrutaskandha* of *Acharanga* all the other Jaın canonıcal works reflect sectarıan vıews ın varyıng degrees Thıs proves that, leavıng asıde fırst *Shrutskandha* of *Acharanga*, Rıshıbhashıt ıs the oldest of all Jaın canonıcal works Even the language and style ındıcate ıt to be a work of a perıod some-where between fırst *Shrutaskandha* of *Acharanga* and fırst *Shrutaskandha* of *Sutrakrıtang*

The oldest work of Buddhist *Tripitak* literature is *Suttanipata*[15], but even that is not as tolerant as Rishibhashit The *Tripitak* literature refers to some of the *Rishis* of Rishibhashit, namely—*Narad*[16], *Asit Deval*[17], *Ping*,[18] *Mankhaliputta*[19], *Sanjaya (Velatthiputta*[20]*)*, *Vardhaman (Nigganth Naataputra*[21]*)*, *Kumaputta*[22] etc, but they have been considered at a lower level than Buddha In other words these Buddhist works were also not free of sectarian bias, and as such they should be of a later period

Many excerpts of the chapters in Rishibhashit are found, with similarity in content, language, and composition, in *Sutrakritang*, *Uttaradhyayan*, and *Dashvaikalik* of Jain tradition and *Suttanipata* and *Dhammapada* of Buddhist tradition. As such in terms of style of these works Rishibhashit proves to be of an earlier period It may be argued that the ideas and verses may have gone from Buddhist *Tripitak* literature and Jain *Uttaradhyayan* and *Dashvaikalik* to Rishibhashit But this is not true because the language and style of Rishibhashit is older as compared to that of these works, also it is much nearer to the language and style of the first *Shrutaskandhas of Acharanga* and *Sutrakritang*, and *Suttanipata* Moreover, Rishibhashit has mentioned the ideas as general principles propagated by different Rishis, but Buddhist *Tripitak* literature and later Jain works have tried to include these ideas as belonging to their own respective traditions For example philosophical cultivation has been dealt with in Rishibhashit[23] twice and once in *Suttanipata*[24] Whereas in *Suttanipat* Buddha says that he does this type of philosophical cultivation, in Rishibhashit the *Rishi* says that whoever does this type of cultivation gets liberated irrespective of his cast and creed Thus Rishibhashit is conclusively proved to be of an earlier period than that of Jain or Buddhist works except first *Shrutaskandha* of *Acharanga*

Considering from the view point of language we find that Rishibhashit has, to a larger extent, maintained the most ancient form of *Ardhamagadhi Prakrit* For example in Rishibhashit *Atma* has been mentioned as *Ata* but in Jain *Anga* literature *Atta, Appa, Aada, Aaya,* and other words have been used which are variations belonging to later periods The free use of the consonant *Ta* conclusively puts this work in an earlier period than *Uttaradhyayan* as in *Uttaradhyayan* there is a tendency of avoiding this consonant Rishibhashit also abundently uses word-forms like, *Janati, Paritappati, Gachchhati, Vijjati, Vattati, Pavattati* This also confirms the antiquity of this work in context to both, subject and language

The story of the serpent of *Agandhan* clan is found in *Uttara-*

dhyayan[25], *Dashvaikalik*[26] as well as Rishibhashit[27] But examining all the three, it becomes evident that its mention in Rishibhashit is much older than the other two Reason being that in Rishibhashit it has been quoted just as an example so that the mendicant does not stray from his path, but in *Dashvaikalik* and *Uttaradhyayan* it has been included as an incident in the life of Rajimati and Rathnemi

As such Rishibhashit is older than *Suttanipata, Uttaradhyayan* and *Dashvaikalik* That means it is of a period later than that of first *Shrutaskandha* of *Acharanga* but an earlier work than all other *Ardha-magadhi* canonical literature Also being earlier to *Suttanipat* it becomes earlier to all *Pali Tripitak*

As regards deciding its period on the basis of the historical *Rishis* mentioned in Rishibhashit, besides *Vajjiyaputta* all other *Rishis* were either contemporary to Mahavir and Buddha or earlier to them According to *Pali Tripitak Vajjiyaputta* was also a young contemporary of Buddha, he was nearer to Anand in age The *Vajjiyaputtiya* sect also came into existence within a hundred years of Buddha's *Nirvana,* which establishes that he was a young contemporary of Buddha Accordingly, from historical viewpoint Rishibhashit must have been written in the first century after *Nirvana* of Buddha or Mahavir, later changes in the text cannot be ruled out In my opinion the period of its writing is not earlier than fifth century B C and certainly not later than third century B C I have not come accross any evidence, within and outside the text, that may point toward its writing being outside this period.

From the angle of philosophical developments we find that it does not contain the finely developed forms of Jain or Buddhist principles Only five fundamentals and eight *Karma* have been mentioned It is also possible that these concepts were popular with the followers of Parshwa and trickled into Mahavir's tradition from there only Concepts like *Parishah* and *Kashaya* are certainly ancient Even the expositions of *Vatsiyaputra, Mahakashyap, Sariputra* and other Buddhist *Rishi,* in Rishibhashit also contain the ancient Buddhist principles like *Santativad, Kshanikvad* only As such, from Buddhist angle also, Rishibhashit is older than *Pali Tripitak*

The Writing of Rishibhasit :

Regarding the creation of Rishibhasit, Prof Schubring and other scholars maintain that it must have been originally written in the tradition of Parshwa, as the influence of that tradition is clearly seen in the first

chapter where celibacy and non-possessiveness have been combined, as in the *Chaturyam* system[29] The detailed chapter of Parshwa further confirms this inference

Another basis of considering it to be a work of Parshwa's tradition is that that tradition was comparatively more tolerant, it was also much closer in conduct to other sects of ascetics and *Shramans* With the assimilation of the followers of Parshwa's tradition into Mahavir's tradition this work also came along and was included as a part of *Prashnavyakaran Dasha* by Mahavir's followers

The Separation of Rishibhashit from Prashnavyakaran :

It now becomes obvious to ask why it was first included in *Prashnavyakaran Dasha* and then separated from it As it is purely a compilation of philosophical exposition, I feel, the earlier monks of Mahavir's tradition did not find any objection in including Rishibhasit in their own literature But when the Jains formed an organised society with an independent tradition, it must have become difficult to include the monks of other tradition into their own ranks In my opinion the separation of Rishibhasit from *Prashnavyakaran* was not accidental but with a purpose It was not possible to preserve their exposition at one end and at the other criticise and demean *Mankhaligoshalak* in *Sutrakritang, Bhagvati*[30] and *Upasakdashang*[31], and Narad in *Jnatadharma*[32] By first century A D, to keep Jain faith intact had become the primary task It became difficult to accept the works of Narad, Mankhali Goshalak, Yajnavalkya, Sariputra etc as the canonical expositions of *Teerthankars*, still, credit goes to Jain *Acharyas* for safe keeping of Rishibhashit as a work of anthology inspite of its being excluded from *Prashnavyakaran* Also, in order to maintain its authenticity it was accepted as expositions by omniscients out of Jain tradition The sectarian system, however, propogated that the persons named as Parshwa, Vardhaman, Mankhaliputra, etc in Rishibhashit were not the same as their name sakes in Jain *Agams*

Why the Rishis of Rishibhashit were called Pratyekbuddha ?

In the original text of Rishibhashit Ketaliputra has been referred to as *Rishi*, Ambad (25) as *Parivrajak*, Ping (32), Rishigiri (34) and Shrigiri as *Brahmin (Mahan) Parivrajak Arhat Rishi*, Sariputra as *Buddha Arhat Rishi*, and all others as *Arhat Rishi* In the chapter titled *Utkat (Utkal)* the name of the expounder has not been mentioned at all, as such there is no need of an adjective Although the appendix at the end of Rishibhashit[33] and *Rishimandal*[34] has referred to all these persons as *Pratyekbuddha*, and twenty of them as contemporary to Arishtanemi, fifteen as contem-

porary to Parshwanath and remaining as contemporary to Mahavir, this appears to be a later addition to the text. In the original text there is no mention of them as *Pratyekbuddha*

In *Samvayang*, however, while detailing the subject matter of *Prashnavyakaran* it has been mentioned that it is a compilation of discourses of contemporary and other *Pratyekbuddhas* As Rishibhashit had been a part of *Prashnavyakaran*, indirectly *Samvayang* provides the first acceptance of the *Rishis* of Rishibhashit as *Pratyekbuddhas*[35] It is obvious that as majority of the *Rishis* of Rishibhashit were not of Jain tradition, in order to accept their discourses, they were believed to be *Pratyekbuddhas* In Jain as well as Buddhist tradition, *Pratyekbuddha* is a person who attains ultimate knowledge through his solitary practices commenced by his own inspiration, he neither becomes a disciple of someone nor makes disciples to form an organisation As Such a *Pratyekbuddha* is not confined within a tradition or institutional organisation, but he is a respected person in society and his preachings are considered to be authentic

Rishibhashit and Principles of Jainism :

A comprehensive study of Rishibhashit forces us to consider whether it propogates the beliefs of *Rishis* of other traditions or it is just a propogation of Jain beliefs in their name A cursory glance makes one believe that only Jain beliefs have been propogated in their name Prof Schubring and, with his reference, Prof Lallan Gopal have infered that the compiler lacks authenticity in quoting the discourses of *Rishis* and has presented them in his own way, the basis for this inference is the similarity of beginning as well as end of each discourse This conclusion appears to be true looking at the Jain traditional terms like *Panch Mahavrat, Kashaya, Parishah* etc

For example, in the chapter of Narad there is a mention of four ways of cleansing which is nothing but propogation of the *Chaturyam* conception of Jains In the chapter of Vajjiyaputta the *Karma* principles have been propogated This Chapter confirms that life is directed by *Karma*, and attachment is the cause of sorrow It also explains that the transition of *Karma* in attachment and vice versa is cyclic like seed and plant The cycle of *Karma* is terminated by wiping out attachment first as destruction of roots destroys leaves, flowers, and fruits of a tree This concept of *Karma* can also be found in chapters 13, 15, 24, and 30 of Rishibhashit Similar details are also available in Jain tradition in the thirty second chapter of *Uttaradhyayan*

Similarly, the third chapter of Asit Deval in Rishibhashit contains

the concept of sin being same as adhesive, this concept is popular in Jain tradition having a particular mention in *Acharanga* This chapter also contains the mention of *Panch Mahavrat*, four *Kashaya* as well as eighteen sins from *Himsa* to *Mithyadarshan Shalya* Also included is the form and details of *Moksha* which is *Shiv, Atul, Amal, Avyaghat, Apurnabhava, Apunaravrata* and *Shashvat* Similar description of *Moksha* is available elsewhere in Jain canonical literature The mention of *Panch Mahavrat* and four *Kashaya* can be found in many chapters of Rishibhashit.

The ninth chapter of Mahakashyap contains details of *Punya, Papa, Samvar*, and *Nirjara* This chapter mentions *Kashaya* also In the ninth chapter, while discussing inflow of *Karma*, the causes have been named as *Mithyatva Drishti, Pramad, Kashaya*, and *Yoga*, which is similar to that in the Jain tradition It also contains many Jain traditional words like *Upkram, Baddha, Sprishtha, Nikachit, Nirjirna, Siddhi, Shaileshi Avastha, Predashodaya, Vipakodaya*, etc The concept of the soul being eternal and transitory, the form of *Siddha* stage and the process of bondage and shedding of *Karma*, mentioned in this chapter are same as those in Jain philosophy

Similarly the concepts of *Dravya, Kshetra, Kala*, and *Bhava* are also found in many chapters The twelfh chapter of Yajnavalkya talks about process of *Gochri* and *Shuddhaishana* which are same as in Jain tradition "Soul is the doer of *Karma* and sufferer of consequences bad or good," has been mentioned in the fifteenth chapter of Madhurayan The seventeenth chapter of Vidur contains mention of *Savadyayog Virati* and *Samabhava*. Ninteenth chapter of Aariyayana refers to *Arya Jnana, Arya Darshan*, and *Arya Charitra* which are akin to *Samyak Jnana, Samyak Darshan* and *Samyak Charitra* The twenty second chapter emphasises the predominence of male in the field of religion and demeans female which is same as in the Itthiparinna chapter or *Sutrakritang*

In the twentythird chapter of Ramaputta, just like *Uttaradhyayan* (28-35), topics about seeing through *Darshan*, detachment, three disciplines, and dissolution of eight types of *Karma* through *Tapa* have been discussed The concept of eight types of *Karma* is a speciality of Jainism Again, there is mention of *Jnana, Darshan*, and *Charitra* in the twenty fourth chapter. The same chapter also includes the four *Gatis* namely, *Deva, human, Tiryanch* and *Narak* The twentyfifth chapter titled Ambad discusses four *Kashaya*, four *Vikatha*, five *Mahavrata*, three *Gupti*, discipline of five senses, six life forms, seven fears, eight prides, nine *Brahmacharyas* and ten places of meditation This chapter also discusses the six reasons for eating which are also found in *Sthanang* (Stha-6) It may

be noted that although Ambad has been mentioned in Jain canons as a *Parivrajak*, it has been said that he respected Mahavir[36], that is the reason that this chapter contains maximum number of Jain concepts

In the twentysixth chapter of Rishibhashit the description of *Brahmin* has been included just like that in twentyfifth chapter of *Uttaradhyayan* Same chapter also mentions *Kashaya, Nirjara,* six life forms and compassion towards all living In the thirtyfirst chapter of Parshwa we again come across *Chaturyam, Ashtavidh-Karm Granthi, Char Gati, Panchastikaya* and *Moksha Sthana* This chapter, like Jain concepts, conveys that living being moves upwards and matter downwards However, the presence of Jain concepts in this chapter is not out of place because Parshwa has been accepted as one belonging to Jain tradition

Lately, scholars have started believing that the knowledge of Jains has been inherited from the tradition of Parshwa Schubring has also recognised the influence of Parshwa tradition on Rishibhashit Again the thirtysecond chapter of Ping propogates the liberation of four *Varnas* just like the Jain belief The thirtyfourth chapter also contains discourses about *Parishah* and *Upasarg* This chapter also discusses the liberation of monk indulging in five *Mahavrata*, free of *Kashaya*, free of attachment and inflow of *Karma* Thirtyfifth chapter of Uddalak, once again, contains mention of three *Gupti*, three *Danda*, three *Ralya*, four *Kashaya*, four *Vikatha*, five *Samiti*, *Panchendriyasanyam, Yogasandhan, Navakoti Parishuddha*, details of different clans free of ten *Dosha*, acceptance of eatables prepared for others, cold and lifeless The same chapter also mentions *Sangya* and 22 *Parishaha*

Thus, we observe that Rishibhasit contains many Jain concepts It is natural to question if the Jain *Acharyas* have compiled their own concepts in the name of the *Rishis* of Rishibhashit or the concepts were originally of these *Rishis* and percolated into Jain tradition It is evident that leaving aside Parshwa and Mahavir, all other *Rishis* of Rishibhashit were either independent ascetics or belonged to traditions other than Jain Some of them, however, can be found in *Uttaradhyayan* and *Sutrakritang* If we conclude that the concepts do not belong to the *Rishis* named, the authenticity of the work and its compiler becomes doubtful On the other hand, to accept that all these concepts came to Jains from other traditions is also not satisfactory So we proceed first to examine if the concepts mentioned in Rishibhashit are of the *Rishis* named or of Jain *Acharyas*

Question of Authenticity of Concepts preached in Rishibhashit :

Although all the concepts and related literature of all the *Rishis* of Rishibhashit are not available in traditions other than Jain, still, concepts and thoughts of many are available in other traditions, even today Yajna-valkya is mentioned in *Upnishads*, Vajjiyaputta, Mahakashyap, and Sari-putta can be found in Buddhist *Tripitak* literature Similarly, Vidur, Narayan, Asit Deval etc find place in *Mahabharat* and other works of Hindu tradition By comparing their ideas mentioned in Rishibhashit with other sources we can evaluate their authenticity

In eleventh chapter of Rishibhashit, the discourse of Mankhali Goshalak are compiled *Bhagwati Sutra* and *Upasakdashang* of Jains, *Suttanipata* and *Samanja Mahafal Sutta* in *Deeghnikaya* of Buddhists, and 177th chapter of *Shantiparva* in *Mahabharat* of Hindus are other works where Mankhali Goshalak or Mankhirishi has been mentioned All the three sources tell him to be a supporter of *Niyativad* His discourses in Rishibhashit also contain indirect references to *Niyativad* It is stated in this chapter that he who trembles, feels pain, is irritated, hurt, moved, inspired by seeing the transformation in matter is not detached A deta-ched one does not have all these effects on seeing the transformation of matter This is an indirect confirmation of *Niyativad* in relation to the transformation of matter The world has its own movement and parameters according to which it continues to move A mendicant should look at and understand this movement, but should not be influenced by that

The basic philosophical teaching of *Niyativad* ought to be that one should only remain as a witness in the eventful movement of this world, In this manner this chapter reflects only the basic philosophical teachings of Goshalak On the other hand the description of the principle of Man-khali Goshalak in Jain and Buddhist literature is in fact a distorted inference The author of Rishibhashit is, in fact, much more authentic than the authors of *Tripitak* and later Jain canons

The preachings of Mankhi Rishi of 177th Chapter of *Shantiparva* in *Mahabharat* confirms *Niyativad* on one hand and preachings of deta-chment on the other This chapter mainly preaches spectator's uninvolved attitude and detachment from the world It preaches detachment through *Niyativad* only The world has its own system of movement and man cannot convert it to suit his needs, as such he should become deta-ched by maintaining an attitude of uninvolved witness The uniqueness of this chapter of *Mahabharat* is that accepting Mankhi Rishi as supporter

of *Niyativad*, he has been believed to be proceeding towards detachment through his *Niyativad*

On this basis it can be concluded that the preachings of Mankhaliputra available in Rishibhashit are authentic

Similarly preachings of Mahakashyap are compiled in 9th chapter and Sariputta in 38th chapter, both are connected with Buddhist tradition When we contemplate the ideas expressed in these chapters the presence of basic tenets of Buddhism becomes clearly evident The discourses of Mahakashyap first of all deals with the sorrows of the world At the root of all sorrows is *Karma* and at the root of *Karma* is birth itself This is just a form of *Pratitya Samutpad* of Buddhism

Another speciality in this chapter is the mention of *Santanvad* while propagating the *Karma* principle, *Santanvad* is one of the basic principles of Buddhism In order to explain the concept of *Nirvana* the metaphor of lamp (*Deepak*) has been used, this is a popular and basic metaphor from Buddhism The whole discourse preaches detachment through *Santanvad* and *Karmasamskar* This makes us conclude that this chapter contains seedlings of Buddhism

Similarly, 38th chapter of Sariputta contains basic tenets of Buddhism in the form of *Madhyam Marg* Alongwith is mentioned the *Prajnavad* of Buddha It has been mentioned in this chapter that a monk can meditate conveniently with the availability of desired living quarters, bed and eatables Still the wise should not crave for mundane things Same is the discipline of Buddha and so this chapter too presents the preachings of Buddha with authenticity

Same is the story about the 12 th chapter, where the original preachings of Yajnavalkya have been included Besides Rishibhashit, Yajnavalkya finds mention in *Upanishads* and *Mahabharat*[37] In *Upanishad*, alongwith the dialogue between Yajnavalkya and Maitreyi is mentioned their desire towards *Sanyas* In Rishibhashit also Yajnavalkya preaches getting rid of wordly desires and desire for wealth, he also mentions that both of these are intertwined and inseperable As such, knowing these both one should tread the *Gopath* not *Mahapath* It appears that *Gopath* is the path of detachment and *Mahapath* is the path of attachment, Yajnavalkya seems to be preaching the path of detachment

It is worth pondering if the development of the *Hinayan* and *Mahayan* concepts of Buddhism is not merely the evolved form of this

concept of *Gopath* and *Mahapath* *Mahayan* word in also found in *Acharanga* In the chapters 310 to 318 of *Shantiparva* in *Mahabharat* are compiled the preachings of Yajnavalkya. This mainly expounds the *Sankhya* and Yoga concepts This chapter of Rishibhashit also talks about the procedure of collecting alms by a monk, which is similar to the Jain method Still this can be said that the author of Rishibhashit has not distorted the basic preachings of Yajnavalkya.

In the twentieth chapter of *Utkata, Bhautikavad* or *Charvak Darshan* has been propogated Although there is no mention of the author of this chapter it is certain that the ideas of *Charvak* have been propounded with complete authenticity The preachings of Vardhaman available in Rishibhashit are found in almost exact similarity in the chapter titled *Bhavana* of second *Shrutaskandha* of *Acharanga* and 32nd chapter of *Uttaradhyayan*

On the aforesaid evidences we may conclude that generally the preachings of various *Rishis* have been presented authentically However, mainly it contains only the meditational and moral aspects without any emphasis on philosophical background This is also true that its presentation and writing has been done by Jain *Acharyas*, and so it is natural that some concepts of Jains reflect predominently in this work Also there is enough evidence that what we today consider as Jain concepts, could originally have been concepts belonging to other traditions creeping in later into Jainism As such the authenticity and originality of the preachings of *Rishis* of Rishibhashit cannot totally be set aside At the most we may deduce that there is an indirect influence of Jain tradition over them

The historic background of Rishis of Rishibhashit :

It is clearly established that most of the *Rishis* of Rishibhashit were not connected with Jain tradition. The adjectives like *Brahmin Parivrajak* indicate that they were from non-Jain traditions Also, some names like Dev Narad, Asit deval, Angiras Bhardwaj, Yajnavalkya, Bahuk, Vidur, Tharishen Krishna, Dvaipayan, Aruni, Uddalak, Narayan have been popular in Vedic tradition and their teachings are intact in *Upanishads, Mahabharat,* and *Puranas* even today The names of Dev Narad, Angiras Bharadvaj, Dvaipayan also find their mention in *Sutrakritanga, Aupapatik, Antkritdasha* besides Rishibhashit in Jain tradition as also in Buddhist Tripitak literature.

Similarly, Vajjiyaputra, Mahakashyap, and Sariputra are famous personalities of Buddhist tradition and are mentioned in *Tripitak* literature

Mankhaliputra, Ramputta, Ambad (Ambashta), Sanjaya (Velatthiputra) are names which belong to 'independent *Sraman* traditions and their mention can be found both in Jain and Buddhist traditions Prof C S Upasak, in his article *"Isibhasiyam and Pali Buddhist Texts :* A Study" has discussed in details those *Rishis* of Rishibhashit who have been mentioned in Buddhist literature This article is being published in *Pt Dalsukh Malvania Abhinandan Granth* Parshwa and Vardhaman are the famous, twenty third and twenty fourth *Teerthankars* in Jain tradition Ardrak is found in *Sutrakritanga* besides Rishibhashit Besides these, Valkalchiri, Kurmaputra, Ketaliputra, Tetaliputra, Bhayali, Indranaag are names most of whom are mentioned in Isimandal and other Jain works Valkalchiri and Kurmaputra etc. are also mentioned in Buddhist tradition However, even those who are neither mentioned in Jain nor Buddhist tradition, cannot be termed as fictitious.

On looking at the complete list of Rishis of Rishibhashit we find that only Soma, Yama, Varuna, Vayu, and Viashraman are such names which may be said to be fictitious because they have been accepted only as *Lokpals* in the Jain, Vedic, and Buddhist traditions But even out of these Vayu has been mentioned as a *Rishi* in Mahabharat Yama has been said to be the father of Yamadagni Rishi in *Aavashyak Churni* The possibility of Yama being a *Rishi* cannot completely be ruled out, although even Upanishads have described Yama as *Lokpal* This is certain that he was a preacher, as the dialogue between Yama and Nachiketa is well known in *Upanishadic* tradition Varuna and Vaishraman have also been accepted as preachers of *Mantras* in Vedic tradition It is possible that till the writing of Rishibhashit Soma, Yama, Varuna, and Vaishramana were recognised as preachers and that is why their discourses were included in Rishibhashit.

Thus, we may conclude that excepting four or five monks all the other *Rishis* of Rishibhashit actually existed during prehistoric and historic periods, and are not just fictitious characters

I would only like to conclude that Rishibhashit is a valuable work not only of Jain tradition but also of the Indian tradition as a whole The religious tolerance of Indian thought is truly reflected in this work It also has a historical importance because it provides valuable and authentic information about many known and some unknown Rishis and their preachings The Jain *Acharyas* have done a valuable service to Indian literature and culture by preserving this work In fact this work is an undeniable proof of historical existence of many Indian *Rishis* of the period between 10th and 5th century B C.

THE PERIOD AND TRADITIONS OF SAGES OF RISHIBHASHIT

According to the Jain tradition, out of these 45 sages, twenty are believed to be contemporaries of Arishtnemi, fifteen that of Parshwa and remaining ten that of Mahavir[38] *Isimandal* also confirms this fact However, this division does not follow the order that the first twenty belong to the period of Arishtnemi, the following fifteen belong to the period of Parshwa and the last ten belong to the period of Mahavir If they are considered to be in that order then the 29th sage, Vardhaman will have to be accepted as contemporary to Parshwa and the 40th sage Dvaipayan will have to be accepted as contemporary to Mahavir On the contrary, the truth is that Dvaipayan was contemporary to Arishtnemi and Vardhaman was Mahavir himself As such it would not be correct to believe that the list of sages can be divided into the periods of Arishtnemi, Parshwa, and Mahavir in the same order as mentioned in Rishibhashit, which sage belongs to what period has to be re-evaluated Schubring himself has not given any clear indication in this context

Schubring has made an effort to evaluate the traditions of the sages in his preface to *Isibhasiyam*[39] According to him Yajnavalkya, Bahuk (Nala), Arun Mahashalputra or Aruni, and Uddalak clearly appear to be of *Upanishadic* tradition at the same time Ping, Rishigiri, and Shrigiri have been titled *Brahmin Parivrajak* and Ambad as *Parivrajak* As such, these four are also connected with *Brahmin* tradition Yogandharayan, who had dialogue with Ambad, also appears to be a sage of Brahmin tradition. Similarly Madhurayan, Aryayan, Tarayan (Narayan) also seem to be belonging to *Brahmin* tradition Angiras and Varishen Krishna are also believed to be from *Brahmin* tradition According to Schubring, Mahakashyap, Sariputta, and Vajjiyaputra are connected with Buddhist tradition I feel that he is correct Schubring has expressed his inability to attach any tradition to Pushpshalputra, Ketaliputra, Vidu, Gathapatiputra, Tarun, Harigiri, Matang and Vayu, in absence of any evidence

If we examine Schubrings views on the basis of available evidence, Narad, Asit Deval, Angiras Bhardwaj, Yajnavalkya, Uddalak, Ping and Narayan can be conclusively accepted as sages of Vedic or Upanishadic tradition Similarly, I have no objection in accepting Mahakashyap, Sariputta and Vajjiputta as belonging to the Buddhist tradition Parshwa and Vardhaman are conclusively from Jain tradition The remaining names need to be studied from a variety of angles.

Although it is difficult to ascertain the historical existence and tradition of Pushpshalputra, Valkalchiri, Kummaputra, Ketaliputta, Bhayali, Madhurayan, Sauryayan, Aryayan, Gardabhali, Gathapatiputra, Tarun, Varatraya, Aardrak, Vayu, Sanjaya, Indranaga, Som, Yama, Varun, Vaishraman etc , if we analyse their histroical existence on the basis of their mention available in the Jain, Buddhist, and Vedic traditions we may arrive at some conclusion

Prof C M Upasak has given such an evaluation in his article titled "Isibhasiyam and Pali Buddhist text ," but he has limited this study only to Buddhist Tripitak literature In this preface I am trying to go a step ahead of the efforts of Schubring and Upasak, with authenticity based on comparative and critical analysis As such I now take up a more serious study of each individual sage of Rishibhashit one by one

1. DEV NARAD

The first chapter of Rishibhashit is about *Arhat Rishi* Dev Narad Mentions about Narad are found in Jain, Buddhist, as well as Hindu traditions In Jain tradition, Narad finds place, besides Rishibhashit[40], in *Samvayang*[41], *Jnatadharmakatha*[42], *Aupapatik*[43], *Rishimandal*[44], and *Avashyak-churni*[45] *Samvayang* states that Narad shall be re-incarnated as the twenty first *Teerthankar* Vimal in the coming time-cycle (ascending) As such Rishibhashit and *Samvayang* both have referred to Narad with reverence He has been accepted as *Pratyekbuddha* indirectly in *Samvayang* and directly in Rishibhashit But we shall have to recall that there are differences in the concepts of *Arhat Rishi, Pratyekbuddha* and *Teerthankara*

According to Jain tradition *Arhat* and *Pratyekbuddha* get liberated in the same life, whereas future *Teerthankara* gets liberated after two rebirths As per Jain tradition there is no scope of *Arhat* or *Pratyekbuddha* becoming a future *Teerthankara* This proves that the concepts of *Pratyekbuddha* and future *Teerthankara* evolved only after the writing of Rishibhashit Although, from one point of view, both these concepts are efforts towards eulogising a person, future *Teerthankara* is acceptable to Jain tradition but *Pratyekbuddha* is not In this process of rejecting, most of the *Rishis* of Rishibhashit have been termed as *Pratyekbuddha* and in process of accepting, some of them have been termed as future *Teerthankaras*

The Dev Narad of Rishibhashit has been mentioned as Kalchhul Narad in *Jnatadharmakatha* and *Isimandal (Rishimandal)*, but this is just

another name of the same person This is because, in the appendix of Rishibhashit he has been shown as contemporary of Arishtanemi and the Narad of *Jnatadharmakatha* was also contemporary of Krishna and Arishtanemi In *Jnatadharmakatha* he has been described as sober and a scholar of many subjects at one place and as evil and quarrelsome at another In *Aupapatik* Narad has been mentioned as *Brahmin Parivrajak* *Aupapatik* and *Jnatadharmakatha* both describe him as scholar of four Vedas and many subjects as also propagator of Purgationism *(Shauch-Dharma)* In Rishibhashit also his preachings abound in Purgationism but the emphasis is on inner purity In *Avashyak-churni* also the available details about Narad convey that he was son of Brahmin Yajnadatta and Som-yash of Shoripur

In Rishimandal he is presented as the author of first chapter titled—'Truth is purgation' This indicates that this information has been taken from Rishibhashit only All this goes to show that Narad of Rishibhashit, *Samvayang, Jnatadharmakatha, Aupapatik* and *Rishimandal* are not different persons but one This is certain that the exalted position given to him as *Arhat Rishi* and future *Teerthankara* in Rishibhashit and *Samvayang* has not been given by later canonical and other literature of the Jains This is a proof of the total absence of sectarian dogma in Rishibhashit

As regards the preachings of Narad in Rishibhashit, the five great vows of Jain tradition have been converted into four purgations and he has been shown as the propagator of these Celibacy and non-possessivess have been combined in this Rishibhashit and other Jain canons have accepted him as the propagator of Purgationism Whereas other Jain canons believe that he emphasized on outward purgation or physical purity, Rishibhashit states that he was propagator of inner purity through virtues

In the first chapter of Rishibhashit *Arhat Rishi* ,Dev Narad stating that purgation is worth listening about and the basis of liberation from all sorrows, has mentioned the four types of purgations

1 Purgation of violence,
2 Purgation of lie,
3 Purgation of stealing/grabbing,
4 Purgation of lust and possesiveness

With these this chapter directs to embrace total apathy and mentions that a mendicant should, in all circumstances, be equanimous. He who

practices purgation is apathetic and equanimous achieves liberation soon He is not reborn

Schubring believes that the compiler of this work was clearly influenced by the *Chaturyam* (four dimensional) of Parshwa That is the reason that celibacy and non-possessiveness have been put in one category Accepting ahimsa and truth as the basis of purgation or purity indicates that Narad propagated inner purity as well, besides physical purity Narad has been mentioned as preacher of apathy, detachment and liberation also At the end of this chapter there are directions for a mendicant to be truthful, light eater, and celibate It is worth speculating if it is not the three dimensional *(Triyam)* concept mentioned in Acharanga

Generally speaking, the concepts of ahimsa, truthfulness, non-stealing, celibacy, non-possesiveness, inner purity, and apathy have been common to almost all schools of Indian thought. As such there should be no objection in accepting that these preachings of Narad were his independent thoughts

This should also be kept in mind that in Jain tradition Narad was such an influential personality that in later periods with the conception of nine *Baldevs* and nine *Vasudevs*, nine Narads were also conceived In *Aupapatik* there is a mention of separate tradition of *Naradiya Parivrajaks*

In Buddhist tradition also we find mention of many Narads First is that out of the supposed twenty four Buddhas the ninth Buddha has been named Narad[46] Besides this, in the *Atthakatha* of *Thergatha* there is a Brahman named Narad, who is contemporary of the *Padmottar Buddha* Similarly, there is another Brahman Narad contemporary of Arthadarshi Buddha in the same book[48] Also in Buddhist literature the name of a minister of King Brahmadatta of Varanasi is Narad[49] A ruler of Mithila is also named Narad[50] But in my opinion there is no connection of all these Narads with the Narad of Rishibhashit

In Buddhist literature there is a mention of Narad belonging to *Kashyap* clan[51] He has also been stated as *Brahman Rishi* Narad Dev At some places he has been called as Narad Deval But, to me, it appears that Narad and Deval are two seperate individuals In Mahabharat there is a mention of dialogue between Narad and Deval As such it can be infered that Narad and Deval were contemporaries In my opinion Narad Dev of Buddhist literature and Dev Narad of Rishibhashit must have been the same person,

In Vedic and Hindu tradition Devarshi Narad finds a wide mention The author of some parts of *Rigveda*[52] was Kanva Narad and author of some parts of *Atharvaved*[53] was Kanva Narada Similarly, Narad also finds mention in the tradition of *Samveda*[54] In *Chhandogyopanishad* Narad is said to be a versatile scholar[55] In the same *Upanishad* a dialogue between Narad and Sanat Kumar is also narrated Like *Chhandogyopanishad*, Jain canons *Jnatadharmakatha* and *Aupapatika* also believe that he was proficient scholar of all the four Vedas and many other subjects *Chhandogyopanishad* states that inspite of being knower of many subjects he was scholar of *Mantras* not soul As such, it appears that earlier Narad indulged in physical rituals, purgation, and a variety of mundane and exhibitionistic subjects, but later on his interest must have become inclined toward *Shraman* tradition from Vedic tradition and consequently attained a revered place in that tradition also The dialogue between Narad and Sanat Kumar confirms this Besides *Chhandogyopanishad* Narad finds mention in *Naradaparivrajakopanishad*[56], *Naradopanishad*[57] and many other *Upanishads*

According to Gita[58], Narad is supposed to be a divine entity In *Mahabharat*[59] one comes accross dialogue between Narad and Asit Deval *Bhagwat*[60] also mentions about Narad In a list of divine incarnations (*Avatara*) he is the third incarnation of Vishnu in the creation of Rishis Whereas Hindu tradition believes him to be incarnation of Vishnu, Buddhist tradition believes him to be an earlier Buddha predecessor of Gautam Buddha and Jain tradition believes him to be a future *Teerthankara* On studying details about Narad available in all these three traditions, the first thing which stands out is that there was an independent tradition of Narads The Jain canon *Aupapatika* conveys that a particular tradition of *Naradiya parivrajaks* prevailed for many centuries Dev Narad of Rishibhashit can be accepted as one of this tradition of Narads, who must certainly have existed earlier to Buddha, Mahavir, and Parshwa during the period of Arishtanemi

In this chapter the five great vows accepted in Jain tradition have been turned into four purgations The peculiarity is that celibacy and non-possessiveness have been combined This indicates that the compiler of this work was influenced by the *Chaturyam* concept (four diemensional concept) of the tradition of Parshwa This is because in the *Chaturyam* of Parshwa also, celibacy and non-possessiveness have been put in one category

2. VAJJIPUTTA (Vatsiputra)

In Jain tradition, Vajjiputta has been mentioned in Rishibhashit alone[61], But in Buddhist tradition Vajjiaputta *Ther* finds mention at many

places[62] Schubring and Upasak both believe Vajjiputta to be connected with Buddhist tradition[63] In Buddhist tradition there was a separate sect of Vajjiputtaks who maintained a difference of opinion with general Buddhist monks on certain points However, Prof C S Upasak has put forward a doubt in accepting Vajjiputta as connected with Buddhist tradition According to him the sect of Vajjiputta was formed at a latter period than the writing of Rishibhashit But his doubt appears to be ill-founded, because the *Vajjiputtiya* sect mentioned in Buddhist tradition had already come into existence in the 4th-5th century B C Also, Vajjiputta was, in fact, contemporary of Buddha

The emergence of *Vajjiputtiya* sect within the Buddhist organisation signifies that Vajjiputta must have been an influential monk in the Buddhist tradition and his disciples must have been large in number to have formed a sect under his own following Buddhist literature also reveals that Vajjiputta was contemporary of Buddha and Mahavir In *Thergatha Atthakatha* he has been shown as a *Lichchhavi* prince from Vaishali, who became so impressed with Buddha that he accepted Buddhism, and becoming a monk, started meditation in forests around Vaishali The reason for his inclusion in Jain tradition, specially in Rishibhashit, may be that he belonged to the same clan, *Lichchhavi*, to which Mahavir belonged

The *Vajjiputtiya* monks have been considered as moderates in the Buddhist tradition They had demanded for some moderations in the disciplines for the monks, viz snacks after meals, keeping gold coins etc There is also a mention in Buddhist literature and inscriptions, of some sub-sects of *Vajjiyaputtiya* sect The sub-sects are as follows —

1 *Dharmottariya Nikaya :* Although it was quite popular and had good following, there is no information about its principles

2 *Bhadrayanik Nikaya* · Details can be seen in works like *Mahavansha, Deepvansha* etc

3 *Chhannagarika Nikaya :* The literal meaning of *Chhannagarika* is those who live in covered abodes The followers of this sect were those who practiced meditation in institutionalised buildings and not under trees or inside caves

The Vajjiputta mentioned in Rishibhashit is the Vajjiputta of Buddhist tradition He belonged to the *Lichchhavi* clan and was a contemporary of Buddha and Mahavir, He was still alive after Buddha's

Nirvana Also, his preachings compiled in Rishibhashit have no contradiction with Buddhist philosophy

As regards the preachings of Vajjiputta compiled in Rishibhashit, they mainly clarify the Karma principle According to him the sequence of life and death continues like that of seed and sapling At the root of karma he postulates attachment This theory about karma is generally accepted both in Jain and Buddhist traditions Preachings similar to those of Vajjiputta can be found in the thirtieth chapter of *Uttaradhyayan*. The discussion about *Karma-santati*, which shows the influence of *Santativad* of Buddhism, provides the basis of authenticity of ideas put forth in this chapter This chapter also indicates that Vajjiputta emphasizes more on knowledge rathar than conduct *Vajjiputtiya (Vatsiputriya)* sect of Buddhists also emphasizes on the path of knowledge and purity of soul as against the stagnant rules of conduct In my opinion he is none else but Vajjiputta *Ther* of Buddhists

In the Vedic tradition there is a mention of Vatsiputra which is the Sanskrit form of Prakrit Vajjiputta In the last clan list of *Vrihadaranyaka Upanishad*, Vatsiputra can be found He was a disciple of Parasharputra according to Kanva branch and that of Mandaviputra according to Madhyamdin branch

Although there is nothing more but his name in the Vedic tradition, but still it can be deduced that he was some sage belonging to the Upanishad period All this naturally gives rise to the question that Vajjiputta of Rishibhashit, Buddhist Vajjiputta, and Vatsiputra of the *Brihadaranyaka Upanishad* are three different persons or just one As no philosophy or thought of Vatsiputra are available in the Vedic tradition, it is difficult to establish his sameness with Vajjiputta of Rishibhashit Whereas due to similarity of thoughts the proximity of Vajjiputta of Rishibhashit and Vajjiputta of Buddhists is established The existence of a sect of *Vajjiputtiyas* in Buddhism also proves that he must have originally belonged to the Buddhist tradition

The question that who was Vatsiputra of *Brihadaranyaka Upanishad* still remains to be answered As no other Buddhist monk has been mentioned in the Upanishads, it is difficult to say that Vatsiputra of *Brihadaranyaka* and Vajjiputta of Buddhist tradition were same Had he been a common *Ther* of Buddhist tradition it would have been possible that he had been accepted in Buddhist tradition like Narad and others But in Buddhist tradition his place is as the leader of a sect and not an ordinary monk. However, one cannot deny the possibility that earlier he

was connected with the tradition of Upanishadic sages and, being influenced by Buddha, had joined the ranks of Buddhist monks at a later date Being a Buddhist and still living in jungle is certainly an evidence of his diverseness Also, the fact that first voice of decent within the Buddhist organisation came from his disciples indicates that roots of his tradition were a little different The absence of any information other than his name in the tradition of Upanishadic sages also indicates that he shifted to some other tradition in the later part of his life

3. ASIT DEVAL

The mention of Asit Deval can be found in all the three streams of Indian thought—Vedic, Jain, and Buddhist The religious canon of Deval was popular during the ancient period and its quotes can be seen even today in works of later periods On this basis we can definitely infer that Asit Deval was not simply a mythological name but a historic person

In Jain tradition Asit Deval finds mention in Rishibhashit[64] and *Sutrakritang*[65] Rishibhashit addresses him as *Arhat Rishi* His preachings compiled in Rishibhashit convey the following postulations —

"Abandoning the four directional world, every individual should strive for the unfathomable, endless and eternal abode that is *Moksha* Discussing the means towards this goal, it has been conveyed that by being apathetic toward all desires, passions, attachments, and activities, as well as anger, conceit, illusion and greed, and with the help of detachment, apathy, and discipline one can save himself from all adhesions or binding karmas, to attain liberation After that, eleven stages explain the activities resulting in bondage of evil *Karma* In the end it has been said that ordinary fire can be exitinguished with the help of water but the fire of attachment is difficult to extinguish He who understands this reality can rid himself of the cycles of life and death and liberate himself"

These details indicate that Asit Deval was a preacher of the path of detachment The adjective *Arhat Rishi* also confirms the same fact *Sutrakritang* has mentioned that Asit Deval attained liberation inspite of consuming seeds, vegetables, and plain water This proves that he did not originally belong to the Jain tradition, but still enjoyed a coveted place This was because the monks belonging to Jain tradition were supporting the trend of seeking conveniences by giving examples of *Rishis* like Asit Deval, Nami, etc.

Sheelanka, the commentator of *Sutrakritang* imagined of two persons—Asit and Deval, based on the word 'Asite–Devile', but according to Rishibhashit it is proved that Asit Deval is one person, not two *Isimandal*[66] has referred to him as a person devoid of lust *Isimandal Vritti*, a work of 13th—14th century A D , has given the full life history of Asit Deval It mentions that he became infatuated with his own daughter, but with the help of true knowledge he got rid of his lust. This also proves that he was basically connected with ascetic tradition

Buddhist *Tripitak* literature also refers to him as a *Rishi* *Aslayana Sutta*[67] of *Majjhim* Nikaya gives us some details about him The story narrated is that once seven Brahman scholars lived in a jungle They believed that Brahman is the highest cast and they are the true progeny of Brahma When Asit Deval opposed the belief the Brahmans cursed him When the spell of the curse did not effect Asit Deval the Brahmans considered their practices to be useless and sought clarification of their doubts from Asit Deval Asit answered their questions and in the end they became his followers

Buddhaghosh has referred to Asit Deval as *Bodhisattva* in *Mahavansh* (ii-705) Besides this *Indriya Jatak*[68] also mentions Deval as Kala–Deval In this *Jatak* tale Narad is younger brother of Asit Deval and there is a mention of Asit Deval as a *Sanyasi* who also tries to free his younger brother Narad from the worldly ties

In the Hindu tradition we find mention of Asit Deval in *Mahabharat* and *Gita* In *Mahabharat* Asit Deval has been mentioned in *Adiparva*[69] *Sabhaparva*,[70] *Shalyaparva*[71], *Shantiparva*[72] and *Anushasanparva*[73] In *Shalyaparva* Asit Deval has been shown as a house-holder practicing religious asceticism, this is also confirmed by Jain sources It is also stated here that Asit Deval was equanimous and highly advanced ascetic This chapter also relates the dialogue between Asit Deval and Jegishavya. The most important fact related in this chapter is that he left the duties of a house-holder and became *sanyasi* through the influence of Jegishavya's preachings

Shantiparva has also presented Jegishavya preaching equanimity to Asit Deval. These facts indicate that in the begining Asit Deval was practicing as a house-holder and latter, becoming *sanyasi*, practiced equanimity In another chapter of *Shanti-parva* (275) is mentioned the dialogue between Narad and Asit Deval In this chapter Deval establishes, five fundamentals, time, existence and void, the eight eternal basics; and proposes the origin of creation from these basics. In this chapter he

also preaches the discipline of senses to Narad As such, the attempt to connect Narad and Asit Deval by Buddhist tradition certainly appears to be partly true

Besides this, *Gita*,[74] *Maathar Vritti*,[75] *Brahmasutra Bhashya* and *Yajnavalkya Smriti* (*Aparaditya* Commentary) also contain mentions of Deval Although, in *Mahahharat* at some places Deval has been presented as a mythic figure, his mention in all the three traditions confirms that Deval was a historic person However, the question that how ancient a sage Deval was, still remains unanswered

In this context there are two three points worth considering *Mahabharat* and *Gita* have presented him as contemporary of Narad In Jataka tales of Buddhist tradition too he is supposed to be the preacher of Narad In Rishibhashist the chapter of Asit Deval follows those of Dev Narad and Vajjiputta All this goes to prove that Asit Deval too was a Rishi of the *Mahabharat* period In the *Jatak* tales it is related that he was present during the period of Gautam-Buddha in his later incarnation. This proves his antiquity as compared to Buddha However, it is difficult to pin-point his exact period on the basis of all this information It is certain that he preceded Mahavir and was a *Rishi* present during the *Mahabharat* period He must have been popular for quite some time and possibly left a tradition after himself, otherwise we could not find his mention in Jain and Buddhist canons

4. ANGIRAS BHARDWAJ

The fourth chapter of Rishibhashit contains the preachings of Angiras Bhardwaj Besides Rishibhashit, the mention of Angiras is also available in *Avashyak Niryukti*,[76] *Avashyak Bhashya*,[77] *Avashyak Churni*[78] and *Rishimandal (Isimandal)*[79] Here he is said to be an ascetic disciple of Upadhyaya Kaushik As compared to other chapters, this chapter of Rishibhashit is adequately elaborate Besides the prose part, this contains 24 couplets In this chapter, first of all the illusive nature of human life has been described It has been related that to know the human mind is very difficult because there are contradictions in his thought, speech, and actions Also, that man himself knows what is good or bad for him He who observes his attitudes, curbs the evil consequences Analysing the duality of the inner and outer world, it has been said that often a person indulged in benevolent or good work, outwardly appears to be an evil doer and vice versa Under many circumstances people praise a thief and criticise a monk On the basis of apparent observations calling a

person thief or a monk does not make him so In fact the person himself alone knows if he is a good or bad

As such, this whole chapter mainly elaborates the dualities of the inner and outer world This duality is much difficult to understand The basis of goodness and evil nature of a person is not the apparent praise or criticism but his inherent attitude

In Buddhist tradition Angiras Bharadwaj has been mentioned at many places as a *Vedic Rishi* Majjhimnikaya[80] mentions, a pratyekbuddha named Angiras Bharadwaj Angiras Bhardwaj is also one of the eleven mendicants attaining *Brahmlok* as mentioned in *Jataka* 4/99. Besides this, *Suttanipata*[81] has a mention of Krishi Bhardwaj and Sundarik Bhardwaj But Bhardwaj being the name of a clan, inspite of the same clan name these two should be considered as different from Angiras Bhardwaj on the basis of difference in first name In the *Basetthsutta* of Suttanipata also there is the dialogue between Vasishtha and Bhardwaj on the question that a person is considered *Brahmin* on the basis of his birth When we compare this dialogue from *Basetthasutta* with the preachings of Angiras Bhardwaj from Rishibhashit, an important fact is revealed Both appear to emphasize on the inner purity of individual and not on birth or apparant conduct As such, giving preference to feelings and soul on the path of religion and meditation is found predominently in both

Detailed description about Angiras is availabe in *Atthaka*tha of Thergatha[82] First of all in the *Choolpanthak Thergatha*, Angiras has been shown as ascetic of the calibre of Aditya In the *Veni Thergatha* he has been addressed as Mahamuni (great ascetic) and compared with *Chandrama* (moon) In the Buddhist tradition the most important information from historical view point is that while discussing Angiras there is a mention of Champanagar In Jain tradition in *Isimandal Vritti* and *Avashyak Churni* it has been stated that he was a disciple of Kaushik Upadhyaya of Champanagar

In complete pali literature one finds mention of seven persons named as Angiras It is worth giving a thought that which one of these is the Angiras mentioned in Rishibhashit Most probably the Angiras mentioned with ten *Rishis* in *Suttanipata* is the Angiras of Rishibhashit In my opinion, of the persons mentioned as Angiras in *Chhandogyopanishad, Suttanipata*, and *Rishibhashit, Avashyak Niryukti* and *Avashyak Churni* are one and the same All the three traditions have presented his story in

their own typical styles Pandit Kailash Chandra has tried to establish that Angiras, the preacher of Devakiputra, of *Chhandogyopanishad* was Arishtanemi But in my opinion this is a farfetched imagination This much, however, is true that Angiras was a contemporary of Krishna and Arishtanemi and a *Rishi* of the *Upanishadic* period of the *Shraman* tradition predating Buddha, Mahavir, and Parshwa

In the *Vedic* tradition the first mention of Angiras is found in *Rigveda*[83] After that he has been mentioned in *Chhandogyopanishad*[84] as Ghor Angiras and he has been shown as teacher of Devakiputra Krishna Besides *Chhandogya*, *Mahabharat* mentions a *Rishi* named Angira, one of whose sons was named Ghor This indicates that the Ghor Angiras of *Chhandogya* must have been Ghor, the son of Angira *Rishi* of *Mahabharat*[85] This is because the mention of father's name with son is an age old tradition in India Also, Angiras too means son of Angira

As such we may conclude that Angiras Bhardwaj of Rishibhashit, Ghor Angiras of *Chhandogyopanishad* and Angiras Bhardwaj of Suttanipata is one and the same person He has been well known as *Rishi* and all the three traditions have accepted him in their own way

5. PUSHPSHALPUTRA

The fifth chapter of Rishibhashit is the collection of the preachings of Pushpshalputra Besides Rishibhashit[86], Pushpshalputra has been mentioned in *Avashyak-niryukti*[87], *Visheshavashyak-Bhashya*[88] and Avashyak-churni[89] The *Acharanga* commentary by Sheelank[90] also has a mention of Pushpashala In *Avashyak-churni* Pushpshal has been mentioned at two places One Pushpshal was a resident of Gobar village and the other of Vasantapur The Pushpashal of Vasantpur has no connection witth Pushpshalputra of Rishibhashit, as he has been stated to be a musician But the Pushpashalputra of Gobar village is same as that of Rishibhashit The reason for this is also that in *Avashyak-churni* Pushpashal of Gobar village has been stated as a person devoted to public welfare In Rishibhashit also he appears to emphasize on humility As such they can be the same person

The only contradiction is that Pushpshalputra of Gobar Village is supposed to be a contemporary of Mahavir, whereas the appendix to Rishibhashit shows him as a disciple of Arishtanemi But this appendix does not appear to be correct as far as the periods are concerned This is because here Mankhaliputra Goshalak has been mentioned as a

disciple of Arishtanemi, but he was actually a contemporary of Mahavir and Buddha On the basis of the preachings in Rishibhashit and description in *Avashyak-churni* we can only infer that Pushpshalputra was a thinker giving primary importance to humility

During the period of Mahavir and Buddha there was a tradition preaching humility In my opinion Pushpshalaputra must have been a prominent *Acharya* of that tradition In his preachings in Rishibhashit the direction are mainly about abandoning evil deeds like violence, libido, possessiveness, falsehood and anger, conceit etc He says that the being who is free of evil attitudes like anger, conceit etc and follows the conduct specified in canons gains knowledge about soul As such in his preaching importance appears to have been given to riddance from evil and humility in conduct

Besides Jain tradition, in Buddhist tradition also we find mention of Pushpsthavir (Fussather) In *Atthakatha* of *Thergatha*[91] and *Apadan* his preachings have been given in details In his preachings, available in Pali litarature, mostly the evil attitudes of the future monks and nuns have been detailed As such he appears to be giving more stress on following the canonical conduct The same can also be seen in Rishibhashit in simple terms Still we can not conclusively say that Pushpshalputra of Rishibhashit is same as Pushpsthavir of Pali literature

One indication from Buddhist literature is that he was a *Pandar* monk Information about *Pandar* monks comes from Jain as well as Buddhist sources It is possible that Pushpshalputra might have been from the tradition of *Pandar* monks and that tradition might have been the tradition preaching humility

His preaching in Rishibhashit commences with "Palms joined he put his forehead on the ground and abandoned all activities including eating " A strong possibility is that he was a monk belonging to some tradition other than the *Nirgranth* In the end he must have fasted unto death But in absence of detailed information it is not possible to infer much

We have not been able to get information about him from Vedic sources

6. VALKALCHIRI

The sixth chapter of Rishibhashit[92] contains the preachings of Valkalchiri Besides Rishibhashit mention of Valkalchiri is also available in *Aupapatik*[93], *Bhagvatisutra*[94] *Avashyak-churni*[95] and *Rishimandal*[96] The story of Valkalchiri is a famous story in Jain tradition and is available in *Avashyak-churni* and *Rishimandal Vritti* According to *Avashyak-churni* this story is also mentioned in *Vasudev-hindi*[97]

According to the story available in *Avashyak-churni* and other works, Valkalchiri was son of King Soma Chandra and brother of Prasanna Chandra of Potanpur Being the brother of Prasanna Chandra Rajrishi, it is obvious that he was a contemporary of Mahavir The story of Prasanna Chandra Rajrishi is a popular story in Jain tradition, *Avashyak-churni* carries this story also All these sources convey that his father indulged in *Dishaproshak* ascetic practices The *Dishaproshak* ascetics have also been mentioned in other Jain works like *Aupapapatik*

As Valkalchiri was brought up by his father in jungle, he was incapable of discriminating between man and woman, horse and deer etc He was educated while looking after the meditational aids of his father

From the preachings of Valkalchiri in Rishibhashit it appears that he was particularly apathetic towards women Emphasis on practice of celibacy forms the base of his teachings He says, "O ! man do not become your own enemy by getting infatuated with woman, fight lust as far as possible, because you will attain as much calmness as distant you are from women "

From these details it is evident that Valkalchiri was a sage who specially emphasized on practice of celibacy The adjective '*Bhagwan*' preceding his name, in Jain tradition, confirms his importance The name Valkalchiri indicates the fact that he must be wearing dress made of *Valkal* (skin of tree)

Besides Jain tradition we find mentions of Valkalchiri in Buddhist[98] tradition also There he is mentioned as *Valkalither*, and a *Brahman* scholar of three *Vedas* from Shravasti city According to details available in *Pali* literature, he was inducted in Buddhism but later expelled from the monk organisation There are mentions of his meditation on Gridhakoot hills Buddha is said to have praised his devotion There is no mention of him available in the Vedic tradition Although the Buddhist tradition has tried to own him, in my opinion he must have been a sage of the *Tapas* tradition

7. KUMMAPUTTA

Seventh chapter of Rishibhashit[99] contains the preachings of Kummaputta (Kurmaputra). In Jain tradition, alongwith Rishibhashit, mention of Kummaputta can also be found in *Visheshavashyak-bhashya*[100] *Avashyak-churni*[101], commentry of *Aupapatik*[102] and *Visheshanvati*[103] of Haribhadra *Isimandal*[104] *(Rishimandal)* also mentions him But in all these works his detailed life history is not available That is available in the *vritti* of *Rishimandal* and *Kummaputtachariyam*, but both these works are of a period later than the twelfth century In the ancient Jain Literature he has been shown as a dwarf and his height was said to be about three feet He is supposed to have attained omniscience while he was a house-holder These details confirm that he was a *Rishi* of the ancient *Sraman* tradition

In Rishibhashit he preaches desirelessness or non attachment The most important part of his preachings is that he considers desire to be the cause of sorrow He stipulates that if a lethargic person can be happy by becoming desireless there can be nothing against an intelligent and deligent ascetic deriving happiness through being desireless In fact this preaching of his is parallel to *Anasakta-yoga* of *Gita*

Besides Jain tradition we also find mention of Kummaputta *Ther* in Buddhist tradition In *Thergatha*[105] and *Atthakatha* of *Apadan*[106] the story of Kummaputta can be found in detail. In his previous birth he had given oil for massage on feet to Vippasi Buddha As a result of this good deed he was born in the family of a house-holder in *Velutkantaka* city of *Avanti* His mother's name was Kumma, that is why he was called Kumma-putta (the son Kumma) He accepted monkhood on hearing preachings of Sariputta While meditating about *Karmasthan* he attained *Arhat-hood* through *Vipashyana* (a yogic practice)

A mention of Kummaputta Sayather is also available in *Thergatha* This person was, infact, an assistant of Kummaputta, or a monk near to him As such he is different from Kummaputta Both Jain and Buddhist traditions are concommitant on the fact that his name was Kummaputta because of his mother's name At the same time it is true that the essence of his preachings is detachment and purity of thought It is possible that he was either of an earlier period or a contemporary of Mahavir and Buddha As regards vedic tradition, no reference could be found about Kummaputta

8. KETALIPUTTA

The preachings of Ketaliputta have been compiled in the eighth chapter of Rishibhashit[107] Besides Rishibhashit no other source provides any information about him Other Jain canons or later works of fiction do not have any mention of Ketaliputta Buddhist and *Vedic* traditions are also silent about him As such it is difficult to say who he was Even in Rishibhashit no more than his short discourse is available The tenth chapter of Rishibhashit is about Tettaliputta Tettaliputta is also mentioned in *Jnata, Anuttaropapatik, Avashyak-churni, Isimandal* and its *Vritti*

There is a possibility that due to variation in pronunciation, two *names of the same person were in use and on this basis the two names* were later accepted as two different persons However, in absence of conclusive evidences nothing more can be said about this

In Rishibhashit Ketaliputta preaches that in the mundane life *(Aram)* an individual has two attributes and in the liberated state (*Param*) only one As such, like a silk worm, one should break all the ties and attain liberation The use of the terms *Aram* for this world and *Param* for liberation can also be found in *Acharanga* and *Sutrakritang* This proves antiquity of these preachings

The statement, 'life has two attributes and liberation one', can be explained and elaborated in many ways Some examples are Life has knowledge and acitivity and in liberation only knowledge is there Life has attachment and aversion but liberation has only detachment This discourse of Ketaliputta indicates that he must have been some mystical ascetic of that period In absence of any concrete information about him, it is difficult to comment about his historical details as well

9. MAHAKASHYAP

The ninth chapter of Rishibhashit[108] has the discourse of Mahakashyap In India *Kashyap* is a well known clan name Even Mahavir and Rishabha are supposed to be of *Kashyap* clan *Sutrakritang*[109] has even mentioned Mahavir as *"Virena-kasaven Mahesina"* Similarly in *Bhagavati Sutra*[110] also there is a mention of a monk named Kashyap belonging to the tradition of Parshwa As such it is difficult to decide who is this Mahakashyap In *Uttaradhyayan-churni*[111], the father of Kapil Brahman is said to be Kashyap, Also in *Antakritadasha*[112] we find a mention of Kashyap Gathapati. But in my opinion non of these have any

connection with Mahakashyap of Rishibhashit. The adjective *Maha* (great) prefixed to *Kashyap* indicates that he must have been some prominent person

In Buddhist[113] tradition we find mention of Mahakashyap as an extraordinary monk He is said to be a very close disciple of Buddha. As such it is probable that Mahakashyap of Rishibhashit is non other but Mahakashyap of Buddhist tradition This presumption gets support from the fact that two other monks of Buddhist tradition, Vajjiputta and Sariputta, are also included in Rishibhashit As such this can be accepted that Mahakashyap of Buddhist tradition is the Mahakashyap of Rishibhashit,

The preachings of Mahakashyap compiled in Rishibhashit confirm that he was a *Rishi* connected to the Buddhist tradition This is because his preachings contain discourse about *Santativad* and stability of *Deapak* (candle flame) has been mentioned as a metaphor for *Nirvana* Both these are established and popular concepts of Buddhist tradition

In *Mahabharat*[114] is found a mention of a famous chanter of *Mantras*, named Kashyap who is coming to save King Parikshit But he cannot be taken as Kashyap of Rishibhashit because one belongs to the period of *Mahabharat* whereas the other to the period of Mahavir and Buddha Similarly Kashyap is mentioned in *Shatpath Brahman*[115] and *Taittiriya Aranyak*[116] also, but there it is used as a clan name, and cannot have any relation with Kashyap of Rishibhashit, As such in my opinion Mahakashyap of Rishibhashit is the Mahakashyap from Buddhist tradition.

10. TETALIPUTRA

The tenth chapter ot Rishibhashit contains collection of preachings of Tetaliputra[117] In the ancient Jain literature Tetaliputra has been mentioned in *Jnata-dharma-katha*,[118] *Vipaksutra*,[119] *Visheshaveshyak-bhashya*[120] and *Sutrakritang-churni*[121] besides Rishibhashit In the fourteenth chapter of *Jnata-dharma-katha* detailed information about Tetaliputra is available

According to the *Jnata* he was a minister of the ruler of Tetalipur named Kanakrath He married Pattila, daughter of a goldsmith Due to the fear that his own progeny might dethrone him, he used to mutilate his sons The queen put this problem before Tetaliputra Coincidentally the queen and Tetaliputra's wife concieved and gave birth to children at the same time Tetaliputra's wife gave birth to a still daughter and the

queen to a son Tetaliputra exchanged the newly born and celebrated the birth of the son

Some how Tetaliputra becomes apathetic towards Pottila A Jain nun Arya Suvrata comes to the city with her disciples Some nuns come to Tetaliputra's house for alms Pottila seeks advice from the nuns to attract the husband The nuns reply that giving of such advice is prohibited for them, they could only give religious discourses Pottila listens to the discourse and accepts nunhood

After the death of Kanakrath the king's son, brought up by Tetaliputra, ascends the throne and honours Tetaliputra profusely for his help According to the story Pottila is reborn as god and wants to convert the husband of her previous birth She instigates the King against him Not getting due respect from king Tetaliputra is disconcerted and attempts suicide Inspite of repeated attempts he fails to commit suicide As such his life becomes full of disbelief and skepticism Finding an opportunity, Pattila, turned into a god, preaches Tetaliputra who becomes a monk Meditating hard he attains liberation The same story is also available in Rishibhashit in brief In order to compare both narratives we give parts of both texts here (See orginal in Hindi)

On doing a comparative study of these two texts we find that (1) As compared to Rishibhashit the description about Tetaliputra in *Jnata-dharma-katha* is more elaborate and includes much more supernatural incidents, (2) The language of Rishibhashit uses the syllable 'T' much more frequently, it is nearer to *Ardhamagadhi* and so, ancient as well, on the other hand, the language of *Jnata* uses the syllable 'Y' more frequently, contains influence of *Maharashtri* Prakrit and comparatively recent

As regards the basic teachings contained in the chapter are concerned, they are vague In fact the preaching content in this chapter is very low, and Tetaliputra narrates the experiences of his life He says, "Inspite of having relatives friends, sons, I feel helpless, inspite of having wealth I am poor Hopelessness led me to suicide but there also I failed, consequently, my life is full of doubt, where other *Sraman* Brahmans talk of faith, I alone preach skepticism This lack of faith and skepticism was the cause of his detachment

Besides, *Jnata* and Rishibhashit, *Sthanang*[122] also contains information about Tetaliputra It mentions that the title of the eighth chapter *(Dasha)* of *Anuttaraupapatik* was Tetali But the version of *Anuttarau-*

papatik avalable today does not contain the chapter It may have been deleted from there because the same details had already come into *Jnata* In absence of any information it is difficult to surmise what was the subject matter dealt in this missing chapter

Besides Jain literature both Vedic and Buddhist literature do not contain any mention of Tetaliputra As such it appears that Tetaliputra was basically connected with *Nirgranth* (Jain) tradition only

11. MANKHALIPUTTA

The eleventh chapter of Rishibhashit[123] is about Mankhaliputta It is natural to ask who this Mankhaliputta was In Jain and Buddhist traditions mentions of Mankhali Goshal or Makkhali Goshal are available The fifteenth *Shatak* of *Bhagavatisutra*[124] presents details of the life and philosophical beliefs of Mankhali Goshal In the Jain tradition details about Mankhali Goshal can be found in *Upasakdasha,*[125] *Avashyak-niryukti,*[126] *Visheshavashyak-Bhashya,*[127] *Avashyak-churni*[28] and many other works besides *Bhagavati* sutra According to the available details he was called Mankhaliputta because he was son of a *Mankha* named Mankhali, and Goshal because he was born in a *goshala* (cow hut) According to Jain tradition he met Mahavir during the second monsoon after Mahavir accepted monkhood, and remained with him for almost six years, Later they had a difference of opinion on the question of *Niyativad* According to *Bhagwati-sutra* 24 years after Mahavir accepted monkhood Mankhaliputta Goshal declared himself to be a Jin or *Teerthankar* Details on this episode are available in *Bhagvati-sutra* But in my opinion this description is one sided and exaggerated The only conclusion we may draw from these narratives is that Mankhaliputta Goshal established his own school independent of Mahavir, and it had a wide influence over the society, This sect founded by him later became famous as *Ajivak* sect

In the Buddhist *Tripitak*[129] literarure also Makkhali Goshal has been recognised as one of the six teerthankars contemporary of Buddha Besides this, in *Thergatha*[130] also there is a mention of Makkhali Goshal However, in the *Atthakatha* he has been said to have been born in the state of Magadha Although other details in Jain and Buddhist description are not similar, both the traditions equivocally convey that Mankhaliputta Goshal was the founder of *Niyativad* and a prominent Acharya of his age *Pali Tripitak and Jain canonical literature contain detailed comments* about his philosophical thoughts. Both accept him as follower of *Niyativad*

Niyativad is that school of thought which emphasizes on an preordained system of the world as against the human endeavour I would not like to go into a detailed discussion on this matter but would certainly like to express that the details available about Mankhaligoshal in Jain and Buddhist traditions are biased and critical They present the personality and philosophical beliefs of Mankhaligoshal in a distorted manner Probably Rishibhashit is the only work that presents Mankhaliputta as a revered Arhat Rishi and his preachings as valid

It is true that ideas of *Niyativad* can also be found in the preachings of Mankhaligoshal available in Rishibhashit, but here the *Niyativad* of Mankhaliputta is a means to win over creator's ego in a person and give him a detached view point He explicitly states that the ascetic who wavers, who is influenced, who is disturbed, who is hurt by seeing the transformation of things (matter), can not become protector of self due to the reactions so evoked

The preachings of Mankhaliputta convey that activites of the world continue in their own regulated order Even against the wishes of a person, adverse circumstances do prevail He alone can save himself and others from the four life-consequences (*Chaturgati*) of this world, who remains uneffected, undisturbed, and unhurt in adverse circumstances, considering them to be nothing but mere transformations of matter. This preaching clarifies that the central theme of his *Niyativad* is for leading detached life Same idea is propagated in *Bhagvadgita* There also, the preaching of *Niyativad* is directed toward ending the reward oriented thinking of human beings.

In *Mahabharat*[131] we find preachings of Manki Rishi under the title Manki Gita, I believe that this Manki Rishi of *Mahabharat* is non else but Mankhaliputta of Rishibhashit This is because Manki Gita clearly propagates *Niyativad* It says that whatever happens is not due to human effort but due to divine will Luck is every thing Insisting doggedly on human effort when one fails, the divine will could be traced as the cause of failure

On this basis it can be infered that Mankhaliputta of Rishibhashit, Mankhali-goshal mentioned in Jain canons like *Bhagvati-sutra*, Makkhali-goshal of *Pali Tripitak* literature, and Manki Rishi of *Mahabharat* are one person In fact with the establishment of sectarian organisation in Jain and Buddhist traditions, efforts were made to distort the life history and preachings of Mankhaliputta-goshal Literature and inscriptions also prove that Mankhaliputta was a prominent sage of *Sraman* tradition in

his age His *Ajivak* sect continued to exist even one thousand years after his death Mankhaliputta of Rishibhashit was the learned *acharya* Mankhaligoshal of the *Ajivak* tradition The 15th chapter of Bhagvati-sutra also mentions other *Acharyas* of this tradition

12. JANNAVAKKA (YAJNAVALKYA)

The twelfth chapter of Rishibhashit is related to Jannavakka (Yajnavalkya) Besides Rishibhashit[132] no other work of Jains provides any information about Yajnavalkya In the appendix to Rishibhashit it has been mentioned that he was a *Pratyek-buddha* contemporary of Arishtanemi For detailed information about him we have to depend on sources other than Jain Buddhist sources also do not provide detailed information about him

In the *Vedic* works mention of Yajnavalkya is found in *Shatpath Brahman*,[133] *Shankhayan Aranyak*,[134] *Brihadaranyak Upanishad*,[135] and *Mahabharat*[136] There is the famous Yajnavalkya *Smriti* also in his name The text available in *Shankhayan Aranyak* is almost same as that in *Shatpath Brahman* Leaving aside *Mahabharat* and Yajnavalkya *Smriti*, *Brihadaranyak Upanishad* is the only *Vedic* work which provides detailed information about Yajnavalkya On the basis of the story in *Brihadaranyak Upanishad*, Oldenberg, Waber and other scholars have deduced that he was a citizen of *Videh* because of his connection with Janak

However, Shri Suryakant, in Vedic Kosh, has expressed his doubts on his being a citizen of Videh, based on his connection with Uddalak of *Kuruanchal* In my opinion his connection with Uddalak does not provide proper ground for doubting his citizenship of *Videh* because the Rishis keep traveling Uddalak is also mentioned in Rishibhashit

According to me, on the basis of the details from *Brihadaranyak Upanishad*, we may only infer that although during his early life he may have been a supporter of the *Yajna* tradition, in the end he shifted to the detachment oriented Sraman tradition due to the influence of *Atmavad* of Janak In *Brihadaranyak Upanishad* he says that getting knowledge of *Atma* (soul) a Brahman abandons desires for son, wealth, and the world, and moves around taking alms This is because the desire for son is same as the desire for wealth and the desire for wealth is same as the desire for the world

On comparing these preachings from *Brihadaranyak Upanishad* with those of Yajnavalkya in Rishibhashit[137] we find astonishing similarity In

Rishibhashit he says that as long as the desire for the world is there, the desire for wealth also remains, and vice-versa. As such a mendicant should abandon both, the desire for the world and the desire for wealth, and proceed on *Gopath* not *Mahapath* Probably, *Gopath* here means that as the cows wander grazing in bits, the mendicant should wander taking alms and not giving trouble to anyone Here *Mahapath* may have been used in the sense of normal wordly life or possession oriented tradition This proves that in the end Yajnavalkya became a preacher of the path of detachment[138]

In the vedic tradition, besides *Brihadaranyak Upanishad,* mentions about Yajnavalkya are also available in *Mahabharat* In *Shanti-parva* he has been presented as giving discourse to Janak This indicates that he must have been a *Rishi* contemporary of Janak

The information according to the Jain tradition that he was a *Rishi* of the period of Arishtanemi does not appear to be correct He was probably a Rishi of a much older period However, on the basis of the comparative study of the preachings of Yajnavalkya, available in *Brihadaranyak Upanishad* and Rishibhashit, we can certainly infer that Jannavakka (Yajnavalkya) of Rishibhashit was none else but the Yajnavalkya of *Upanishads*

13. METEJJA BHAYALI

The thirteenth chapter of Rishibhashit[139] is about Metejja Bhayali In Jain literature, besides Rishibhashit, Bhayali is mentioned in *Samvayang*[140] According to *Samvayang* he is going to be the nineteenth *Teerthankar* (named Samvar) in the coming cycle of time (ascending), Two other Prakrit forms of the word Bhayali are available—Bhagali and Bhaggai The seventh chapter of *Antakritdasha* in *Sthanang-Sutra*[141] is supposed to be about Bhagali Although this chapter is missing from the available editions, I am sure, in the ancient edition of *Antakritdasha,* this chapter must have existed and contained the life story or preachings of Bhagali In *Aupapatik* there is a mention of a *Kshatriya* ascetic Bhaggai and his followers It is possible that the followers of Bhayali or Bhagali were known as Bhaggai

The main theme of Bhayali's preachings in Rishibhashit is liberation of soul He states that only he, who is desirous of fruits, waters a plant One, not wanting fruit does not water a plant Only by fostering a plant *fruit is available If the plant is destroyed the fruit is automatically* destroyed As such he wants to convey that in order to get liberated from

the wordly life, the fundamental cause of wordly life will have to be destroyed Besides this, from philosphical angle Bhayali propagates that neither *Sat* (the existant reality) nor *Asat* (non-existant reality) has any cause The *Asat* (non existant reality) does not enter the chain of cyclic rebirth

Thus in his preachings we find that basic premise of *Upanishad, Gita,* and *Sankhya,* according to which it is believed that *Sat* is never destroyed and *Asat* never comes to existance The same hypothesis has been stated in this chapter in a different way.

As regards the first name Metejja is concerned, the tenth *Ganadhar* (principle disciple) of Mahavir was also named Metejja But in my opinion this was a different person Besides this there is a mention of another Metejja Sraman who was living in Rajasthan and sacrificed himself adhering to the vow of Ahimsa This person is also mentioned in *Avashyak-Niryukti,*[142] *Visheshavashyak-Bhashya,*[143] *Avashyak-churni,*[144] *Sthanang,*[145] and the *Abhaya Dev Commentary of Sthanang*[146] Although this person and Metejja Bhayali of Rishibhashit appear to be the same person but in absence of any conclusive evidence nothing more can be said

In Buddhist tradition mention is available about one Mettai Ther[147] who was connected to a *Brahman* family of Magadh On becoming adult he became a forest dwelling monk Later he met Buddha, had a discussion and joined the *Sangha* (Monk organisation), he became *Arhat* in the end Besides him is also available in Buddhist tradition a mention of Mettagu Ther, a disciple or Bavari However, it is difficult to say if Mettai and Mattagu Ther had any connection with Metejja Bhayali

Besides this, another mention of one Mettiya Ther is also available This Mettiya Ther was also supposed to be the leader of the *Chhabbagiya* monks Buddhist tradition also mentions about a Metteya who is believed to be the Ajit Buddha of the future fifth *Kalpa* He has been mentioned in the *Anagat-vamsh* of *Mahavamsh Suttanipata*[148] also has one Arhat Metteya who was a friend of Tissa But it is difficult to state as to what connection Metejja Bhayali of Rishibhashit had with Metteya of Buddhist tradition Buddhist tradition also mentions one Bhaddali Ther Although there is literal similarity between Bhagali and Bhaddali, it is difficult to establish any similarity between the two

14 BAHUK

The fourteenth chapter of Rishibhashit[149] contains compilation of the preachings of Bahuk Besides Rishibhashit Bahuk has also been

mentioned in *Sutrakritang*,[150] *Sutrakritang-churni*,[151] and commentary on *Sutrakritang* written by Sheelankacharya [152] However, we do not get any information about the life history of Bahuk in all these works Sutrakritang mentions Bahuk alongwith other Rishis like Nami, Narayan, Asit-deval, Dvaipayan, and Parashar It says that, recognised in preachings of Arhat, this Bahuk Rishi attained liberation inspite of drinking water infested with living organisms *Sutrakritang-churni* clearly states that his mention is found in Rishibhashit and that he attained liberation inspite of living in jungles and consuming vegetables, seeds, and cold water This confirms that the Bahuks mentioned in Rishibhashit and *Sutrakritang* are same But non of these works detail his life history

Rishimandal-vritti is also silent about his life, as such nothing much can be said about his life history According to *Sthanang-sutra,* the tenth chapter of *Prashnavyakaran-dasha* was about Bahu Although the available editions of *Prashnavyakaran*-dasha do not contain these chapters, I have explained in one of my articles elsewhere that this chapter must have been a part of the oldest edition of *Prashnavyakaran* and it must have contained the preachings of Bahuk

The central theme of the preachings of Bahuk in Rishibhashit is that if correct information is presented with incorrect thoughts, it is not authentic, infact the meaning of this statement is that if view point or thought process is impure, the evident activity, even though it appears ethical, would be considered as unethical In this chapter, emphasizing detachmant, it has been shown that the detached practices alone lead to liberation All ascetic practices done with attachment lead to hell As such Bahuk appears to be a propagater of the path of detachment

The name of Bahuk does not appear anywhere in the Buddhist tradition,[153] however there are mentions of Bahik and Bahi It is difficult to surmise if these Bahi & Bahik are same as Bahuk of Rishibhashit In the Buddhist tradition the only information available is that they were disciples of Buddha, as such it is all the more difficult to give any conclusive comment about them

As regards *Vedic* tradition[154] a *Rishi* named Bahuvrakta is mentioned He is believed to have written some aphorisms in *Rigveda* But it is hard to find some connection with Bahuk of Rishibhashit *Mahabharat*[155] also mentions Bahuk There he has been stated to be a warrior of the *Vrishni* clan Also in *Mahabharat,* the name of the father of king Sagar is mentioned as Bahuk King Nala was also known by the

name Bahuk But none of these mentions indicate that these names had any connection with the Bahuk mentioned in Rishibhashit This matter is subject to further investigation and scholars should do some efforts in this direction

15. MADHURAYAN

Madhurayan Arhat Rishi is the preacher of the 15th chapter of Rishibhashit[156] He has not been mentioned anywhere else in Jain or Buddhist traditions As such it is difficult to give any comment about his life and personality

In this chapter many words have been used in some special context and meaning As long as those words are not clearly understood the preachings of Madhurayan cannot be properly apprehended In the context of the meaning of this chapter neither the Sanskrit commentators are clear nor the Hindi translation, based on these, by Manohar Muni is any clearer The Hindi and English translations in this edition are also not without doubts Although Schubring in his notes and Manohar Muni in his explanations have done efforts to clarify the meanings, they have also accepted that the subject in the chapter is not clear.

In my view some particular words will have to be understood in order to elaborate the subject of this chapter The three words that require an elaborate explanation are *'Sata-dukkha'*, *'Asata-Dukkha'* and *'Santam'*, As far as *'Sata-dukkha'* is concerned, everyone including the Sanskrit commentator, has accepted that it means woe *(dukkha)* born out of pleasure *(sukha)* Here *sukha* should mean the desire for pleasure So the meaning of *Sata-dukkha* is the woe born out of the desire for pleasure A person who has craving for mundane pleasures can be termed as the one plagued with *Sata-dukkha* In other words the craving for pleasure itself is *Sata-dukkha*

Asata-dukkha is opposite of this, that is the suffering which naturaly comes because of being desireless With this meaning of *Sata-dukkha* the answer to the first question of the chapter becomes clear The question is who attracts *dukkha* (affliction, which here means the bondage of Karma), the one who is plagued with woes born out of the desire for wordly pleasures, or he who suffers sorrows desirelessly The answer is He who is mad after the lust for wordly pleasures attracts affliction. One who remains desireless, even inspite of being surrounded with natural sufferings does not attract afflictions or does not enter into bondage of *Karma* In fact, the desire for pleasure is the invitation to woe

A person who suffers because of desire for pleasure ends up in the bonadge of *Karma* He who suffers due to painful circumstances does not attract *Karma* bondage Thus Madhurayana finds the roots of afflictions in the mundane desires

The word *Santam* does not mean peaceful *(Shant)* here, it has been used to mean existence *'Santam dukkhi'* here means being woeful And being woeful here only means to be full of desires Thus the meaning of *"Santam dukkhi dukkham udeerei"* would be that by being woeful alone afflictions are invited That means only a person with desires triggers woes Similarly, *'No, asantam dukkhi dukkham uderai'* means that by not being woeful by pain, afflicitions are not invited. That means a person without desires does not trigger woes

After this, this chapter mainly propagates that sin is the chief cause of non-liberation and continued rebirth On the basis of this, it has been deduced that as sprouting of a plant is natural consequence of the existence of seed, woes are natural consequence of existence of sin In the end it has been established that soul is the doer of all deeds and sufferer of all consequences As such, a mendicant should abandon the path of sin for the benefit of his own soul As a snake charmer destroys the poison pouch of a snake, a mendicant should destroy roots of woes In Madhurayan's view the root of woe is the desire for pleasure (mundane pleasures) and as such a mendicant should be free of desire for mundane pleasures

On a comparative srudy we find that the subject matter of this chapter is in line with the subject matter of other chapters of Rishibhashit. This 15th chapter is similar to the 9th chapter in subject matter This fact has also been accepted by the author of this work by stating *"Navam ajjhayanagamarannam vaneyavvam"*

In absence of any information about him elsewhere in Buddhist and *Vedic* traditions it is not possible to present a comparative study about Madhurayana

16. SHAURYAYANA (SORIYAYANA)

The 16th chapter of Rishibhashit[157] is about the Arhat Rishi named Shauryayan, (Soriyayana) Besides Rishibhashit Soriya has been mentioned in *Sthanang*[158] and *Vipak-Sutra*[159]

In *Vipak-Sutra* he has been mentioned as Soriyadatta According to *Sthanang*, the title of the seventh chapter of *Karmavipak-dasha* is Soriya,

but in the available edition of *Vipak-Sutra* mention of Soriyadatta is found in the eighth chapter In this chapter he is said to be the son of a fisherman, Samudradatta, of Soriyapur town As the story goes, once a fish bone stuck into his throat All efforts to take it out were in vain and he had to suffer extreme agony

Some relation between Soriyadatta of this chapter of *Vipak-Sutra* with Soriyayana of Rishibhashit can be established on the basis that Soriyayana, in his preachings, has mainly preached not to indulge in pleasures of the senses Same thing has been stated in the *Vipak-Sutra* in a little different way, that involving himself in fulfilment of needs of the senses, a being suffers anguish

In this chapter, clarifying the influence of physical senses, it has been stated that getting the means of satiation of the five senses (sound, sight, smell, taste and touch) one should not become attached, desirous, or greedy These unsatiable physical senses are the cause of continued rebirth One should neither get attached to the desired things nor get vexed at the undesired things He who gets attached to the desired things or gets vexed at undesired things, enters bondage of evil *Karma*

In the Buddhist tradition[160] Soriya has been refered to as Soreyya There he is said to be a merchant's son However, there hardly appears to be anything common between Soriya of Jain tradition and Soreyya of Buddhist tradition In the *Vedic* tradition[161] we find a Shauri, son of Shoorsen, in *Dron-parva* 144/7 He is said to be related to Vasudev, who is said to be the father of Krishna Still it is difficult to say that Soriyayana of Rishibhashit, Soreyya of Pali literature and Shauri of *Mahabharat* are one person, or different persons On the basis of their names it can be accepted that they may have been connected with the geographic area-Shoorsen In the list of *Acharyas* in *Brihadaranyak-opanishad*[162] a disciple of Kashayan is mentioned as Sokarayan It is possible that this transformed to Soriyayan in prakrit

17. VIDUR

The seventeenth chapter of Rishibhashit[163] contains discourse of Vidu (Vidur) Rishibhashit has mentioned him as Arhat Rishi In Jain literature mention of Vidur is also available in *Jnata-dharma-katha*[164] There only his name has been listed along with Arjun, Bhimsen, Nakul, Sahdev, Duryodhan, Gangeya and others Besides this there is no other mention of Vidur in the canonical literature

In this chapter, regarding his preachings, the first thing stated is that the knowledge that provides deliverence from all sorrows alone can be termed as the best knowledge or the supreme knowledge Subsequently it has been stated that the knowledge that makes one comprehend about the reincarnations, past and future, bondage and liberation, and revealation of the self is the knowledge that liberates from sorrows This statement of Vidur is akin to the *Upanishadic* statement- *"Sa vidya ya Vimuktaye"*, "that is knowledge which liberates "

It has also been stated that as all knowledge about disease, its diagnosis, and medicine is essential for its treatment, knowledge is essential for liberation With all this, particular emphasis has been given on study and meditation in this chapter Also that an ascetic with disciplined senses should, after alround comprehension of mundane life and indulgence in studies and meditation, abandon attachment and indulge in detached activities All activities, considering them to be characterless activities, should he abandoned One who acts thus becomes all pervading, omniscient, and liberated

Thus this chapter mainly stresses first on study, meditation, and right knowledge and then steers towards Ahimsa-attitude and conduct, getting away from attachment

Besides Jain tradition Buddhist tradition[165] also mentions Vidhur (Vidur) However, there is no similarity between the Buddhist story of Vidhur with those of Vidur in Jain and Vedic traditions In the Buddhist tradition he is believed to be one of the two prominent disciples of Kakusandha Buddha According to *Milindaprashna* Vidhur was a name of *Bodhisatva* in one of his reincarnations As such it is difficult to find any similarity to the Vidur of Jain tradition, in these stories about Vidhur from Buddhist tradition

In Vedic tradition and specially in the *Mahabharat* Vidur has been mentioned in details He is said to be son of Vyas and a maid named Ambika As such he was a son of a *Brahman* from a *Shudra* mother. Details about him are mentioned in *Adiparva* and *Sabhaparva* of *Mahabharat* His preachings have been compiled in the *Streeparva* of *Mahabharat*[166] On properly studying these preachings it becomes evident that although there is no literal similarity in ideas these are very similar to the preachings in Rishibhashit On this basis we can infer that Vidur of *Mahabharat* and Vidur of Rishibhashit must have been the same person

18 VAIRISHENA KRISHNA

The 18th chapter of Rishibhashit[167] is about the discourse of Varishena Krishna (Varisava Kanha) Besides Rishibhashit Varishen has also been mentioned in *Sthanang*[168] In *Samvayang*[169] the four *Jin* idols mentioned are Rishabha, Mahavir, Chandranan, and Varishena, Chandranan and Varishena are said to be the first and last *Teerthankars* of *Airavata* sector Besides this, in *Sthanang* a branch of the *Kashyap* clan has been named as *'Variskanha'* In *Antkritdasha*[170] Varishen is said to be a *Antkrit Rishi* and son of Vasudev

All this at least confirms that he was a Rishi contemporary to Krishna and Arishtanemi The second syllable *'Kanha'* *(Krishna)* of his name in Rishibhashit calls for a further study Being the son of Vasudev is he not Krishna himself ?

In this chapter it is stated that one who indulges in the prohibited or evil activities, from violence to possessiveness and passions to illusions, begets amputation of limbs He who does not indulge in these begets omniscience (The imputation of limbs is also refered to in 9th and 15th chapter of Rishibhashit) In conclusion it is stated that as bird pierces a fruit, enemy divides the state, and lotus leaf is uneffected by water, the seeker should pierce and destroy the fruit of *karma* and remain uneffected by evil *karma*,

In the *Bhishmparva* of *Mahabharat*[171] one of names of Krishna is said to be Varshneya He is called Varshneya because he belonged to the *Vrishni* clan In *Upanishads* and *Brahmans*[172] as well, people belonging to the *Vrishni* clan have been mentioned as *varshneya* or *varshnya* The Prakrit form of *vrishni* is *vanhi* and that of *Varishen* is *Varisava* and there is a possibility that the Sanskrit form of *varis* may be *vrishni*

However, all this confirms that he was an ascetic contemporary of Arishtanemi In Pali literature, *Ambatthsutta* of *Deeghnikaya* mentions one Krishna *Rishi* suggesting that Ambattha was a follower of his tradition Similarly in *Aupapatic sutra* a branch of Brahman mendicants is named Kanha It is possible that Varisava Kanha was the founder of this branch In *Aupapatik* another branch of Brahman mendicants is named Deevayan Kanha (Dvaipayan Krishna) As such the former must have been connected with Varisava Kanha only

19. ARIYAYAN

The nineteenth chapter of Rishibhashit[173] is about the *Arhat Rishi* named Ariyayan Besides Rishibhashit Ariyayan has not been mentioned anywhere else Buddhist and Vedic traditions are also silent about him As such nothing conclusive can be said about his personality and history

This chapter states that in the begining only *Aryas* existed Consequently, as preachings, it states that *non-Aryan* thought, activities and friends should be curbed, because indulging in them leads to continued rebirths in this world As against this, one who has *Arya* thoughts, activities, and friends attains *Aryatva (Aryahood)* In the end it states that *Arya*-perception, *Arya*-knowledge, and *Arya*-conduct are right and should be followed

Besides this brief discourse, nothing more is available about Ariyayan

20. UTKAT (BHAUTIKWADI)

The title of the twentieth chapter of Rishibhashit[174] is *Utkal* or *Utkat* There is no mention about any author of this chapter Although, at the end of the chapter, like other chapters in the book, the stock phrase, has been mentioned, it has hardly any relevence to the preceding statements The stock statement has been given in persuance with the style of all other chapters In fact as this chapter contains the propagation of *Bhautikvadi* (materialistic) principles there is no mention of any *Rishi* as its preacher

This chapter classifies five types of *Utkat Dandotkat, Rajjootkat, Stenotkat, Deshotkat* and *Sarvotkat* In this context, first of all the meaning of the word *utkat* should be understood Although the word *utkat* has a variety of meanings, it would be best here to take the meaning as agitated or confused One of the meanings of *utkat* is intoxication also Infact the materialistic lifestyle was opposed to the spiritual life style and as such it was called *utkat* This is also possible that the spiritualists gave the name 'agitated' *(utkat)* to the believers of materialism The materialists consumed wines etc and did not consider that to be wrong, that may also be one of the reasons Another possibility is that the original Prakrit word *ukkal* may be the *utkul* of Sanskrit, which means a degraded or despicable family If we take it as *utkool* it means that which flows beyond bank or breaking the banks, this indicates that

those people who propagated ideas opposing to the spiritual thinking were called *utkool*

In this translation the use of the form *utkal* does not appear to be appropriate to me, it should have been *utkat*, *utkul*, or *utkool* The five types of *utkal* refered to in this chapter are in fact the view points that used to propagate rhe materialistic doctrines through typical examples *Dandotkat* are those who use *dand* (staff)) as an example and propagate that as the begining, middle, and end parts of a staff can not remain in seperate existence, it is a united whole, there is no entity of soul seperate from body

Rajjootkat are those who use *Rajju* (fibre) as an example and propagate that as a rope is a conflagration of many different fibres, a living being too is a conflagration of five fundamentals and disintegrates with the disintegration of these constituents

Stenotkat are those who re-interpret the examples of other scriptures and confirm their own beliefs They are intolerant of other doctrines and continue to deny them by misinterpretation May be, at some later period, *Anekantvad* (non-absolutism) developed in the *Nirgranth* (Jain) tradition as an opposition to this *Stenotkatvad* This is because those who maintain that their statement is the only truth are said to be the antithesis of compassion towards others

Deshotkat are those who accept the existence of soul but maintain it not to be the doer In fact, this non-activity of soul eliminates the basis of defining concepts like good or bad deeds, bondage etc Due to this partial acceptance of materialism the are called *Deshotkat*

Similarly *Sarvotkat* are those who deny the existence of fundamentals and through vaccuum accept the origin of all creation They believe that there is no fundamental that continues to exist every where at all times Thus they propagate nihilism and that is why they are called *Sarvotkat* This must have been the basis of non-existentialism

Detailing these five types of *utkat* or materialists and giving brief details of principles of materialism the soul as an entity seperate from body has been denied It has been stated that after destruction the body is not created again, that is, their is no rebirth This life is the only life, there is no other world, there is no fruit of good or bad deeds, there is no rebirth and their is nothing like good or evil deed The body between

head and toe is the living being or soul As burnt seeds do not sprout, a destroyed body is not created again

Thus this chapter presents pure materialistic theory which is also known as the Charvak philosophy in Indian philosophies Mention of this type of materialistic doctrines is available in details in ancient Jain, Buddhist, and Vedic literature The thoughts propagated in this chapter are available in *Sutrakritang*[175] and *Rajprashniya*[176] also Similarly Buddhist tradition also has parallel theories in *Payasi-sutta*[177] As such, this chapter can be taken as representative of prevailent materialistic ideas of that period *Samvayang*[178] mentions about 44 chapters of Rishibhashit If is possible that this chapter may be a later addition to Rishibhashit, because this is the only chapter out of place with the other 44 chapters uniformly propagating spiritualistic ideas The use of the term *utkat* for materialists is its originality Also the five classifications *Dandotkat, Rajjootkat, Snetotkat, Deshotkat* and *Sarvotkat*, are not available anywhere else, making it a speciality of Rishibhashit The classifications like *dehatmavadi, paramatmavadi, manoatmavadi* etc, available in various works of Indian philosophy are different than those of Rishibhashit

21. GATHAPATIPUTRA TARUN

The 21st chaptero f Rishibhashit[179] contains the discours of Gatha–patiputra Tarun Besides Rishibhashit, his mention can not be found anywhere else in Jain, Vedic, or Buddhist traditions His basic teaching in Rishibhashit is propagation of the path of knowledge According to him ignorance is the ultimate anguish

That again is the cause of fear This world is the end product of this void of knowledge, in other words the living continues to be reborn in this world because of absence of knowledge, or ignorance He states about himself, "Earlier I did not know, perceive, or comprehend due to ignorance, but now, due to knowledge, I know 'percieve', and compreh-and, in the past, due to ignorance, I indulged in many immoral and unethical deeds under influence of passions, but now, having knowledge, I shall bring all the sorrows to an end and obtain the permanent and eternal abode, which is liberation

Giving examples it has been shown in this chapter that because of ignorance how deer, bird, or elephant are caught in trap, how the fish swallow a bait, and how the moth burn themselves kissing a flame Because of ignorance alone an aged lion jumps in water to fight its reflection, and ends its own life Similarly mother Subhadra consumes her own son Supriya due to ignorance

Showing the sad consequences of ignorance the discourse guides towards the path of knowledge and states that it is because of knowledge that the arts such as tracing, refining and formulating medicines are made possible These statements indicate that Gathapatiputra Tarun must have been a Rishi of the tradition of the path of knowledge However, in absence of any information about him in Jain, Vedic, or Buddhist traditions, nothing much can be said about him The story of the old lion and his reflection in water is also available in *Panchtantra*,[180] this confirms the antiquity of both *Panchtantra* and Rishibhashit

22. GARDABHAL (DAGBHAL)

The 22hd chapter of Rishibhashit[181] is concerning Gardabhal Rishi Regarding his personality, we find a mention in *Uttaradhyayan Sutra*[182] also, besides Rishibhashit Here he has been mentioned as teacher or *Acharya* of Sanjay and also as *Bhagvan* and *Vidya-Charan-Paraga*, this shows his importance *Uttardhyayan-sutra* thus confirms that Sanjay and Gardabhal of Rishibhashit were historical persons In Jain tradition there is also mention of a king Gardabhill of Avanti who was a contemporary of Acharya Kalak and who kidnapped Kalak's sister, Saraswati (a nun) But this Gardabhill is a different person, not the Gardabhal of Rishibhashit There is not a trace of doubt that *Rishi* Gardabhal of Rishibhashit and *Acharya* Gardabhal of *Uttaradhyayan* are one and the same person

As regards his preachings detailed in Rishibhashit are concerned, he first states that *karma* are infested with *himsa* (violence), but the enlightened are free of *himsa*, and as such, like a lotus leaf in pond, they are not infested with *Karma* particles After this the complete chapter is full of prominence of male and condemnation of female Supporting the prominence of male it has been stated that all religions (*Dharma*) begin with man, and have man as supreme, elder, supporter, illuminater, coordinator, and focus As an ulcer is dependent on body, ant-hill on earth, lotus on water, and fire on wood, religion is dependent on man

It is worth mentioning that the Sanskrit Commentator of Rishibhashit, Schubring as well as this translation of Rishibhashit have indicated the meaning of *Dharma*, here, as *Gramya Dharma*, which means religion of mundane passions But in my opinion, *Dharma* here carries its popular meaning of religious traditions, religious sects or religion In Jainism, of the ten *Kalpa* (religious texts), *purush* (man) is the senior *kalpa* which maintains that in context of religious organisation man is all

important and a nun with a seniority of one hundred years has to bow before a freshly inducted monk Thus it has propagated seniority of man over woman This system of male superiority was also accepted by Buddha in his organisation As such the word Dharma here should be understood to mean religion or religious organisation and not the mundane duties, on the style of *Acharanga*

In the initial couplets of this chapter the condemnation of woman also indicates that supremacy of male over female, in context of religious organisation, was an established fact Condemning woman, it has been stated that those villages and towns which are ruled by women should be depricated Similarly those individuals who are governed by women should be lampooned Woman is like a golden cave inhabited by lion, a poisonous garland, and a river full of whirlpools She is like a wine that intoxicates The Villages and towns, where women dominate and are free like untethered horse, are despicable like dancing in a condolence meeting

This confirms that Gardabhil Rishi was a propagater of male prominence and dominence However, there is an isolated couplet in this chapter which praises woman It conveys that woman is like a panegyric of a good family, sweet water, a fully blossomed lotus flower, a *malati* creeper with a snake, But even here she has been condemned in the end with the statement *'malati* creeper with snake'

Towards the end of this chapter detailing the causes of bondage, the path of meditation has been recommended He states at the end that as body thrives due to mind, as a tree thrives due to roots, all the mendicants thrive on meditation The decorations endowed on Gardabhil in *Uttaradhyayan* confirm his being connected with meditational tradition He has been called as *Tapodhan* (proficient in ascetic practices), an adherent to religious practices comprising of studies and meditation

On a comperative study we find that Gardabhill has not been mentioned anywhere in Buddhist tradition But in Vedic tradition we find a mention of an *acharya* named Gardabhi or Vibhit, contemporary of Janak, in *Brihadaranyak Upanishad*[183] However in absence of any conclusive proof it is difficult to confirm if Gardabhi-Vibhit of *Brihadaranyak Upanishad* and Dagbhal-Gaddabhal of Rishibhashit are same

In the *Anushasanparva* of *Mahabharat*[184] there is a mention of a *Brahmavadi* (believer in *Brahma*) son of Vishwamitra, named Gaardabhi Here he has been mentioned as a *Brahmavadi* and great *Rishi* This

indicates that he was a prominent *Rishi* of that age To me, his being son of Vishwamitra appears to be wrong Because not only him but Gargi, Yajnavalkya, Narad, Kapil etc also are said to be Vishwamitra's sons, which does not appear to be true The only possibility is that he was one of the line of Vishwamitra's disciples However, one thing can certainly be infered, or Gardabhill or Gardabhi was a historic Rishi and possibly of the *Upanishadic* period

23. RAMAPUTTA

The 23rd chapter of Rishibhashit[185] contains the compilation of the preachings of Ramaputta. His mention is also available in *Sutrakritang*,[186] *Sthanang*,[187] and *Anuttaropapatik*[188] In *Sutrakritang*[189] he has been mentioned alongwith Asit Deval, Nami, Narayana, Bahuk, Dvaipayan, Parashar, etc He has been said to be accepted in the discourses of *Nirgranths* (*Iha sammata*) and is supposed to have attained liberation inspite of eating food etc It should be known that in some printed editions of *Sutrakritang* and commentary by Sheelank, his name has been mentioned as Ramagutta, which is not correct Rama-utte, mentioned in *Sutrakritang-churni* is correct and its Sanskrit transliteration is Ramaputra The proof of this has been mentioned in details in an article by me and Prof M A Dhaki in the Pt Bechardas Doshi memorial publication

Besides *Sutrakritang*, according to the information available in *Sthanang* also, there was a chapter titled Ramputta in ancient editions of *Antakritdasha*, which is not available in the current editions of *Antakritdasha* It is possible that this chapter contained life and works of Ramaputta Also the sixth chapter of third part of *Anuttaropapatik* is about Ramaputta Here he is said to be a contemporary of Mahavir and inhabitant of Saket Besides these two facts, authenticity of other information in this source is not impeccable *Sutrakritang* and Rishibhashit both conclusively indicate that Ramaputta did not originally belong to the *Nirgranth* tradition, still he was given a respectable place there

We find mention of Ramaputta in Buddhist tradition also According to the information available in *Pali Tripatak*[190] his full name was Uddak Ramaputta and he was older than Buddha In the begining Buddha took training of meditational practices from Ramaputta, and when he attained omniscience he wanted to go and preach him, knowing his potential But it was too late, as Ramaputta had died by then Thus he was an elder

contemporary of Buddha and Mahavir *Pali Tripitak* also conveys that he had his own peculiar style of yoga practices as well as a respectable number of followers Buddha respected him

The preachings of Ramaputta in this chapter are in prose First of all it mentions about two types of death, one is the pleasant death (death within meditation) and the other is the unpleasant death (death out of meditation) It has also been explained here that in order to get liberation from the mundane bondages one should practice *Jnana* (knowledge), *Darshan* (perception), and *Charitra* (conduct) A mendicant should comprehend through *Jnana*, percieve through *Darshan*, and discipline through conduct, and disintegrate the microparticles of Karma through ascetic practices

A developed form of this school of thought can be seen in an ancient canon like *Uttaradhyayan* sutra In the fifth chapter of *Uttaradhyayan* the two types of death have been explained in details The 28th chapter states about knowing through *Jnana*, believing through *Darshan*, accepting through conduct, and cleaning through ascetic practices *Uttardhyayan* also says about shedding of Karmic particles through ascetic practices But still the text of Rishibhashit is older than *Uttaradhyayan* This is because the language and style of Rishibhashit is older than *Uttardhyayan* For *'Dasanena Saddahe'* it mentions *'Dasanaina pasitta'* which is of older style, because the transformation of meaning of *Darshan* from perception to faith is a much later incident in Jain tradition Also it appears that the prevailing conception of eight classifications of Karma must have had its origin in theories of Ramaputta All this goes to prove that Ramaputta was a revered Acharya of *Sraman* tradition, senior to Mahavir and Buddha Also, that Ramaputta of Rishibhashit, *Sutrakritang* and *Pali Tripitak* are one person He has also been named as Uddak Ramaputta

24. HARIGIRI

The twentyfourth chapter of Rishibhashit[191] contains the preachings of Harigiri We do not find any information about Harigiri from any source other than Rishibhashit As such it is difficult to say much about his personality As regards his preachings, the first thing he says is that earlier all was *Bhavya* (decided or preordained) but now every thing is *Abhavya* (undecided or not pre-ordained) The meaning of this statement is that as long as an individual is ignorant (illusioned) his present is dependent on bondage of the earlier (previous life) karma or decided or

pre-ordained But on getting knowledge he becomes the maker of his destiny and so his future depends on his endeavour or is undecided or not pre-ordained Or in other words, past is the maker of our present but we ourselves are also the makers of our future As such the past is *Bhavya* (pre-ordained) and future is *Abhavya* (not pre-ordained) Infact, his preaching is that the present is dependent on the past and pre-ordained but the future can be made through endeavour and knowledge As such the future of a proficient mendicant is not pre-ordained or is *Abhavya* In fact this matter of pre-ordained and not pre-ordained is connected with the Karma principle According to the Karma principle our present is result of our Karma in the past, but we can become the moulders of our future This capacity of being or not the moulder of the future has been discussed in this chapter.

The Karma principle and its importance has been detailed in this chapter Which is similar to other chapters After detailing the Karma principle, attachment or ignorance have been discussed as the root causes of bondage of karma It has been explained that how under the influence of attachment a person enters the bondage of Karma In this context it has also been explained that an individual enters the bondage and can come out of it on his own As such an ascetic should properly understand the complex nature of cycle of Karma and transcend through meditation in order to be free from the bondage of Karma

Thus we see that the thoughts of Harigiri compiled in Rishibhashit deal elaborately with the consequences of attachment with reference to proper and organised human endeavour and Karma principle But all these facts have been explained in the preachings of other *Rishis* in a similar fashion As such, it is difficult to say that Harigiri had some original line of thinking. We can only state that he presented the Karma principle as an assimilation of *Niyativad* and *Purusharthvad*

There is a mention of Harit-ther in the Buddhist tradition[192] But it is difficult to conclude that this Harit-ther and Harigiri of Rishibhashit are same Although he has been said to be an Arhat and a proficient ascetic, in absence of details, nothing can be said conclusively Besides Buddhist tradition, the lineage of *Acharyas* given in *Brihadaranyak-upanishad*[193] mentions one Harit Kashyap, a disciple of Kashyap I feel that there is a probability of Harit Rishi of *Brihadaranyak-Upanishad* being Harigiri of Rishibhashit But in absence of conclusive proof it is difficult to accept this statement also.

25. AMBAD PARIVRAJAK

The twentyfifth chapter of Rishibhashit[194] is about Ambad Parivrajak In Jain canonical literature his mention can be found, besides Rishibhashit, in *Samvayang*,[195] *Bhagwati*,[196] *Aupapatik*,[197] and *Sthanang*,[198] also In *Samvayang* he is believed to be a future *teerthankar* in the next time cycle (ascending) According to *Bhagwati-sutra* he was a *parivrajak* living in Sravasti town The incident of Ambad Sanyasi accepting *Sravak Dharma* (Jain religion) after a dialogue with Mahavir is narrated in *Bhagwati* and *Aupapatik sutras* This indicates that inspite of having faith in Mahavir's religion he maintained his independent tradition

Aupapatik also conveys that a branch of *Brahman Parivrajaks* carried his name This branch probably continued till the present edition of *Aupapatik* was concluded, which was around 4th-5th century A D. Similarly according to *Sthanang* the tenth chapter of *Antakritdasha* was about Ambad Parivrajak However, this chapter is not found in the present edition of *Antakritdasha* *Aupapatik* has also described in details the system of conduct of Ambad and other *Brahman Parivrajaks* However, complete analysis of all that is not possible here, due to lack of space

Aupapatik narrates in details the incident of how Ambad Parivrajak and his disciples courted death, accepting the vow of *Sallekhana* (fast till death) in a forest on the banks of the Ganges while they were on their way to Purimtaal town It was during summer, on sand, and was done following their discipline of not taking water without being offered by someone For a comparative study this narration is important and presents a vivid picture of the conduct followed by the tradition of Amdad Parivrajak In the Jain canonical literature Ambad has been mentioned everywhere with due reverence

In Buddhist tradition[199] we find a mention of Ambatth Manavak According to the Buddhist tradition Ambatth was a disciple of Brahman Poshkar Saati He had a debate with Bhagvan Buddha on the subject of superiority of Brahmans Whereas Ambatth accused the *Shakyas* of belonging to lower caste, other people demeaned Ambatth by calling him son of a slave woman In conclusion of this discussion Buddha asserts the importance of conduct in the formulation of the caste system In this narration the point worth considering is that Ambatth has been addressed as *Krishnayan* or belonging to the lineage of Krishna Rishi As is known, a school of *Brahman Parivrajaks* is named Kanha according to Aupapatik It is a possibility that the Krishna Rishi mentioned in *Ambatth-sutta* was Varisava Kanha of Rishibhashit.

As far as the Vedic tradition[200] is concerned, the term Ambashtha has been mentioned as a particular clan-name which originated with Brahman father and *Vaishya* mother In Buddhist tradition this name is used for the clan originating from *Kshatriya* father and *Shoodra* mother. As regards the mention of Ambad or Ambashtha as a *Rishi*, both Vedic and Buddhist traditions do not provide any information

The chapter of Rishibhashit titled Ambad also mentions Yogandharayan Rishi In the Jain tradition, besides Rishibhashit *Avashyak-churni* [201] also provides details about him *Avashyak-churni* states him to be a minister of king Udayan As such Ambad and Yogandharayan were certainly contemporaries of Mahavir

26. MAATANG

The twentysixth chapter of Rishibhashit[202] contains the collection of preachings of the *Arhat-rishi* named Maatang In Jain tradition besides Rishibhashit there is no mention of Maatang anywhere Although *Avashyak* mentions about a Maatang *Yaksha*, it is difficult to connect him with Maatang of Rishibhashit in any way In this chapter of Rishibhashit first of all the attributes of a true *Brahman* have been stated These attributes are similar to those mentioned in the twentyfifth chapter of *Uttaradhyayan*[203], as well as the *Brahman* section of *Dhammapad*[204] However, here these attributes have been briefly mentioned only in six couplets, whereas in *Dhammapad* and *Uttaradhyayan* comparatively more detail is available Even than, besides a difference in language there is hardly any difference in the subject matter

Besides this, this chapter also discusses spiritual-cultivation (*Adhyatmic Krishi*) This subject is also available in the thirtysecond chapter of Rishibhashit, titled *Pingiya*, and the *Kasi-Bhardwaj-sutta* of the Buddhist work *Suttanipat*[205] At the end of this chapter it has been mentioned that he who indulges in such cultivation that involves compassion towards all beings, attains purity, be he *Bhrahman*, *Kshatriya*, *Vaishya*, or a *Shudra* It should be recalled that the fourth couplet of thirty-second chapter titled Pingiya is same, verbatim

Besides Jain tradition Buddhist tradition also mentions Maatang In Buddhist literature Maatang has been stated as a *Pratyeka Buddha* and resident of Rajgriha According to *Maatang Jatak*[206] he was born in a *chandal* (a lower cast Hindu) family and he stripped the *Brahmans* of their bloated pride The true image of a *Brahman* conveyed in his preachings in Rishibhashit also indicates that he rejected the supremacy

of *Brahman* caste on the basis of birth The word *Maatang* indicates chandal caste It is worth mentioning that the *Maatang Jatak tale* of Buddhist tradition is similar to the 12th chapter of *Uttaradhyayan*[207] titled Harkeshi

In Brahman tradition we find mentions of Maatang Rishi in *Mahabharat*[208] also The preachings of Maatang Muni in *Mahabharat* basically convey that a brave person should always continue his endeavours. He should not bow before any one, because to work is the duty of man The brave may perish under blows of adverse predicament but they would never bow down When we compare this message of Maatang with the preachings in Rishibhashit, one similarity becomes evident that both direct an individual to follow the conduct as per his family tradition In Rishibhashit Maatang expresses astonishment at *Brahmans* becoming warriors, and rulers and traders indulging in relgious rituals He considers such acts to be blind acts This chapter mainly conveys that *Brahman* should neither wear a bow nor ride a chariot or carry other armaments True *Brahman* should neither resort to falsehood nor stealing

All this information leads us to the conclusion that Maatang was an important pre-Mahavir and Buddha Rishi, born in lower caste and propagated spirtualism His preachings were accepted with reverence by all the three traditions, Jain, Buddhist and Vedic

27. VARATTAKA

The 27th chapter of Rishibhashit[209] compiles the preachings of Arhat Rishi named Varattaka In Jain tradition, besides Rishibhashit, *Avashyakchurni*,[210] *Nisheeth-Bhashya*,[211] *Vrihatkalp-bhashya*,[212] *Haribhadra* commentary of *Avashyak*[213] etc also mention him The ninth chapter of the sixth section of the available edition of *Antkritdasha* is about Varattaka Here he is said to be a trader of Rajagriha city who accepted monkhood through Mahavir and got Nirvana on Vipul mountain But in *Avashyak-churni*, *Nisheeth-bhashya*, and *Vrihatkalpa-bhashya* he is said to be a minister of king Abhayasen of Varattapur town According to *Avashyak-churni* he was inducted into monkhood by Acharya Dharmaghosh

Besides *Avashyak-churni* the story of Varattak is also available in *Rishimandal-vritti* According to this story, during his monk life he did a forecast which resulted in the victory of king Dhundhumar of Sunsumar city, over Chanda Pradyot Knowing the cause of Dhundhumar's victory,

Chanda Pradyot addressed Varattaka as *Naimitik-Muni* (a forcasting monk). Knowing the folly of his unbridled utterings, Varattaka devoted himself to repentful meditation and attained *moksha* How true is this story is hard to tell, but these details about Varattaka indicate that he must have been an important Rishi

This chapter contains, in form of preachings of Varattaka Rishi, an outline of what an ideal *sraman* should be like. According to this a monk should be averse to the contacts with worldly people or house-holders At the same time, leaving ties of affection, he should pursue the path of liberation by keeping away from mental abberations and indulging in studies Entertainment of house-holders by reading dreams, predictions, satisfying vain curiosities etc , accepting and utlising charity , joining the marraige and other cerimonial rituals of disciples , accompanying rulers in war, all such acts, done for mundane pleasures and attracting disciples and followers, are against the conduct of a monk. A *sraman* who tolerates pleasure and pain by becoming poor and religious and does not abandon his goal, becomes victor of senses, detached and is not reborn

These preachings of Varattaka, with slight verbal variations, are found also in the *Sabhikshu* and *Paap-sraman* chapters of *Uttaradhyayan*. However, there the names of the preachers are not clear. In Buddhist tradition there is a mention of a Varana—ther[214] who became a monk influenced by the preachings of some jungle dwelling monk However, it is difficult to connect him in any way to Varattaka We do not find any reference of Varattaka in Vedic tradition As such it is difficult to infer any thing about him on the basis of sources other than Jain and Buddhist

28. AARDRAK

The twentyeighth chapter of Rishibhashit[215] is about Aardrak Available Prakrit forms of Aardrak are *Adda-a* and *Addag* However, we should remember that Rishibhashit contains details of two monks with similar names-Aardrak and Uddalak In Prakrit Uddalak is called Uddalava, as such a note should be taken of the variation in the Sanskrit forms of these two names.

Besides Rishibhashit, we find mention of Aardrak also in *Sutra-kritang,*[216] *Sutrakritang-niryukti*[217] and *Sutrakritang-churni*[218] In *Avashyak*[219] also, he has been mentioned as Aardrak Kumar According to *Sutrakritang* when he goes to become a monk, he meets monks from

other *Sraman* traditions like *Ajivak*, Buddhist, and *Hasti-tapas* etc. and they present the special attributes of their respective traditions

Sutrakritang-churni also gives stories of his present and past births According to the story he was the son of the king of Aardrakpur Abhay Kumar had presented him an idol of Rishabh Which inspired him to abandon the mundane life In the Basantpur town a girl playfully took him as her husband and ultimately he had to marry her But a few days later he once again moves out to become a monk and meets various monks as stated earlier It is difficult to adjudge the authenticity of this story but one thing is certain, that he was some historical monk of the period of Buddha and Mahavir The details of his discussions with monks of various traditions, narrated in *Sutrakritang*, confirm that he was either influenced by or belonged to the *Nirgranth* (Jain) tradition

As regards his preachings in Rishibhashit are concerned, he preaches to be away from the lusty pleasures of the mundane world According to him sexual desires are ailments and are the root cause of degradation The people afflicted with sexual desires are sufferers of woes Sexual desire is a sharp knife, it is poison As long as a being does not destroy this knife or poison of sex he can not be liberated from the cycles of birth The intellectual and scholar should try to remove his tarnishments every moment When a single good deed of one moment is enormously beneficial, why would the efforts towards liberation not result in infinite benefits

This discourse does not contain anything special or original Many couplets of this chapter can be found in *Uttaradhyayan* and *Dash-vaikalik* with little verbal variations The mention of Aardrak in an old work like *Sutrakritang* proves that he must have been a historical person Besides Jain tradition, Aardrak does not find any mention in Buddhist and Vedik tradition, as such it is difficult ro present comperative study of his life and works Absence of his name in other traditions indicates that he was connected with *Nirgranth* (Jain) tradition also

29. VARDHAMAN

In the 29th chapter of Rishibhashit[220] are collected the preachings of *Arhat-rishi* named Vardhaman, According to the traditional belief of Jains he is said to be a *Pratyek-Buddha* or *Arhat Rishi* of the sect of *Teerthankar* Parshwa, but in my opinion this Vardhaman is none else but Bhagwan Mahavir himself The family name of Mahavir, according to Jain tradition, is Vardhaman *Kalpsutra* and *Chaturvinshat—stav* refer

to Mahavir by this name As regards the story of Vardhaman's life is concerned, we find detailed description of his personality and philosophy in many ancient canonical works like *Acharanga,*[221] *Sutrakritang,*[222] *Bhagwati,*[223] *Kalp-sutra*[224] etc In my opinion, there is no scope of any doubt in accepting that the Vardhaman of Rishibhashit is Bhagwan Mahavir recognised as the twentyfourth *Teerthankar* by Jains Another proof of this is that there is complete similarity in the preaching of Vardhaman in Rishibhashit and Mahavir in the 32nd chapter of *Uttara-dhyayan* and the *'Bhavana'*[225] chapter of the second *Srutaskandha* of *Acharanga*

In the begining of this chapter he says

There is influx from all around, why do you not stop this influx ? How this influx is blocked ? When the five senses are awake the soul sleeps and when these five sleep soul is awake Through these five the particles (Karmic-particles) are ingested and through these five only the ingestion is blocked The subjects, like words etc , of the five senses like hearing etc are pleasant and unpleasant One should not be attached to the pleasant ones and should not be averse towards the unpleasant. His influx is blocked, who is alert and unrevolting That pure soul, who conquers his mind and its passions and indulges in right penance shines like the flame of a *yajna* In this manner, this chapter emphasizes on the discipline of mind and the five senses

This theme of this chapter, with slight verbal variations, is also available in the second *shrutaskandha* of *Acharanga* in the chapter titled *Bhavana* and in *Uttaradhyayan* in the 32nd chapter titled *Pramad-Sthan* This proves that this must have been the original discourse of Vardhaman Mahavir The sentence *'Deva Vi Tam Namasanti'* is also available in the first chapter of *Dash-vaikalik* [226]

This was his original discourse and its language also is accordingly. Another proof of this inference is that in the *Pali-Tripitak,*[227] in the discourse of Nigganthanataputta (Nirgranth Jnata-Putra or Vardhaman) a part of a sentence is *'Savva Vari Varito '* In Rishibhashit in this chapter there is a similar sentence *Savva Varihim Variye '* It should be recalled that Pt Rahul Sankratyayan has interpreted *'Vari'* as water, which is not correct Here *Vari* means that which should be abandoned or washed, or the evil deeds, *Sutrakritang*[228] also mentions in preachings of Mahavir *'Se variya itthi sarayabhattam '*

Besides Jain literature the mention of Mahavir Vardhaman is also available in Pali Buddhist literature Here he has been mentioned as

Nigganth Nataputta and believed to be a senior contemporary of Buddha According to the *Nirvana* years of Buddha and Mahavir, Buddha appears to be approximately 30 years younger to Mahavir He has been recognised as one of the six *Teerthankar* contemporaries of Buddha The references about him in the Pali literature have been thoroughly researched by Indian as well as Western scholars, As such I do not feel the need to discuss much about the subject here

I would only like to discuss one point from *Thergatha Atthakatha*,[229] that has been neglected by scholars In the *Atthakatha* of *Thergatha*, Vaddhaman-ther has been mentioned as a *Lichchhavi* prince of Vaishali This is the information which relates him to Vardhaman Mahavir After a comparative study I have arrived at the conclusion that not all the *Thers* of *Thergatha* belonged to the Buddhist tradition Thoughts of many famous pre-Buddha *Sramans* have been included in it However, due to sectarian polarisation, efforts have been made in *Atthkatha* to connect them to Buddhist tradition

As Rishibhashit and *Uttaradhyayan* of Jains have compiled thoughts of Rishis of other *Sraman* traditions, *Thergatha* also has compiled thoughts of *Rishi's* of other *Sraman* traditions On this basis, I believe that Vaddhaman of Rishibhashit and Vaddhaman of *Thergatha* are same At the same time Nigganth Nataputta of *Pali Tripitak* and Vardhaman Mahavir of Jains are same as Vaddhaman of *Thergatha* and Rishibhashit On this basis the historicity of Vardhaman is also clearly established In *Thergatha* also Vardhaman-ther has talked of abandoning attachment just like in *Aacharanga* and *Uttaradhyayan*

30. VAYU

The thirtieth chapter of Rishibhashit[230] is about the *Rishi* named Vayu Besides Rishibhashit nowhere else in Jain canonical literature can one find a mention of Vayu Rishi Although the third out of eleven chief disciples *(Ganadhar)* of Mahavir was named Vayubhati,[231] it is difficult to say that he was same as Vayu Rishi, Because, on this issue no evidence is available within or without the tradition, In Buddhist tradition Vayu has been mentioned only as a god

In Vedic sources also, Vayu has been accepted only as a god Only *Shantiparva* of *Mahabharat* mentions an ancient Rishi Vayu who visited Bhishm while he was on the arrow-bed Similarly *Shalyaparva* of *Mahabharat* mentions about Vayu-chakra, Vayu-jwal, Vayubal, Vayu-

mandal, Vayureta, and Vayuveg Rishis But first of all they appear to be *Pauranic* (pre-historic) not historical, and secondly there is no apparant similarity with Vayu Rishi Besides this, another Rishi named Vayu-bhaksha has been mentioned, he was present in the assembly of Yudhishthar[232] and also met Krishna on the way Vayubhakshi ascetics have also been mentioned in *Aupapatik*

As regards the preachings of Vayu Rishi are concerned, he chiefly propagates the *Karma* principle He says that as one sows so he reaps, good deeds bring good results and bad deeds bad No act goes in vain How the fruitition of *Karma* takes place after death has been asserted by stating that it is the roots that are watered but fruits grow on branches, which means that fruit is displaced by time and space from the act of watering Similarly, the effect of the deeds takes place at a different place at different time Besides this simple propagation of *Karma* principle, no other original thought is found in this chapter.

31. PARSHWA

The thirty first chapter of Rishibhashit[233] contains the philosophical thoughts of Arhat Parshwa Although the traditional belief of Jains is that this Arhat Parshwa was a *Pratyek Buddha* contemporary and not Teerthankar Parshwa himself But all scholars unanimously accept that he is Parshwa himself The Propagation of *Chaturyam* (four dimensional religion) in his preachings is a conclusive evidence of this theory[234] Although the Buddhist and Vedic sources do not provide any information about Parshwa, the propagation of *Chaturyam sanyam* by Nirgranth Jnata putra in Buddhist tradition is in fact the *Chaturyam* of Parshava.

Similarly, Buddhist literature contains information about 'Buddha's uncle, Vappashakya, being a follower of Nirgrantha tradition Vappa also must have been from the tradition of Parshwa, because Mahavir's tradition was only at the developing stage during that period The historicity of Parshwa is established by various evidences and many Eastern and Western scholars have accepted this In this context I have dealt in my book 'Arhat Parshwa and His Tradition'[235], readers may consult it for further details

In Jain canonical literature details about Parshwa and his tradition are available in Acharanga[236], Sutrakritang[237], Samvayang[238], Bhagwati[239], Aupapatic[240], Rajprashniya[241], Niryavalika[242], Kalpa-sutra[243], Avashyak-churni[244] etc Besides this, many story books contain story of Parshwa's life partly and fully Uttaradhyayan, Sutrakritang and Bhagwati have

explained the difference between traditions of Parshwa and Mahavir[245]. Main points of contradiction were Chaturyam and Panch Mahavrata (five major vows) and cladness and uncladness But besides these there were other points of contradiction like form of discourse regarding Pratikraman (re-evaluation) and Ahimsa, information about Samayik, discipline, blockage of Karma influx, morals and penance, these have been discussed in Sutrakritang and Bhagwati According to Bhagwati Sutra, Kalasya-Vaishik putra, an ascetic follower of Parshwa, while being inducted to Mahavir's monk organisation, accepted five vows and Sapratikraman dharma (rites of daily re-evaluation of actvities), and also as discipline, uncladness, head shaving, non-bathing, not brushing teeth, uncovered head and feet, sleeping, on floor, sleeping on sheet, sleeping on wood, plucking hair, continence, entering others house for alms[246], equanimity for available and non available This shows that these disciplines did not prevail in the tradition of Parshwa

The rules about keeping umbrella, shoes, leather bags, and cutting of nails, mentioned in the *Chhed* sutras, were adopted in Mahavir's school through the influence of the Parshwa followers This is also true that due to the luxurious inclinations of *Parshwite* monks, *Pasath (Parshwath)* became a synonym of laxness in conduct *Jnata* and *Avashyak-churni* contain mentions of laxness of many monks and nuns belonging to the tradition of Pasrhwa[247] All this indicates that Parshwa was a historical *Rishi* whose tradition, which was comparatively easy going, prevailed during Mahavir's period and many *Parshwite* monks were shifting to Mahavir's school

As regards the philosophy of Parshwa described in Rishibhashit, it is the most ancient and authentic form of religious and philosophic beliefs of Parshwa available Rishibhashit contains both philosophical and religious thoughts of Parshwa It should be noted that Rishibhashit also contains that variation of Parshwa chapter which was included in the book titled *Gativyakaran*[248] From philosophical view point it contains form of the Universe, movent of matter and soul, *Karma*, its precipitation, fruitition, and various consequences Also discussed are *panchastikaya* (five fundamentals) and form of *Moksha* From view point of conduct it contains discussion about Chaturyarm, passions, the eighteen evil activities from killing to misconception, sterile food etc

First of all it conneys that the Universe and five fundamentals are eternal But with the acceptence that the Universe is eternal, it has also been stated that it is transient, the fact that Parshwa believed the

Universe to be eternal is also mentioned in Bhagwati sutra Again, soul and matter both are said to be dynamic and soul tends to move upwards and matter downwards Originally four movements, *Dravyagati* (movement of matter), *Bhavagati* (movement of thought or feeling), *Kshetragati* (Movement of space) and *Kaalgati* (movement of time) have been discussed but in text variation *Prayogagati* (movement inspired by others) and *Visrasagati* (self inspired movement), have also been discussed Also narrated is the discussion about eight types of *Karmic* bondages and four categories of life forms Text variation also details *Audayik* and *Parinamikgati* (self evolved and consequentially evolved life forms) Along with is mentioned that a being suffers the consequences of evil and good deeds done by him In the end presenting the moral thoughts it has been said that one who follows *Chaturyam*, is devoid of passions, and eats sterile food, does not enter the eight types of *Karmic* bondages, and ultimately gets liberated[249]

32. PING

In Rishibhashit[250] Ping has been mentioned as *Brahman Parivrajak Arhat Rishi* The adjective *Brahman Parivrajak* clearly indicates that he was a Rishi of Brahman tradition His discourse in Rishibhashit mainly propagates details about spiritual cultivation An unknown Rishi asks Ping, "Which is your farm (working area) ? What is irrigation ?" The reply given is "Soul is the farm or working area, penance is the seed, discipline is irrigation and Ahimsa and attitude are the oxen This is spiritual cultivation For a dispassionate monk only this cultivation is proper, and it begets happiness in the next life Being compassionate towards all beings, if one indulges in this cultivation, be he *Brahman, Kshatriya, Vaishya* or *Shudra*, he attains omniscience[251] This is the description of spiritual cultivation, which on one side explains the spiritual cultivation and on the other hand clarifies that practicing such cultivation leads to liberation irrespective of caste and creed The most important information that this chapter provides is that a *Brahman Parivrajak* propagates the concept of liberation for all the four castes

In Rishibhashit itself this type of spiritual cultivation has been described with a little variation in the 26th chapter of Maatang This chapter of Ping has only four verses on this topic whereas in the Maatang chapter eight verses describe the same topic Thus this chapter contains just a brief version of the spiritual cultivation detailed in the 26th chapter titled Maatang

In Jain tradition I have not come across this type of spiritual cultivation, but in Buddhist tradition *Suttanipat* and *Sanyutta Nikaya* describe

this spiritual cultivation In the fourth chapter, Kasi Bhardwaj, of *Suttanipat* we find its details There, Buddha himself is presented as a farmer He says, "Faith is seed, penance is rain, knowledge is yoke, humility is the stud of yoke, memory is my plough I am disciplined about food and speech I un-weed the truth The endeavour towards *nirvana* are the oxen drawing my plough They perpetually move in the direction leading to the place where there is no pathos Such cultivation gives nectar as fruit Doing such cultivation man becomes free of all sorrows"

Sanyutta Nikaya also provides almost same description The description about spiritual cultivation conveys that in society at some point their was an aversion towards *sramans* seeking alms. These *sramans* were told that instead of begging alms they should indulge in cultivation In reply to such suggestion the *sramans* presented the details of spiritual cultivation

Besides Rishibhashit, details about Ping are found in Buddhist[252] tradition as well In *Anguttar Nikaya* of Buddhist tradition there is a mention of a Brahman named Pingiyani, who lived in Vaishali and was a follower of Buddha *Sanyutta Nikaya* also mentions a Pingi Bhikshuk who attained *Arhathood* *Suttanipat* also mentions Maharshi Pingi In the *Parayan Vagga* of *Suttanipat,* initially Maharshi Pingi is said to be a disciple of Bavari Maharshi Pingi is one of the sixteen disciples of Bavari He has been addressed with adjectives like—*Lok Vishrut* (famous), *Dhyani* (mendicant), having refined past life *Karma, Gani* (leader). In the *Pingi Manavak Puccha Sutta* of *Parayan Vagga* the dialogue between Buddha and Pingi has been narrated Here Pingi describes his old age to Buddha and says that he is delapidated, weak, bad complexioned, his eyes and ears are not fully functioning Stating thus he seeks discourse from Buddha so that he may be rid of life and death and does not, in process, beget death with attachment

Buddha preaches Pingi to be alert and end desires These details from *Suttanipat* clearly indicate that Ping was contemporary of Buddha but senior to him in age The information about his being a disciple of Buddha, availabie in *Suttanipat,* is for the purpose of glorifying Buddha's field of influence As such the description available in *Suttanipat,* cannot be accepted verbatim Prof C M Upasak[253] has conveyed the possibility of Pingi or Pingiyani of *Pali* literature being a different person and not the Ping of Rishibhashit According to him, Ping of Rishibhashit was an ancient *Rishi* who started the tradition of Pingi or Pingiyani monks

I have no objection agreeing to the inference drawn by Prof Upasak. It is a possibility that some *Pingiyani* of the tradition of Ping

Rishi may have been converted into Buddhism But, probably, Prof Upasak has not noticed the above mentioned narration from *Suttanipat* He is probably refering to the *Pingiyani* of *Anguttar-Nikaya* and *Samyutta-Nikaya* *Suttanipat* has mentioned that he was a disciple of Bavari, as such here Ping indicates person not sect Also the adjectives like leader of the people, famous in the land, mendicant and others have been given to his name as an individual He was certainly elder to Buddha

It is a matter of doubt, if Pingi of *Suttanipat* should be taken as Ping of Rishibhashit or his disciple, but all this goes to prove the historicity of the *Arhat Rishi* of Rishibhashit named Ping In the *Atthakatha* of *Suttanipata* Pingi has been addressed as *Arhat*[254] As such there is a possibility of Ping of *Suttanipat* being non else but Ping of Rishibhashit

Mahabharat[255] mentions one *Rishi* named Pingal But it is difficult to connect him with Ping of Rishibhashit on basis of their period and other facts

33. MAHASHALPUTRA ARUN

The thirtythird chapter of Rishibhashit is about the preachings of Mahashalputra Arun Besides Rishibhashit mention of Arun is not found anywhere in canonical and other Jain literature Rishibhashit calls him Mahashalputra Arun[256] Question is that who is this Arun Rishi ? In fact Arun is a *Upanishadic Rishi* Schubring eqates Arun with the *Upanishadic Rishi* Aaruni[257], which is incorrect because Aaruni's other name is Uddalak and Rishibhashit contains an independent chapter on Uddalak The word Aaruni itself indicates that he was either a descendent or disciple of Arun As such Mahashal Arun was either father or teacher of Aaruni Uddalak In the *Vedic* encyclopidia and names appendix of *Mahabharat*[258] Aaruni-Uddalak is one person and Arun is his father According to *Shatpath Brahman* and *Brihadaranyakopanishad* his full name was "Arun Aupaveshi Gautam" He was called Aupaveshi as he was a disciple of Upaveshi and Gautam as he belonged to the Gautam clan[259]

Now the question is that what is the reason behind adding Mahashalputra before his name mentioned in Rishibhashit ? According to Chhandogyopanishad the *Brahmans* trained by Ashwapati were called Mahashal[260], as Arun was also trained by Ashwapati, he may have been called Mahashalputra Thus it is proved that Mahashalputra Arun of Rishibhashit is the *Upanishadic Rishi* Arun Aupaveshi Gautam and father and teacher of Aaruni Uddalak The name of Sanjaya, the ruler of Mithila,

has also been used in this chapter We shall discuss about this while discussing the 39th chapter titled Sanjaya

As regards the preachings of Arun Rishi stated in Rishibhashit, he says a person's wisdom and foolishness can be judged only on the basis of his language, behaviour, and conduct Rustic language, evil deeds, and lack of morality about his conduct are signs of foolishness On the other hand civilized language, good deeds, and morality in conduct are signs of wisdom With this it has been revealed that the company one keeps has the maximum influence on a person This fact has been elaborated with many examples. In conclusion it has been stated that a wise and disciplined ascetic should completely understand equanimity and Ahimsa and keep company of inspiring freinds [261]

Although Buddhist tradition mentions five persons named Arun,[262] none can be connected with Arun of Rishibhashit on the basis of available details As such the conclusion remains that Mahashal putra Arun of Rishibhashit is Arun Aupaveshi Gautam of *Upanishads*

34 RISHI GIRI

The thirty fourth chapter of Rishibhashit contains the discourse of Brahman Parivrajak named Rishigiri He has not been mentioned anywhere else besides Rishibhashit Although mentions of Rishidatta, Rishi-gupta etc are available, it is difficult to establish any connection with Rishigiri Similarly there is no mention of *Brahman Parivrajak* named Rishigiri in Buddhist and *Vedic* traditions As such it is difficult to provide any information about his personality

His preachings[263] advise to tolerate with equanimity the pains inflicted by evil and foolish people He states that if some one criticizes in absentia one should be equanimous by thinking that he is not criticizing in your presence If someone criticizes in your presence you should think that he is inflicting by words and not physically If some one gives physical pain you should think that he is not using a weapon to disfigure If he disfigures, you should think that he is not killing And if he kills you should think that he is not depriving you of your *Dharma* (duty or religion) "An ignorant is foolish by nature, he is not aware of good or bad consequences", thinking thus you should be equanimous towards him

It should be noted that same details are also available in *Pali* literature Here Buddha asks a monk, "If some one criticizes you, what shall

you do ?" The monk replies, "I will think that he is only criticizing me, he is not beating me " In this manner complete discourse is repeated The only difference is that in Buddhist tradition it as in the form of a dialogue between Buddha and a monk, whereas in Rishibhashit it is in the form of preaching of Rishigiri

Besides this the chapter directs to become practitioner of five great vows, devoid of passions, and disciplined in thought and senses, by knowing the form of the universe A weak person deeply involved in passions and pleasures sometimes wishes for death and sometimes for life, ultimately destroying himself. But the one who is not allured by lust begets liberation, that is without bondage and attachment This discourse of Rishigiri is also available elsewhere in simple terms As such on the basis of these preachings we do not get any inkling of any speciality in his concepts

35. UDDALAK

The 35th chapter of Rishibhashit contains the discourse of Uddalak (Uddala-a) In the Jain canonical and other literature Uddalak has not been mentioned anywhere else besides Rishibhashit. In fact Uddalak is a *Upanishadic Rishi* He was son of Arun Aupaveshik Gautam His famous name was Uddalak-Aaruni He has been called Aaruni because of being son of Arun His mention is found in *Shatpath Brahman, Kausheetaki Brahman, Etereya Brahman, Brihadaranyak Upanishad, Chhandogyopanishad,*[264] etc He was a disciple of his father Arun, Patanchal Kapya of Madra (a geographical area) His son was Shvetaketu Although he is also said to be the father of Nachiketa, Shri Suryakant has expressed his doubt in Vedic encyclopedia [265]

In Uddalak *Jatak* of Pali literature we find mention of Uddalak[266] According to this he was son of the state priest of Benaras, born to a slave mother He went to Takshashila for education and after completing his education he became leader of a group of monks He traveled back to Varanasi and earned ample respect of masses But the state priest, knowing of the ambiguity of his conduct, forced him to abandon monkhood and made priest under himself Shwetaketu has also been mentioned in this context In Vedic tradition Shwetaketu is said to be Uddalak's son. All these references indicate that this story has been presented in the Buddhist tradition after distorting it

On these grounds we may infer that Uddalak mentioned in Rishibhashit, *Jatak Katha* and *Upanishads* is same person.

Coming to his preachings in Rishibhashit,[167] he has first of all prohibited the four *Kashayas* (passions) He who indulges in these, wanders (in cycles of birth) in this world And who does not indulge in these, is without anger, vanity, illusion, and greed, three vices in three media (mind, speech, and body), ego, four *Vikathas*, and with five *Samitis* (attitudes), isolated from five senses He accepts food, bed, and seat that are totally pure, without the faults of their origin, obtained from various sources, made by others, without heat and smoke, without any implement but cured by implements, specifically and only for survival and development After that, is stated the discussion on problem of activities for self and others and the directions for purification of soul His view is that only a seeker of soul can become an instrument of welfare in true sense How can he indulge in welfare of all, who cannot even control his own passions and lust Without development of soul even the welfare becomes cause of bondage Because only a pure soul imparts peace to self and others

In this chapter five senses, ambitions, medias of expression, ego and twenty two types of pain, have been mentioned as thieves, because these commit theft of the wealth of inner peace As such the mendicant has been advised to be alert always

The uniqueness of this chapter is that here only the terminology of traditional Jain conduct has been used As such a natural doubt arises that if the ideas propagated belong to Uddalak or the compiler, put forward in the name of Uddalak In absence of any evidence, for or against, nothing conclusive can be derived on this issue Still the possibility that the ideas have been accepted according to the then prevailing Jain beliefs can not be ignored

36. NARAYAN (TARAYAN)

The thirty sixth chapter of Rishibhashit is about the discourse of Tarayan (Narayan) Rishi In Jain literature, besides Rishibhashit, Narayan Rishi has been mentioned in *Sutrakritang*[268] and *Sutrakritang-churni*[269] In Rishibhashit a prefix *'Vitta'*, has been added to his name, what it indicates is not clear *Sutrakritang* and Rishibhashit both indicate that he was an outsider for Jain tradition, but due regards were being given to him

The central theme of the preachings of Narayan Rishi is the irrepressable nature of anger[270] It has been stated that fire can be quenched by water but the fire of anger is difficult to quench Fire destroys only this life but anger destroys many future reincarnations, Man

inflicted with anger suffers agony and disturbance recurrently Simple darkness can be removed by light but the darkness of anger is difficult to remove Also, anger burns self as well as others Because of anger all the three good attributes of *Dharma* (religion), *Artha* (wealth), and *Karma* (vitality) are destroyed As such, anger should be curbed

Although the eighth Vasudev in Jain tradition is also named Narayan, who has also been refered to as Laxman, but he is some one else, not Narayan (Tarayan) of Rishibhashit He may be recognised as Narayan Rishi of the *Vedic* tradition In *Vedic* or Hindu tradition Narayan is the name of the God himself, but Narayan Rishi, who is believed to be a reincarnation of God, is also mentioned there Generally he is known as one of the pair of Rishis named Nara-Narayan,[271] They are believed to have done penance for thousands of years at Badrikashram[272] There is a mention of their dialogue with Narad in *Shantiparva*[273] The tenth section of *Taittiriya Aranyak* is popularly known as *Narayanopnishad*[274]

There is no information about Narayan Rishi in Buddhist tradition Details available from other sources help coming to the conclusion that Narayan (Tarayan) mentioned in *Sutrakritang* and Rishibhashit is the Narayan Rishi of Hindu tradition

37. SRIGIRI

The thirty seventh chapter of Rishibhashit is about the *Brahman Parivrajak* named Srigiri Like Tetaliputra (10), Bahuk (14), Utkatvadi (20), Parshwa (31), chapters this is also fully in prose Besides Rishibhashit, mention of Srigiri is not available anywhere in *Vedic,* Buddhist, or Jain literature As such no information about the personality of Srigiri is available from any source

In the first part of this chapter[275], three principles about creation have been stated It says : (1) First of all there only was water, an egg appeared in it, then the universe was born and it became full of life This universe was not created by Varun (god of water), thus Srigiri negates the concept of the universe being created out of an egg This is well known that this concept about creation was present in the *Upanishadic* thoughts In *Sutrakritang*[276] also this concept has been mentioned and negated (2) The second concept about creation is of *Maya* (illusion), the universe is said to be born out of illusion But Srigiri opposes this hypothesis and says that this world is not an illusion Thus negating both these theories he presents his third theory of eternalism as (3) It is not that this world did not exist some time in the past, does not exist at the present moment,

and will not exist some time in the future Thus the universe has been accepted as eternal here The same concept was given by Parshwa also and confirmed by Mahavir in *Bhagwati-sutra* In Vedic tradition the *Mimansa* philosophy is similar to this concept *Upanishads* also mention this

The preachings of Srigiri regarding conduct indicate that he supported the *Vedic* rituals, still the *Agnihotra (Yajna)* presented by him does not contain procedure about animal sacrifice He says, "At dawn and at dusk, collecting milk, butter, honey, salts, conchshell and wood, I shall live, keeping the Yajna-fire alive offering all these That is why I say this, hearing this, the mendicant should move with the sun, stop where night falls, when the sun rises, start moving again, properly and looking up to four yards in all directions, East and West and South and North" This information about movement with sun is also available in varied forms in *Kappa (Dashashrut Skandha* 5/6-8*)*, Nisiha *(Nisheeth-10/31/34)* and *Dasaveyaliya (Dashvaikalika-8/28)*[277] of Jain tradition Generally, this concept was popular with all the *Sraman Brahman Parivrajaks* As such inspite of comparative study, we only get authentic information about Srigiri's ideas, but nothing about his personality

38. SARIPUTRA (Satiputta)

The thirty eighth chapter of Rishibhashit is about the preachings of Sariputra (Satiputta) Arhat Buddha This Satiputta is certainly the Sariputra of Buddhist tradition Mention of the word 'Buddha' with his name and similarity of his ideas with Buddhist tradition are important evidences of this Besides Rishibhashit Sariputra has been mentioned in *Avashyak-Churni*[278] There, he has been shown as a follower of Buddha Similarly, *Sheelank*-commentary of *Acharanga*[279] also mentions him Besides, there is also a mention of Saidatta (Swatidatta) Brahman who was a citizen of Champa Mahavir had spent four months of a monsoon in his yard[280] But it is difficult to establish his connection with Satiputta or Sariputra

Detailed information about Sariputra is available in Buddhist tradition Dictionary of Pali Proper Names has devoted ten pages to his details compiled from Pali literature[281] Due to lack of space so much details cannot be included here, I will only deal with some important facts Buddhist tradition has expressed its reverence toward him by accepting him to be one of the two front-line disciple of Buddha

He is said to be the son of Brahman Vanganta, his mother's name was Roopsari, He got his name Sariputra from his mother Sari, Buddha

called him *Dharma Senapati* (religious commander) and *Mahaprajnawan* (extremely wise) Before joining the Buddhist religious organisation he was a disciple of Sanjay Sanjaya has also been mentioned in Rishibhashit as *Arhat Rishi*[282] Barua has acceptad this Sanjaya as Sanjay Velatthiputta[283], one of the six *Teerthankar* contemporaries of Buddha I am also of the opinion that this Sanjaya was the initial teacher of Sariputra, who refused request of Sariputra to meet Buddha In Pali literature, preachings and philosophical thoughts of Sariputra are available in details A comparative study of these with Rishibhashit is naturally expected

In Rishibhashit the main theme of Sariputra's preachings is to avoid extremes and follow the middle path[284] This preaching is the central theme of Buddhism He says, the pleasure that results in bliss is the only real pleasure, but the pleasure that results in anguish should not be indulged in. This statement conveys that not the paingiving pleasure, but the bliss giving pleasure is cherishable Pleasure begets bliss Pain does not beget bliss He further states, that eating good food, sleeping in a comfortable bed, and living in a cozy abode, a monk may concentrate in meditation whereas with unlikeable food, bed, and abode he meditates with discomfort Here the opposition of the practice of abusing the body is clearly evident This does not mean that Sariputra was a supporter of lustful indulgences In the following verse he has preached about discipline of the senses He says, an alert and intelligent mendicant should not be attracted towards the pleasures of the senses, indulgence in them should be abandoned Because the sleeping senses of an alert mendicant cause minimal sorrows

Further, giving transcendence from pleasure and pain as the purpose of meditation, it has been stated that as sweet or bitter medicine is taken for cure of a disease as per the directions of a doctor, similarly stringent or simple practices are done for the cure of the ailment of attachment as per the direction of the wise As the purpose of treatment is riddance from disease not pleasure or pain, similarly the purpose of meditational practices is riddance from attachment not pleasure or pain, although pleasure and pain are inevitable in the process Thus a practicing mendicant has been asked to remain aloof from pleasure and pain The *Samveg* (fear of the evil) of common man and *Nirved* (detachment) of good person are signs of humility if they are desireless Embracing the middle path in context of living in abode or jungle, Sariputra states that for a brave who has won over the senses, there is no difference between jungle or a church For a soul indulging in itself, jungle and

village are same Such soul can attain purity irrespective of being a monk or a citizen

In this manner Sariputra emphasizes on purity of attitude and not the means, which is a peculiarity of the Buddhist religious philosophy The above mentioned details also indicate that this Sariputra is the Sariputra of Buddhist tradition The basis of this inference is that the initial verses of this chapter have been used with some verbal variations in the *Sutrakritanga* commentary by Sheelank and the commentary of *Shatdarshan Samuchchaya* to clarify the Buddhist view point According to the traditional belief, he is supposed to be an *Arhat Rishi* or *Pratyek Buddha* of the period of Mahavir Being a contemporary of Buddha, he is automatically proved to be a contemporary of Mahavir as well

39. SANJAY

The thirty-ninth chapter of Rishibhashit is about the *Arhat Rishi* named Sanjay Besides Rishibhasit, Sanjay finds a mention in *Uttaradhyayan*[285] also Although there are many persons named Sanjay, mentioned in Jain tradition, they are not connected, in any way, with Sanjay of Rishibhashit However, there is no scope of any doubt that the Sanjay mentioned in 18th chapter of *Uttaradhyayan* is same as the Sanjay of Rishibhashit

According to *Uttaradhyayan* he was the King of Kampilpur Once he went for hunting in Keshar park and shot a deer Finding the deer near the feet of meditating Acharya Gardabhill, he got afraid of the monk's curse and begged his pardon Impressed by the *Acharya's* discourse about goodwill and Ahimsa, he abdicated the throne and became a monk disciple of Gardabhill The incident of this deer hunt has been accepted by him in the fifth couplet of this chapter, where he says, "I am not concerned with the tasty meals and gorgeous abodes for which Sanjay goes into the jungles to kill deer"[286] No further proofs are needed to show that Sanjaya of Rishibhashit and *Uttaradhyayan* is one person

The chapter of Uttardhyayan under reference is titled *"Sanyatiya"*, which is not correct, it should be titled *'Sanjayiya'* According to *Uttardhyayan*, he was a disciple of Gardabhill In the thirtythird chapter of Rishibhashit it has been mentioned that due to the company of benevolent friends, Sanjay, the king of Mithila, attained godhood (33/16) But this Sanjay is the King of Mithila whereas Sanjay of *Uttaradhyayan* is the King of Kampilpur, as such they cannot be taken as

same In my opinion Sanjay of 33rd chapter and the preacher of 39th chapter are different

In Buddhist tradition seven persons having the name Sanjay are mentioned [287] Besides the earlier teacher of Sariputra and the one well know by the name Sanjay Velatthiputta, no other Sanjay can in any way be connected with Sanjay of Rishibhashit Buddhist scholars have little dispute in accepting Sanjay Velatthiputta and the earlier teacher of Sariputra as one He is believed to be one of the six *Teerthankar* contemporaries of Buddha, so at least the period is same His joining the Buddhist organisation with Sariputra, Moggalayan, and two hundred and fifty disciples also confirms that he was a prominent Acharya of his age As such it is an undisputed fact that the earlier teacher of Sariputra and Sanjay Velatthiputta are the same person

Now the question is that this Sanjay Velatthiptta and the Sanjay of Rishibhashit are also one or not If we accept the traditional belief that Sanjay of Rishibhashit was a contemporary of Mahavir, then connecting him with Sanjay Velatthiputta, the earlier teacher of Sariputta, who was contemporary of Buddha, has no periodic hurdle Because when Rishibhashit can compile the discourse of Mankhali Goshal, a contemporary of Mahavir, there can be no objection to compiling the thoughts of Sanjay Velatthiputta

In the Buddhist tradition Sanjay has been termed as skeptic or indicisive, because he did not give final or conclusive answer to philosophical questions In modern terms he must be visualising various possible alternatives to the solution of a philosophical problem, and consequently did not use a conclusive terminology This view point of his is evident in the following words mentioned in Rishibhashit 'To understand the evil-*Karma* comprehensively is a matter of doubt [288] Because the decision about a *Karma* being good or evil is possible only on pondering properly from angles of matter, space, time, attitude, and effort' The term *'Rahasse'* used in Rishibhashit, is worth a special thought Also, here *"Sammam Janitta"* would be more appropriate in place of *"Samajjinitta"* (refer to the prose part after the fourth couplet) In Rishibhashit the discourse of Sanjay is very brief It states that evil deed should neither be done nor made to be done, if done by force of circumstances, it should not be repeated again but criticized instead

In conclusion, it can be said that Sanjay Rishi mentioned in Rishibhashit and *Uttaradhyayan* are same It is a strong possibility that he

was also the earlier teacher of Sariputta and one of the six *Teerthankar* contemporaries of Buddha, Sanjay Velatthiputta In Vedic tradition we find the mention of Sanjay, a minister of Dhritarashtra,[289] but from periodic and other angles he is a different person than the Sanjay of Rishibhashit

40. DVAIPAYAN (Devayan)

The fortieth chapter of Rishibhashit contains the collection of preachings of Dvaipayan Rishi Besides Rishibhashit, Dvaipayan (Deevayan) has also been mentioned in *Sutrakritang*[290], *Samvayang*,[291] *Aupapatik*,[292], *Antakritadasha*[293], *Dashvaikalik-churni*[294], and *Sutrakritang-churni*[295] He has uniformly been said to be a *Rishis* from outside the *Nirgranth* tradition *Sutrakritang* has mentioned him with *Rishis* like Nami, Bahuk, Asit Deval, Narayan Parashar etc , and that he attained omniscience inspite of consuming unboiled water, fruits etc According to *Samvayang* he shall be a *Teerthankar* in next ascending time cycle In *Aupapatik* he has been mentioned as the founder of a particular tradition of *Brahman Parivrajaks* *Antakritadash*, *Dashvaikalik-churni* etc state that *Yadavs* disturbed his meditational practices and he decided to destroy them, as a result he was born Agnikumar Dev (a god) and destroyed Dvarka Efforts have not been made to concieve a composit picture of his personality based on the variety of stories available about him in these canons, but in my opinion all these stories are concerning only one Dvaipayan The traditional belief that he was a contemporary of Mahavir is incorrect According to the aforesaid reference he must have been a *Pre-upanishadic Rishi* of the *Mahabharat* period

In the Buddhist tradition there is a mention of two persons having the name Kanha Deepayana [296] The story narrated in the Krishna Dvaipayana (Kanha Deepayana) *Jatak* about Kanha Deepayana does not have any relations with Dvaipayana (Deevayana) of Rishibhashit and Jain tradition But in *Jataks* there is another story of Kanha Deepayana where he has been shown as instrumental to the destruction of Dvarika (Dvaravati) and the clan of Vasudev (*Yadav* clan) With slight variation, this story is available in all the three Jain, Buddhist, and *Vedic* traditions

वत्थादिएसु सुज्झेसु, संताणे गहणे तहा ।
दिट्ठंतं देसधम्मित्तं, सम्ममेयं विभावए ।।२७।।

२७. वस्त्रादि के शोधन में और कर्म-परम्परा में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव अर्थात् रूपक दृष्टान्त एकदेशीय होते हैं । अतः इसे सम्यक् ज्ञान और विवेकपूर्वक है । ग्रहण करना चाहिये ।

27. The parallels of bleaching of clothes etc. given above are mere figurative illustrations to be comprehended in their proper perspective.

आवज्जती समुग्घातो, जोगाणं च णिरुम्भणं ।
अनियट्टी एव सेलेसी, सिद्धी कम्मक्खओ तहा ।।२८।।

२८. आवर्जन, समुद्घात, योगनिरोध, अनिवृत्ति और शैलेशीकरण के द्वारा आत्मा कर्मों का क्षय करता है तथा सिद्धि—निर्वाण को प्राप्त करता है ।

28 The soul negates Karmas by forestalling and countering these proclivities and suppression of concomitants and thus wins the ultimate.

णावा व वारिमज्झंमि, खीणलेवो अणाउलो ।
रोगी वा रोगणिम्मुको, सिद्धो भवति णीरओ ।।२९।।

२९. जलधारा के मध्य में रही हुई नौका के समान कर्मलेप से रहित आत्मा अनाकुल होती है । जैसे रोगी रोगरहित होकर प्रसन्न होता है वैसे ही कर्म-रज से मुक्त होने पर आत्मा सिद्ध होती है ।

29. Lika a boat buoyed on a tranquil stream, the soul free of Karmic smear stays unperturbed. As a patient is cheered after convalescence so does the self on its accomplishment of Karmic annihilation.

पुव्वजोगा असंगत्ता, काऊ वाया मणो इ वा ।
एगतो आगती चेव, कम्माभावा ण विज्जती ।।३०।।

३०. पूर्व संसारावस्था के समस्त योगों से तथा देह, वाणी और मन से मुक्त हो जाता है, असाधारण हो जाता है और कर्मों का अभाव हो जाने से उस आत्मा का संसार में पुनरागमन नहीं होता है ।

30. Such a soul retains no remnants of its pre-liberation mundane association and reigns supreme in body, word and mind. Ii reveals its

२३. विपक्षी को हनन करने योग्य सत्त्व सामर्थ्य से सम्पन्न पुरुष रथारूढ़ होकर विपक्ष (शत्रु) को समाप्त कर देता है। इसी प्रकार सम्यक् दृष्टि आत्मा अनन्तानुबन्धी क्रोधादि अंतरंग शत्रुओं का नाश कर देता है।

23. A potent warrior girds up his loins to reduce his adversary to bits. So the accomplished soul treats his latent foes like anger etc.

वह्निमारुयसंयोगा, जहा हेमं विसुज्झती।
सम्मत्तनाणसंजुत्ते, तहा पावं विसुज्झती ॥२४॥

२४. जैसे अग्नि और पवन के संयोग से स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है वैसे ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से युक्त होने पर आत्मा पाप से विशुद्ध हो जाता है।

24. As burnishing in fire and exposure to air purifies gold, so correct and scripture-endorsed perspective and knowledge nullify the inherent foes like anger by smothering Karmas.

जहा आतवसंतत्तं, वत्थं सुज्झइ वारिणा।
सम्मत्तसंजुतो अप्पा, तहा झाणेण सुज्झती ॥२५॥

२५. जैसे धूप से आतप्त (प्रस्वेदादि से मलिन) वस्त्र जल के द्वारा शुद्ध होता है वैसे ही सम्यक्त्ववासित आत्मा ध्यान रूपी जल से शुद्ध होता है।

25. As clothes soiled by perspiration in scorching sun are cleansed by water, so a soul deficient in equanimity, in due course, gets purged by means of meditation.

कंचणस्स जहा धाऊ, जोगेणं मुच्चए मलं।
अणाईए वि संताणे, तवाओ कम्मसंकरं ॥२६॥

२६. जैसे गेरुक आदि पदार्थों के संयोग से स्वर्ण का मालिन्य नष्ट हो जाता है वैसे ही तप के माध्यम से अनादिकाल से संलग्न मिश्रित कर्मों की परम्परा भी नष्ट हो जाती है।

26. As gold is brightened by the action of detergent minerals, so human soul is purged of its timeless Karmic conglomerate by means of austerity and penances,

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् श्रेष्ठ **महाकाश्यप** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for the aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinece and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I Mahakashyap, the seer, do pronounces.

महाकाश्यप नामक नौवां अध्ययन पूर्ण हुआ।



supremacy and in the absence of Karmas is no more susceptible to reincarnation.

परं णावगहाभावा, सुही आवरणक्खया ।
अत्थि लक्खणसब्भावा, निच्चो सो परमो धुवं ।।३१।।

३१. सिद्धिस्थान प्राप्त होने पर वह अवगाहनभाव (ऊर्ध्वगति) से रहित हो जाता है । कर्म के समस्त आवरणों का क्षय हो जाने से वह सुख-सम्पन्न (परम-सुखी) हो जाता है । वह अस्ति लक्षण से सद्भावशील है, नित्य है और शाश्वत है ।

31. Having achieved the ultimate, it is no more subject to any further migration above. Having discarded all shells of Karmas, it attains an ecstatic state. Soul is the noumenon, timeless and eternal.

दव्वतो खित्ततो चेव, कालतो भावतो तहा ।
णिच्चाणिच्चं तु विण्णेयं, संसारे सव्वदेहिणं ।।३२ ।।

३२. संसार की समस्त देहधारी आत्माओं को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नित्य और अनित्य जानना चाहिए ।

32. All the embodied souls are time-bound or transcendental depending on each one's mettle, temporal and spatial station and mentality.

गंभीरं सव्वओभद्दं, सव्वभावविभावणं ।
धण्णा जिणाहितं मग्गं, सम्मं वेदेंति भावओ ।।३३।।

३३. गम्भीर, सर्वतोभद्र—पूर्णतः कल्याणकारी, समस्त भावों के प्रकाशक, जिनेन्द्र प्ररूपित मार्ग को जो सम्यक् प्रकार से श्रद्धा-भावनापूर्वक पहिचानते हैं अथवा आचरण करते हैं वे (आत्माएं) धन्य हैं ।

33. Blessed are they who devoutly pattern their conduct in accordance with the path shown by Lord Jinendra, the propounder of all profound and pious modes.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

नवमं महाकासवज्झयणं ।

इन वाक्यों पर कौन विश्वास करेगा ? इसी प्रकार मित्र सहित होने पर भी, धनवान होने पर भी, परिग्रह-सम्पन्न होने पर भी, दान-मान-सत्कार-उपचार से युक्त होने पर भी, वह तेतलिपुत्र मित्र, स्वजन और परिजनों आदि से विरक्त हो गया है, मेरे इन वाक्यों पर कौन श्रद्धा करेगा ? प्रशस्त जाति-कुल-रूप, विनय और उपकारादि गुणों से विभूषित, स्वर्णकार (सोनार) की पुत्री पोट्टिला असत्य के प्रभाव में आ गई, मेरे इन वाक्यों पर कौन विश्वास करेगा ? कालक्रम के विषय में नीतिविशारद तेतलिपुत्र विषाद को प्राप्त हुए, कौन मेरे कथन पर श्रद्धा करेगा ? अमात्य तेतलि-पुत्र ने घर में प्रवेश कर, तालपुट नामक विष का भक्षण किया, पर वह विष निष्फल हो गया, मेरे इस कथन को कौन मानेगा ? अमात्य तेतलिपुत्र विशाल वृक्ष पर चढ़कर रस्सी से फंदा लगाता है, तथापि रस्सी टूट जाने से मरता नहीं है, मेरे इस कथन को कौन मानेगा ? तेतलिपुत्र बड़े भारी पाषाण खण्ड को गले में बांधकर, अगाध जल वाली पुष्करिणी (बावड़ी) में स्वयं को गिराता है, तथापि उसे वहाँ आश्रय-स्थान मिलता है, अर्थात् ऐसी दशा में भी वह मरता नहीं है, मेरे इस कथन पर कौन विश्वास करेगा ? तेतलिपुत्र बड़े-बड़े काष्ठ-खण्डों को एकत्रित कर, आग लगाकर, उसमें कूद पड़ा, फिर भी वह अग्नि बुझ गई, मेरे इन वाक्यों पर कौन श्रद्धा करेगा ?

I, a householder, am still free of household. But shall one believe me of such a bewildering claim ? I have fathered sons and still I own none. Who shall rely on such a paradox ? Similarly I have friends. I own riches. I am acquisitive. I am honoured and extolled but I have disowned all. Shall one believe it ? Who shall accept my averment that Pottila, the goldsmith's aristrocratic daughter perjured ? Who will accept that Taitaliputra, the wise, was confounded ? Who will agree with Taitaliputra that he entered the house and survived the severest of poisons ? Then the minister Taitaliputra attempted to hang himself from a tree. But the rope broke into twain, to defeat the effort. Who shall accept it ? Who shall agree that he tied a heavy boulder round his neck and leapt into water to still survive unscathed ? Then Taitaliputra prepared a pyre of logs and set himself aflame for immolation, but the fire also did not oblige him. Who would accept such an improbability ?

तए णं सा पुट्टिला मूसियारधूता पंचवण्णाइं सखिखिणिताइं पवर-वत्थाइं परिहित्ता अन्तलिक्खपडिवण्णा एवं वयासी : आउसो ! तेतलिपुत्ता ! एहि ता आयाणाहि : पुरओ वितिथण्णे गिरिसिहरकंदर-प्पवाते, पिट्ठओ कम्पेमाणे व्व मेइणितलं, साकड्ढन्ते व्व पायवे, णिप्फोडेमाणे व्व अम्बरतलं, सव्वतमोरासि व्व पिण्डिते, पच्चक्खमिव

१०. दसमं तेतलिपुत्तज्झयणं

को कं ठावेइ णण्णत्थ सगाइं कम्माइं इमाइं ? सद्धेयं खलु भो समणा वदन्ती, सद्धेयं खलु माहणा, अहमेगोऽसद्धेयं वदिस्सामि। ते त लि पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइयं।

मेरे इन स्वकीय कर्मों को कोई किसी अन्यत्र स्थान पर स्थापित नहीं कर सकता। कोई दूसरे का कर्म हटा नहीं सकता। भो मुमुक्षु! श्रमण कहते हैं कि श्रद्धा करनी चाहिए। माहण (ब्राह्मण) कहते हैं कि श्रद्धा करनी चाहिये। मैं अकेला कहता हूँ कि श्रद्धा नहीं करनी चाहिये।

ऐसा अर्हत् तेतलिपुत्र ऋषि बोले—

Deeds performed by me can never be bracketed with another one's. None else's deeds can be alienated. Be it noted that Shramanas and Brahamins commend devoutness. It is I alone who discard devoutness.

Adds Taitaliputra, the enlightened :

सपरिजणं पि णाम ममं अपरिजणो त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ? सपुत्तं पि णाम ममं अपुत्ते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ? एवं समित्तं पि णाम ममं अमित्तं पि णाम ममं, सपरिग्गहं पि णाम ममं दाणमाण सक्कारोवयारसंगहिते तेतलिपुत्ते सयणपरिजणे विरागं गते, को मे तं सद्दहिस्सति ? जाति-कुल-रूव-विणओवयार-सालिणी पोट्टिला मूसिकारधूता मिच्छं विप्पडिवन्ना, को मे तं सद्दहिस्सति ? कालक्कमनीतिविसारदे तेतलिपुत्ते विसादं गते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण अमच्चेण गिहं पविसित्ता तालपुडके विसे खातिते त्ति से वि य से पडिहते त्ति को मे तं सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण अमच्चेणं महतिमहालयं रुक्खं दुरुहित्ता पासे छिण्णे, तहावि ण मए, को मे तं सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण महतिमहालयं पासाणं गीवाए बन्धित्ता अत्थाहाए पुक्खरिणीए अप्पा पक्खित्ते, तत्थ अवि य णं थाहे लद्धे, को मे तं सद्दहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण महतिमहालियं कट्ठरासीं पलीवेत्ता अप्पा पक्खित्ते, से वि य से अगणिकाए विज्झाए, को मे तं सद्दहिस्सति ?

परिवार सहित होने पर भी मैं परिवार रहित हूँ, ऐसा कहने पर मेरे वचनों पर कौन विश्वास करेगा ? पुत्र-सहित होने पर भी मैं पुत्र रहित हूँ, मेरे

अभिउंजिउकामस्स सत्थकिच्चं, खन्तस्स दन्तस्स गुत्तस्स जितिन्दियस्स एत्तो ते एक्कमवि ण भवइ ।

तत्पश्चात् वह अमात्य तेतलिपुत्र स्वर्णकार-पुत्री (देवीस्वरूपधारिका) पोट्टिला से इस प्रकार बोला—हे पोट्टिले । आओ, यह तुम्हें स्वीकार करना होगा कि, भयत्रस्त मानव के लिये निश्चय रूपेण दीक्षा ही मार्ग है । भो ! अभियुक्त का आत्महत्या करना, मार्ग-परिश्रान्त का वाहन पर बैठना, मायावी का रहस्य को गुप्त रखना, उत्कंठित का देश-भ्रमण करना, क्षुधित का भोजन करना, प्यासे का पानी पीना और दूसरे पर विजय प्राप्त करने वाले का शस्त्रग्रहण करना सम्भव है, किन्तु क्षान्त, दान्त, गुप्तेन्द्रिय, जितेन्द्रिय को पूर्वोक्त प्रपातादिक भयों में से एक भी भय संभव नहीं है ।

Responded Royal Minister Taitaliputra thus to the query of demi-goddess Pottila :

You ought to admit Pottila that there is only one escape for oppressed man and that is initiation into an anchorite career. A convict can escape through suicide. A fatigued traveller can dream of a vehicle. A sinister being may preserve a secret. One suffering from wanderlust may leave on voyages. A hungry and thirsty being may win viands and beverages. A triumphant warrior may trounce enemies. However, an austere anchorite is free from all possible mishaps.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

तेतलिपुत्तनामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् तेतलिपुत्र ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Taitaliputra, the seer, do pronounce.

तेतलिपुत्र नामक दशवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१०।



सयं कतन्ते भीमरवं करेन्ते महावारणे समुट्ठिए, उभओ पासं चक्खुणिवाए सुपयण्डधणुजन्तविप्पमुक्का पुङ्खमेत्तावसेसा धरणिप्पवेसिणो सरा णितन्ति, पहुयवहजालासहस्ससंकुलं समन्ततो पलित्तं धगधगेति सव्वारण्णं, अचिरेण य बालसूरगुंजद्धपुंजणिकरपकासं झियाइ इंगालभूतं गिहं आउसो ! तेतलिपुत्ता ! कत्तो वयामो ?"

तदनन्तर वह स्वर्णकार-पुत्री पोट्टिला छोटे-छोटे घुंघरूओं से युक्त पंचवर्णीय श्रेष्ठ वस्त्रों को धारण कर, आकाश में खड़ी होकर इस प्रकार बोली—आयुष्मन् तेतलिपुत्र ! आओ और इसे समझो । तुम्हारे समक्ष गिरिशिखर-कन्दरा (गुफा) से विस्तीर्ण जल-प्रपात हो रहा है और तुम्हारे पीछे भूतल को कम्पायमान करता हुआ, वृक्षों को उखाड़ता हुआ, आकाश को भेदन करता हुआ, समस्त तमराशि से पिण्डीभूत अन्धकार के समान, प्रत्यक्ष में महाकाल-सा भयंकर गर्जारव करता हुआ महान् गजराज सामने खड़ा हुआ है । पलक मात्र में दोनों तरफ से प्रचण्ड धनुष से छूटे हुए, पुंख-मात्र दिखाई देने वाले, पृथ्वी में समा जाने वाले बाण गिर रहे हैं । हजारों लपटों से प्रज्वलित आग की ज्वालाओं से सारा जंगल धू-धू करता हुआ जल रहा है और शीघ्र ही उदीयमान सूर्य आरक्त गुंजा (चिरमी) के अर्द्धभाग की राशि की प्रभा के सदृश (आग की लपटों से) अंगार बना हुआ घर जल जावेगा । आयुष्मन् तेतलिपुत्र ! (ऐसा होने पर) कहा जावें ?

Subsequent to it, the goldsmith's daughter Pottila, ceremoniously garbed and wearing tiny jingling bells, declaimed unsupported from the sky above :

Thou live long Taitaliputra. Dost thou then see the torrential water-fall resounding in the massive gully ? At your back there moves the mammoth dark elephant trumpeting fiercely resounding the sky and thumping this terrain all aghast. It knocks down huge trees obstructing its path. Instantaneously fiery arrows seemed to be showered from terrific bows on both sides, making their way right into the entrails of the earth. The entire forest range was all aflame. Soon this half-risen scarlet morning sun will explode into bits. Where is the refuge then Taitaliputra ?

तते णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे पोट्टिलं मूसियारधूयं एवं वयासि : पोट्टिले ! एहि ता आयाणाहि : भीयस्स खलु भो पव्वज्जा, अभिउत्तस्स [...] सवहणकिच्चं, मातिस्स रहस्सकिच्चं, उक्कंठियस्स देसगमणकिच्चं, छुहियस्स भोयणकिच्चं, पिवासियस्स पाणकिच्चं, परं

attains those very shapes on such account and is least capable of protecting oneself. A stoic stays unstirred in the face of such mundane occurrences. He retains his absolute composure and is ever unruffled. He is never provoked nor despaired. He never suffers a corresponding sea change as the mundane objects before him do. Such a pious benefactor protects himself as well as others from the forest fire that human existence patently is.

असंमूढो उ जो णेता, मग्गदोसपरक्कमो ।
गमणिज्जं गतिं णाउं, जणं पावेति गामिणं ॥१॥

१. जो नेता मार्ग के दोषों को दूर करने में समर्थ हो तथा गमनीय गति/लक्ष्य का ज्ञाता हो ऐसा कुशलजन गम्यमान (लक्ष्य) को प्राप्त कर लेता है।

1. A pioneer who can negotiate all the turns of the course and master all the techniques necessary in human odyssey will positively lead to the destination.

सिद्धकम्मो तु जो वेज्जो, सत्थकम्मे य कोविओ ।
मोयणिज्जातो सो वीरो, रोगा मोतेति रोगिणं ॥२॥

२. जो शल्य-कर्म का विद्वान् और सिद्धकर्म (सिद्धहस्त) अथवा श्रेष्ठकर्मी वैद्य होता है वह वीर मोचनीय (साध्य) रोगों से रोगी को रोग मुक्त करता है।

2. A talented surgeon can cure the severest maladies to the rescue of his patient.

संजोए जो विहाणं तु, दव्वाणं गुणलाघवे ।
सो उ संजोगणिप्फण्णं, सव्वं कुणइ कारियं ॥३॥

३. जो द्रव्यों के गुण-लाघव के विधान का संयोजन करता है वह संयोग निष्पन्नता उसके समस्त कार्यों/प्रयोगों को (पूर्ण) करती है।

3. One well-versed in intricacies of chemicals can always engineer all necessary chemical proccesses.

विज्जोपयारविण्णाता, जो धीमं सत्तसंजुतो ।
सो विज्जं साहइत्ताणं, कज्जं कुणइ तक्खणं ॥४॥

११. एगादसं मंखलिपुत्तज्झयणं

सिट्ठयणे व्व आणच्चा अमुणी। संखाए य णच्चा एसे तातिते। मं ख लि पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइयं।

निर्मित लोक का ज्ञान (सर्व पदार्थों का ज्ञान) न रहने पर वह अमुनि हो जाता है अथवा वीतराग की आज्ञा प्राप्त करने के लिये लौकिक ज्ञान को प्राप्त करने वाला शिष्ट भी अमुनि हो जाता है और संस्कार तथा (आध्यात्मिक) ज्ञान को प्राप्त करने वाला मुनि, निश्चय से त्रायी—आत्मरक्षक होता है।

ऐसा अर्हत् **मंखलिपुत्र** ऋषि बोले—

One not endowed with the all-comprehensive knowledge is not a Monk (Muni). One fully enlightened is Muni and he commands knowledge that ever shields him.

Said enlightened Mankhaliputra.

से एजति वेयति खुब्भति घट्टति फन्दति चलति उदीरति, तं तं भावं परिणमति, ण से ताती। से णो एजति णो खुब्भति णो वेयति णो घट्टति णो फन्दति णो चलति णो उदीरेति, णो तं तं भावं परिणमति, से ताती। तातीणं च खलु णत्थि एजणा वेदणा खोभणा घट्टणा फन्दणा चलणा उदीरणा तं तं भावं परिणामे। ताती खलु अप्पाणं च परं च चाउरन्ताओ संसारकन्ताराओ तातीति ताई।

जो पदार्थों की परिणति को देखकर कम्पित होता है, अनुभव करता है, क्षुभित होता है, आहत होता है, स्पन्दित होता है, चलायमान होता है, प्रेरित होता है और उन-उन भावों/पदार्थों में रूपान्तरित हो जाता है वह मुनि (स्व का) रक्षक नहीं है। जो पदार्थों को देखकर कंपित नहीं होता है, वेदन अनुभव नहीं करता है, आहत नहीं होता है, स्पन्दित नहीं होता है, चलित नहीं होता है, प्रेरित नहीं होता है, और उन भावों/पदार्थों में रूपान्तरित नहीं होता है वह मुनि (स्व का) रक्षक है। (आत्म) रक्षक मुनि को वस्तुतः न कम्पन होता है, न अनुभव होता है, न उसे क्षोभ होता है, न आहत होता है, न चलायमान होता है, न प्रेरित होता है और न वह उन-उन पदार्थों में परिणमनशील/रूपान्तरित होता है। वस्तुतः ऐसा त्रायी/उपकारी मुनि स्वयं का और दूसरों का चतुर्गतिमय संसाररूपी अटवी (भयंकर जंगल) से रक्षण करता है।

One scared of the transition of things experiences it intimately and is flabbergasted by such transformation, suffers an empathy and

१२. बारसं जण्णवक्कीयज्झयणं

जाव ताव लोएसणा ताव ताव वित्तेसणा, जाव ताव वित्तेसणा ताव ताव लोएसणा। से लोएसणं च वित्तेसणं च परिन्नाए गोपहेणं गच्छेज्जा, णो महापहेणं गच्छेज्जा जण्णवक्केण अरहता इसिणा बुइतं। तंजहा—

जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है। जब तक वित्तैषणा है तब तक लोंकैषणा है। वह मुमुक्षु लोकैषणा और वित्तैषणा का परित्याग कर, गोपथ से जाय। महापथ से न जाय।

ऐसा अर्हत् **याज्ञवल्क्य** ऋषि बोले—तद्यथा—

Mundane yearnings and avarice are concomitants. Let an aspirant choose the creditable course of pious souls and not the tempting one common folk are prone to choose.

Said Yagyavalkya, the enlightened.

जहा कवोता य कविंजला य
गाओ चरन्ती इह पातरासं।
एवं मुणी गोयरियप्पविट्ठे
णो आलवे णो वि य संजलेज्जा ॥१॥

१. जैसे कबूतर, कपिंजल (गोरा) पक्षी और गाय प्रातःकाल भोजन (चरने) के लिए भ्रमण करते हैं इसी प्रकार मुनि गौचरी के लिए भ्रमण करे। गौचरी के लिए भ्रमण करता हुआ मुनि न किसी के साथ संभाषण करे और न किसी पर कुपित होवे।

1. As a pigeon and cow roam about each morning, to seek meals, so should a hermit do. He should, during this course, neither converse nor be angry.

पंचवणीमकसुद्धं, जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा।
तस्स सुलद्धा लाभा, हणणाए विप्पमुक्कदोसस्स ॥२॥

२. जो दोषप्रमुक्त मुनि है वह पांच प्रकार के वनीपकों/याचकों—१. कृपण, २. दीनहीन, ३. ब्राह्मण, ४. कुत्ता और ५. श्रमणों का बाधक न बनता

४. जो सामर्थ्यशाली है, धैर्यशाली है, विद्या/मन्त्रशास्त्र और उपचार—चिकित्सा का ज्ञाता है वह विद्या की साधना कर तत्काल उद्दिष्ट कार्यों को (पूर्ण) करता है।

4. A perseverant and versatile individual who masters vital human sciences like Medicine and Engineering, can accomplish all that is necessary.

णिवत्तिं मोक्खमग्गस्स, सम्मं जो तु विजाणति ।
रागदोसे णिराकिच्चा, से उ सिद्धिं गमिस्सति ।।५।।

५. जो प्रवृत्ति-विमुख मोक्ष मार्ग की स्वरूप रचना को सम्यक् प्रकार से जानता है वह राग-द्वेष का निराकरण कर सिद्धि (सिद्ध-स्थिति) को प्राप्त करता है।

5. One fully aware of the sure device to deliverance, never succumbs to attachment-aversion and achieves the summum bonum.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

मंखलिपुत्तनामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **मंखलिपुत्र** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Mankhaliputra, the enlightened, do pronounce.

मंखलिपुत्र नामक ग्यारहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।११।



१३. तेरसं भयालिणामज्झयणं

किमत्थं णत्थि लावण्णताए ? मे ते ज्जे ण भ या लि णा अरहता इसिणा बुइतं ।

क्या कारण है कि तुम लावण्य (शरीर सौन्दर्य अथवा मैत्री) की रक्षा नहीं करते हो ? इस पर अर्हत् **मेतार्य** (मैत्रेय) **भयालि** नामक ऋषि बोले—

On being questioned why, he was negligent of his own looks, said Bhayali of Maidarya family :

णो हं खलु हो अप्पणो विमोयणट्ठताए परं अभिभविस्सामि, मा णं मा णं से परे अभिभूयमाणे ममं चेव अहिताए भविस्सति ।

भो मुमुक्षु ! मैं अपनी विमुक्ति के लिए दूसरे का पराभव नहीं करूंगा । नहीं, नहीं, वह पराभूत व्यक्ति मेरे लिए ही अहितकारी बनेगा ।

Thou O aspirant hear me, I shall never seek ascent at another's expense. His decline is sure to be my ultimate undoing.

आताणाए उ सव्वेसिं, गिहिबूहणतारए ।
संसारवाससन्ताणं, कहं मे हंतुमिच्छसि ? ।।१।।

१. अभिभूत होने वाला संसारवास से सन्तुष्ट सभी गृहस्थ कहे जाने वाले तारकों/श्रावकों से पूछता है कि किस कारण से मेरा हनन करना चाहते हो ?

1. Such an innocent hermit, ignorant of worldly guiles and steadfast in his norms, questions the confounded mundane folk—what ails you folk to harm a soul like me ?

सन्तस्स करणं णत्थि, णासतो करणं भवे ।
बहुधा दिट्ठं इमं सुट्ठु, णासतो भवसंकरो ।।२।।

२. विद्यमान वस्तु का विधान (कारण) नहीं है और असत् (अविद्यमान वस्तु) का विधान (कारण) प्राप्त नहीं है । बहुधा यह भली-भांति देखा गया है कि भव-परम्परा की प्राप्ति असत् नहीं है ।

हुआ. सम्यक् प्रकार से अन्वेषण करता हुआ भिक्षा (गौचरी) ग्रहण करता है उसे कर्म-नाश का लाभ सुलभ है।

2. A pious hermit never offers impediment to the miser, urchin, Brahmin, Pariah and saints. He seeks his meal carefully and thus diminishes his burden of Karmas.

पंथाणं रूवसंबद्धं, फलावत्तिं च चिन्तए।
कोहातीणं विवाकं च, अप्पणो य परस्स य ॥३॥

३. मुनि स्वमार्ग (श्रमण मार्ग) के अनुरूप का और फलावृत्ति का चिन्तन करे। स्व और पर के क्रोधादिक के विपाक का भी चिन्तन करे।

3. A saint should contemplate the code prescribed for him and its moral implications. He should contemplate the means of purging himself of wrath etc.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

जण्णवक्कीयनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **याज्ञवल्क्य** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Yagyavalkya, the seer, do pronounce.

याज्ञवल्कीय नामक बारहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१२।



६. 'मेरा है' यह समझकर वह मुझे देता है। 'मेरा नहीं है' यह समझकर भी वह मुझे देता है। यदि वह अपना अधिकार समझता है तो वह मुझे नहीं देगा और यदि वह अपना अधिकार नहीं समझता है तो वह मुझे देगा।

6. He awards me something when he finds me owning it already. When I am shorn of all possessions then also he deigns to award me something. However, if he deems his own right over his possessions he spares to award me anything.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

भयालिनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत्, **मैत्रेय भयालि** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I Bhayali, the seer, from Maidarya family do pronounce.

भयालि नामक तेरहवां अध्ययन पूर्ण हुआ।१३।



2. Things extant reveal no primordial cause and the non-extant ones have causes beyond anybody's grasp. It is a common observation that mundane existence is not a figment of imagination.

सन्तमेतं इमं कम्मं, दारेणेतेणुवट्ठियं ।
णिमित्तमेत्तं परो एत्थ, मज्झ मे तु पुरे कडं ।।३।।

३. ये जो विद्यमान कर्म हैं वे भव-परम्परा के द्वार के रूप में उपस्थित हैं। दूसरे तो निमित्त मात्र हैं। वस्तुतः मेरे लिये तो मेरे पूर्वकृत कर्म ही (उत्तर-दायी) हैं।

3. The courses of actions available are like the open sesame to reincarnation. Other factors are no more than conducive circumstances of secondary value. My accumulated deeds alone are the creators of my destiny.

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।
फलत्थी सिंचती मूलं, फलघाति ण सिंचती ।।४।।

४. मूल (जड़) का सींचन करने पर फल की उत्पत्ति होती है। मूल (जड़) का नाश करने पर फल नष्ट हो जाता है। फलार्थी मूल का सिंचन करता है और फलहन्ता मूल का सिंचन नहीं करता है।

4. Nurturing the root yields fruits. Nipping the root exterminates fruition. One craving for fruits, waters the root while one averse to fruit avoids such an eventuality.

लुप्पती जस्स जं अत्थि, णासन्तं किंचि लुप्पती ।
सन्तातो लुप्पती किंचि, णासन्तं किंचि लुप्पती ।।५।।

५. जिसके जो कर्म होते हैं, वे ही लुप्त (नाश) होते हैं। असत् (अविद्य-मान कर्म) का किंचित् भी नाश नहीं होता है। सत् (विद्यमान कर्म) का अल्प नाश होता है किन्तु असत् (अविद्यमान कर्म) का किंचित् भी नाश नहीं होता।

5. A deed meets its own negation. That which does not exist can not meet its negation. That which exists can meet partial negation but that which is non-existent is immune from destruction.

'अत्थि मे' तेण देति, 'नत्थि मे' तेण देइ मे ।
जइ से होज्ज, ण मे देज्जा; णत्थि से, तेण देइ मे ।।६।।

वह दोनों ही लोक में अप्रतिष्ठित हो जाता है (क्योंकि दोनों ही लोक अशाश्वत हैं) ऐसा अकाम बाहुक का (मेरा) मत है। अकाम तप का आचरण करने वाला अकाम मरण से (पूर्व कर्मों के वशीभूत) नरक गति को प्राप्त करता है। पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त कर कामना-रहित दीक्षा ग्रहण करता है। कामना-रहित तप करता है। कामना-रहित मरण को प्राप्त कर निष्काम सिद्धि को प्राप्त करता है।

A being may earn infamy due to motivelessness. This is Bahuk's thesis. One dedicated to penances for the purgation of Karmas may fall into the destiny leading to desirefree death, and thereafter to infernal existence. He then reincarnates in human species and wins desirefree initiation. He devotes himself to desirefree penances and subsequent to desirefree death wins desirefree ultimate achievement.

सकामए पव्वइए, सकामए चरते तवं, सकामए कालगते णरगे पत्ते, सकामए चरते तवं, सकामए कालगते–सिद्धि पत्ते सकामए !

जो कामना सहित दीक्षित हुआ है, कामना सहित तपश्चर्या करता है वह कामना सहित मृत्यु से नरक को प्राप्त करता है। (जो) सकाम तप करता है, सकाम मृत्यु प्राप्त करता है, (क्या वह) सकाम सिद्धि स्थान को प्राप्त करता है ? [नहीं।]

One who has been initiated with motives, performs penances with motives and subsequent to it motive-enlivened spiritual attainments.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

बाहुकणामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण-त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **बाहुक** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Bahuk, the seer, do dronounce.

बाहुक नामक चौदहवां अध्ययन पूर्ण हुआ।

१४. चउद्दसं बाहुकज्झयणं

जुत्तं अजुत्तजोगं ण पमाणमिति बा हु के ण अरहता इसिणा बुइतं ।

युक्त भी अयुक्त से संबद्ध हो तो वह प्रमाणभूत नहीं है । ऐसा अर्हत् **बाहुक** ऋषि बोले—

The valid when in juxtaposition with the invalid loses its claim to validity.

Bahuk, the enlightened spoke thus.

अप्पणिया खलु भो अप्पाणं समुक्कसिय ण भवति बद्धचिन्धे णरवती, अप्पणिया खलु भो य अप्पाणं समुक्कसिय भवति बद्धचिन्धे सेट्ठी । एवं चेव अणुयोये जाणह खलु भो समणा माहणा : गामे अदु वा रण्णे अदु वा गामे णो वि रण्णे

अभिणिस्सए इमं लोगं, परलोगं पणिस्सए ।

भो मुमुक्षु ! राजकीय चिन्हों से सम्पन्न राजा के लिए अपने आपको उत्कृष्ट बताने की आवश्यकता नहीं होती । भो मुमुक्षु ! बद्धचिन्ह श्रेष्ठि के लिए अपने आपको पुनः पुनः उत्कर्षशील बनाने की आवश्यकता होती है । भो श्रमणों ! भो माहणों ! यह अनुयोग इस प्रकार समझना चाहिए । ग्राम में अथवा अरण्य में अथवा दोनों में रहते हुए इह लोक का सेवन करे और परलोक की उपासना करे ।

A prince endowed with paraphernalia need not announce his royalty. A duly decked millionaire hardly needs any overt effort to obtain recognition. Thou O Shramanas and thou Brahmins, please know that this observation applies to villages and forests both and it destroys the existence here and hereafter.

दुहओ वि लोके अपतिट्ठिते । अकामए बा हु ए मते ति अकामए चरए तवं अकामए कालगए णरकं पत्ते, अकामए पव्वइए, अकामते चरते तवं,

अकामए कालगए, सिद्धि पत्ते अकामए ।

2. Does an unhappy soul whose unhappy desert is still latent make it patent ? Or such a one whose evil desert is impending to be patent ? The former case is true. The latter is not true as his evil desert has of its own accord set in motion the manifestation of the latency.

Said Madhurayan, the seer, thus.

दुक्खेण खलु भो अप्पहीणेणं जीए आगच्छन्ति हत्थच्छेयणाइं पादच्छेयणाइं एवं णवमज्झयणगमएणं णेयव्वं जाव सासतं निव्वाणमब्भुवगता चिट्ठन्ति, णवरं दुक्खाभिलावो ।

भो मुमुक्षु ! दुःखों—कर्मों की अल्पहानि होने के कारण ये जीव संसार में पुनः पुनः आते हैं और उनका हस्तच्छेदन होता है, पादछेदन होता है । इस प्रकार इस ग्रन्थ के महाकाश्यप नामक नौवें अध्ययन की तरह समझना चाहिए, यावत् शाश्वत निर्माण को प्राप्त कर सिद्धिगति में स्थित होता है । नवरं—इस अध्ययन का वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ दुःखी आत्मा का निरूपण है ।

O thou Aspirant, Karmas ground in woe are negated too slowly. It results in reincarnations and the individual suffers amputation of hands and feet. So long as one does not free oneself of Karmic smear to win final deliverance, one has to undergo woe. [This chapter repeats what has been recorded in Mahakashyap's discourse (Chapter Nine). Hovever, woe-begone individuals are the main theme of the present chapter.]

पावमूलमणिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं ।
पावमूलाणि दुक्खाणि, पावमूलं च जम्मणं ।।१।।

१. संसार के समस्त देहधारियों के भव-भ्रमण का मूल पाप है । दुःखों का मूल भी पाप है और जन्म-मरण का मूल भी पाप है ।

1. All beings owe their reincarnation to sin. They owe their woe to sin as well as their repeated births.

संसारे दुक्खमूलं तु, पावं कम्मं पुरेकडं ।
पावकम्मणिरोधाय, सम्मं भिक्खु परिव्वए ।।२।।

२. संसार में पूर्वकृत पाप-कर्म ही दुःख का मूल है । पाप-कर्म का निरोध करने के लिए भिक्षु (मुनि) सम्यक् प्रकार का आचरण करे ।

१५. पंचदसं मधुरायणिज्जणामज्झयणं

[१.] सायादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति, असाता-दुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति ? सातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति णो असातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरति । [२.] सातादुक्खेण अभिभूतस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति, असाता-दुक्खेण अभिभूयस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति ? सातादुक्खेण अभिभूतस्स दुक्खिणो दुक्खं उदीरेति । पुच्छा य वागरणं च । [३.] सन्तं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, असन्तं दुक्खी दुक्खं उदीरेति ? सन्तं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, सातादुक्खेण अभिभूतस्स उदीरेति, णो असन्तं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, म धु रा य णे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

[१] साता दुःख से अभिभूत होने पर दुःखी दुःख की उदीरणा करता है ? असाता दुःख से अभिभूत होने पर दुःखी दुःख को प्रेरित करता है ? सुख-दुःख से अभिभूत (पराजित) होने पर दुःखी दुःख को उदीरित-प्रेरित करता है । असाता-पीड़ा दुःख से पराभूत होने पर दुःखी दुःख को प्रेरित नहीं करता है ।

[२] सुख-दुःख से पीड़ित दुःखीजन दुःख को उदीरित करते हैं ? असाता दुःख से पीड़ित दुःखीजन दुःख को प्रेरित करते हैं ? सुख-दुःख से पीडित दुःखीजन दुःख को उदीरित करते हैं ? प्रश्न और व्याकरण अर्थात् उत्तर यहां प्राप्त है ।

[३] दुःखी शान्त (बाधा-रहित) दुःख की उदीरणा करता है ? दुःखी बाधा सहित दुःख की उदीरणा करता है ? दुःखी शान्त दुःख की उदीरणा करता है ? शान्त दुःखों से अभिभूत कर्मों की ही उदीरणा करता है । दुःखी अशान्त दुःखों की उदीरणा नहीं करता है ।

ऐसा अर्हत् **मधुरायण** ऋषि बोले—

1. Is unhappily resultant desert rendered manifest in case of an overly happy subject whose latencies had it in store ? Or is such the destiny of the individuals who are overly unhappy ? A happy self oppressed by an unhappy aftermath and a self oppressed by unrelieved anguish do not trigger the chain of manifestation of unhappy destiny. Unhappy selves oppressed by an unhappy trail of happiness witness the manifestation of unhappy latencies. Same is the case with selves that suffer unhappiness on account of unhappy desert as yet latent. The statement above is an answer to respective moral queries,

मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।
फलत्थी सिंचए मूलं, फलघाती न सिंचति ।।७।।

७. मूल का सिंचन करने पर फल प्राप्त होता है। मूल का नाश करने पर फल का नाश होता है। फलाभिलाषी मूल का सिंचन करता है और फलहन्ता मूल का सिंचन नहीं करता है।

7. Watering the root will positively yield fruit. Nipping the root will exclude all possibility of fruit. One craving for fruit will nurture the root and one wary of the latter will never nurture the former.

दुक्खितो दुक्खघाताय, दुक्खावेत्ता सरीरिणो ।
पडियारेण दुक्खस्स, दुक्खमण्णं णिबन्धई ।।८।।

८. दुःख का अनुभव करता हुआ दुःखाभिभूत देहधारी दुःख का नाश करने के लिए प्रयत्न करता है किन्तु उसका वह एक दुःख का प्रतिकार दूसरे दुःख का उपार्जन कर लेता है।

8. The miserable sufferer endeavours to preclude all misery. However, these endeavours generate further train of miseries, inevitably.

दुक्खमूलं पुरा किच्चा, दुक्खमासज्ज सोयती ।
गहितम्मि अणे पुव्विं, अदइत्ता ण मुच्चइ ।।९।।

९. दुःख का मूल (बीज) पहले बोता है। पश्चात् दुःख प्राप्त होने पर शोक करता है। पूर्व में लिये हुए ऋण (कर्ज) को लौटाये बिना वह ऋण-मुक्त नहीं हो सकता।

9. One first sows the seed of misery and subsequently regrets it. A debtor has no option but to discharge his own debt.

आहारत्थी जहा बालो, वण्हि सप्पं च गेण्हती ।
तहा मूढो सुहत्थी तु, पावमण्णं पकुव्वती ।।१०।।

१०. जैसे खाने की इच्छा वाला बालक अग्नि और सांप को पकड़ लेता है। वैसे ही मूढ व्यक्ति अपने प्रशस्त हाथों से अन्य पाप को ग्रहण कर लेता है।

10. As a hungry infant grasps fire or serpent, so a confounded being voluntarily extends his own hand to grasp a fresh sin.

2. Accumulated Karmas yield pain. Let the saint regulate his conduct so as to exterminate all sin.

सभावे सति कन्दस्स, धुवं वल्लीय रोहणं ।
बीए संबुज्झमाणम्मि, अंकुरस्सेव संपदा ।।३।।

३. वृक्ष के स्कन्द का सद्भाव होने पर लता उस पर अवश्य ही बढ़ेगी। बीज के विकसित होने पर अंकुरों की सम्पदा अवश्य बढ़ेगी।

3. A climber is sure to spread by virtue of a stem that is suitable. Germination always results in seedlings.

सभावे सति पावस्स, धुवं दुक्खं पसूयते ।
णासतो मट्टियापिण्डे, णिव्वत्ती तु घडादिणं ।।४।।

४. पाप का सद्भाव होने पर उससे दुःख की उत्पत्ति अवश्य होगी। मृत्तिकापिण्डके अभाव में घटादि की रचना सम्भव नहीं है। [अर्थात् मृत्पिण्ड है तो घटादि उत्पन्न हो सकते हैं। पाप है, इसीलिए दुःख की सृष्टि है।]

4. A proliferating sin will yield woe. In the absence of clod there can be no pitcher.

सभावे सति कन्दस्स, जहा वल्लीय रोहणं ।
बीयातो अंकुरो चेव, धुवं वल्लीय अंकुरा ।।५।।

५. स्कन्द का सद्भाव होने पर जैसे लता उस पर चढ़ती है और बीज से अंकुर विकसित होते हैं वैसे ही पाप रूपी लता से दुःख अंकुरित होते हैं।

5. As the conduciveness of steme ncourages a climber, and germination a seedling, so does sin to woe.

पावघाते हतं दुक्खं, पुप्फघाए जहा फलं ।
विद्धाए मुद्धसूईए, कतो तालस्स संभवे ? ।।६।।

६. जैसे पुष्प का नाश करने पर फल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही पाप का नाश करने पर दुःख नष्ट हो जाते हैं। ताड़ वृक्ष के अग्र (शिखर) भाग को सूई (कील) से बींध दिया जाय तो क्या उस ताड़ वृक्ष में कभी फल लग सकते हैं ? नहीं लगते।

6. As fruition is exterminated by plucking off a flower, so woes are eliminated by avoiding sins. If the apical of a palm plant be punctured with a needle the plant's non-fruition is preordained,

पावं जे उ पकुव्वन्ति, जीवा साताणुगामिणो ।
वड्ढती पावकं तेसिं, अणग्गाहिस्स वा अणं ॥१५॥

१५. जो सुखाभिलाषी जीव सुख के लिये पाप करते हैं। जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण (कर्ज) बढ़ता जाता है वैसे ही उसके पापों की राशि भी बढ़ती जाती है।

15. Indulgent beings commit sins like a debtor delving headlong in enhancing debts.

अणुबद्धमपस्सन्ता, पच्चुप्पण्णगवेसका ।
ते पच्छा दुक्खमच्छन्ति, गलुच्छिन्ना झसा जहा ॥१६॥

१६. जो केवल वर्तमान सुख को ही खोजते हैं किन्तु उससे अनुबद्ध फल को नहीं देखते हैं वे बाद में उसी प्रकार से दुःख पाते हैं जैसे कण्ठ से बिंधी हुई मछली।

16. Those lost in instant pleasures, oblivious of the concomitant miserable trail are akin to the angled fish unaware of the bait.

आता-कडाण कम्माणं, आता भुंजति जं फलं ।
तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ॥१७॥

१७. आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है और आत्मा ही उनके फल का भोक्ता है। अतः (मुमुक्षु) आत्मोत्कर्ष के लिये पापग्रहण करने वाले मार्ग का त्याग कर दे।

17. The self authors the deeds (Karmas) and itself reaps the harvest. The sole path to elevation is through sinlessness.

सन्ते जम्मे पसूयन्ति, वाहिसोगजरादओ ।
नासन्ते डहते वण्ही, तरुच्छेत्ता ण छिन्दति ॥१८॥

१८. जन्म के सद्भाव में व्याधि, शोक, बुढ़ापा आदि उपाधियां उत्पन्न होती हैं अर्थात् जन्म-मृत्यु का अभाव होने पर किसी भी प्रकार की उपाधि उत्पन्न नहीं होती है। जलने योग्य पदार्थ नहीं है तो आग किसको जलाएगी ? वृक्ष काटने वाला नहीं है तो कुल्हाड़ी किसको काटेगी ?

18. Incarnation yields maladies, woe and senility etc. Once this chain is broken, no such miseries ever rise. If there be no fuel where-from the fire ? If there be no woodcutter where-from rhe cutting by the axe ?

पावं परस्स कुव्वन्तो, हसती मोहमोहितो ।
मच्छो गलं गसन्तो वा, विणिघातं ण पस्सती ।।११।।

११. मोहग्रस्त जीव दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हंसता है। मछली (आटे की गोली को) गले में उतारते समय नाशकारी कांटे को नहीं देखती है।

11. A befuddled sadist commits sins like a fish totally unaware of the angling rod while swallowing the bait.

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लितो ।
दित्तं पावति उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणा ।।१२।।

१२. जैसे जल में रहा हुआ हाथी अत्यधिक उत्तेजित हो जाता है वैसे ही मोहमल्ल से प्रेरित आत्मा वर्तमानिक भोगों में अत्यासक्त और उत्तेजित हो जाती है।

12. As an elephant frolicking in water sport is utterly wanton, so is a voluptuous being engrossed in present lust.

परोवघाततल्लिच्छो, दप्पमोहमलुद्धरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं ण विन्दती ।।१३।।

१३. दूसरे का घात करने में लिप्सु व्यक्ति अहंकार और मोहमल्ल से उद्धत होने के कारण गुण और दोष से शून्य हो जाता है। जैसे जर्जर वृद्ध सिंह उन्मत्त होकर निर्बल प्राणियों का वध करते समय विवेक शून्य हो जाता है।

13. A ruthless vain being is wantonly unconcerned and is morally vacuous. He is like a senile tiger marauding weaklings in the forest.

सवसो पावं पुरोकिच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।
आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्कधारो दुहट्टिओ ।।१४।।

१४. पूर्वकृत पाप-कर्म के वशीभूत होकर दुर्मति जीव दुःख का अनुभव करता है। वह गले में फंदा कस कर दुःख और विपदाओं की धारा में अपने आप को छोड़ देता है।

14. Feeling of misery is the direct outcome of moral lethargy and accumulated sins. One is like a neck-bound victim of one's own doing, immersed in a watery grave.

वण्ही अणस्स कम्मस्स, आमकस्स वणस्स य ।
णिस्सेसं घाइणं सेयो, छिण्णोऽवि रुहती दुमो ।।२३।।

२३. ऋण की अग्नि, कर्म की आग, रोग की आग, और व्रण की आग को जड़ से ही समाप्त करना श्रेयकारी है । क्योंकि, ऊपर से काटने पर भी वृक्ष फिर से उग आता है ।

23. Strike at the root of this chain. Extinguish the deadly fires, the debts, the Karmas, the disease and the injury. Cut the tree in its branches, it will grow again, cut its root, it will never.

भासच्छण्णो जहा वण्ही, गूढकोहो जहा रिपू ।
पावकम्मं तहा लीणं, दुक्खसंताणसंकडं ।।२४।।

२४. भस्माच्छादित अग्नि और प्रच्छन्न क्रोधी शत्रु के समान पाप कर्मों में दुःखों की परम्परा और संकट छिपे रहते हैं ।

24. As the fire covered by ash can burn, an enemy dissimulating anger and out-wardly calm can hit, so the Karmas, envelope a long hidden chain of miseries and pains.

पत्तिन्धणस्स वण्हिस्स, उद्दामस्स विसस्स य ।
मिच्छत्ते यावि कम्मस्स, दित्ता वुड्ढी दुहावहा ।।२५।।

२५. प्रचुर ईन्धन प्राप्त अग्नि, उद्दाम (प्रचण्ड) विष और मिथ्यात्व से आच्छन्न कर्म ये तीनों ही दुःखप्रद और दुःख को बढ़ावा देते हैं ।

25. A fire fed with plenty of fuel, a deadly poison and a Karma that is false, are all a perennial source of untold misery.

धूमहीणो य जो वण्ही, छिण्णादाणं च जं अणं ।
मन्ताहतं विसं जं ति, धुवं तं खयमिच्छति ।।२६।।

२६. धूम्र रहित अग्नि, लेन-देन से रहित ऋण और मन्त्र से आहत विष जैसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ।

26. As a fire with no smoke left, a debt with no further encumbrances and a poison nullified by incantations are soon put out,

दुक्खं जरा य मच्चू य, सोगो माणावमाणणा ।
जम्मघाते हता होन्ती, पुप्फघाते जहा फलं ॥१६॥

१६. जैसे पुष्प का नाश कर देने पर फल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही जन्म का नाश होने पर दुःख, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, और मानापमान नष्ट हो जाते हैं ।

19. As destruction of flower precludes all possibility of fruition, so elimination of reincarnation precludes misery, age,death, bereavement and humiliation.

पत्थरेणाहतो कीवो, खिप्पं डसइ पत्थरं ।
मिगारि ऊसरं पप्पं, सरुप्पत्तिं व मग्गति ॥२०॥

२०. पत्थर से आहत कीव—पक्षिविशेष (लोकोक्ति के अनुसार कुत्ता) शीघ्र ही पत्थर को काटता है । बाण लगने पर सिंह बाण पर न झपटकर बाण फैंकने वाले की ओर झपटता है ।

20. A dog hit by a pelting stone ignorantly begins to bite the stone itself while the wise tiger spares the arrow but attacks the hunter himself.

तहा बालो दुही वत्थुं, बाहिरं णिन्दती भिसं ।
दुक्खुप्पत्तिविणासं तु, मिगारि व्व ण पप्पति ॥२१॥

२१. वैसे ही अज्ञानी जीव, दुःख प्राप्त होने पर (कुत्ते की तरह) बाह्य वस्तुओं पर अत्यन्त क्रुद्ध होता है किन्तु सिंह की तरह दुःखोत्पत्ति के कारणों का विनाश नहीं करता है ।

21. Likewise, the unwise one being afflicts by mundane agonies goes furious over the objects apparent and external, but does not attack the cause that originates the pain.

वणं वण्हि कसाए य, अणं जं वावि दुट्ठितं ।
आमगं च उव्वहन्ता, दुक्खं पावंति पीवरं ॥२२॥

२२. व्रण, अग्नि, कषाय, ऋण आदि घृणित कार्यों को कर, रोग-पीड़ा को धारणकर वे महान् दुःख को प्राप्त करते हैं ।

22. He indulges in heinous acts of all descriptions; injury, fire, passions, debts and the like. These in turn generate diseases and sufferings. Thus goes on the infinite chain.

१६. सोलसं सोरियायणज्झयणं

जस्स खलु भो विसयायारा ण परिस्सवन्ति इन्दिया वा दवेहिं, से खलु उत्तमे पुरिसे त्ति सो रि या य णे ण अरहता इसिणा बुइतं । तं कहमिति ? मणुण्णेसु सद्देसु सोयविसयपत्तेसु णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्जा णो विणिघायमावज्जेज्जा । मणुण्णेसु सद्देसु सोत्तविसयपत्तेसु सज्जमाणे रज्जमाणे गिज्झमाणे मुज्झमाणे आसेवमाणे विप्पवहतो पावकम्मस्स आदाणाए भवति । तम्हा मणुण्णामणुण्णेसु सद्देसु सोयविसयपत्तेसु णो सज्जेज्जा णो रजेज्जा णो गिज्झेज्जा णो मुज्झेज्झा णो आसेवमाणे वि (प्पवहतो....भवेज्जा) । एवं रूवेसु गंधेसु रसेसु फासेसु । एवं विवरीएसु णो दूसेज्जा ।

भो मुमुक्षु ! जिसके इन्द्रियों का वेग द्रवित वस्तु—जल की तरह विषयाचार में नहीं बहता है, वह निश्चय से उत्तम पुरुष है ।

ऐसा अर्हत् **शौर्यायण ऋषि** बोले—

उन इन्द्रियों के वेग का बहाव किस प्रकार का है ? मुमुक्षु श्रोत्रेन्द्रिय विषय को प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में आसक्त न हो, अनुरक्त न हो, लुब्ध न हो, मोहित न हो, और न अपने में व्याधात का अनुभव करे । कर्णेन्द्रिय विषय को प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में आसक्त, अनुरक्त, लोलुप और मोहित होकर सेवन करने वाला और उसमें बहने वाला पाप-कर्मों को ग्रहण करता है । अतः मुमुक्षु कर्णेन्द्रिय विषय को प्राप्त मनोज्ञ शब्दों में न आसक्ति करे, न अनुराग करे, न गृद्ध हो, न मोहित हो, न उपसेवना करे और न उसमें डूबे । इसी प्रकार रूप (चक्षुरिन्द्रिय), गन्ध (घ्राणेन्द्रिय), रस (जिह्वेन्द्रिय) और स्पर्श (स्पर्शेन्द्रिय) के विषय को प्राप्त मनोज्ञ पर अनुरागादि न करे । इसी प्रकार श्रोत्र-चक्षु-घ्राण-जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय के विषय को प्राप्त अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध, रस एवं स्पर्श पर द्वेष न करे ।

Know it Aspirant, he is an elevated soul whose senses flow not libidinously towards their objects like a fluid.

Shauryayan, the seer, further eleborated regarding the nature of sensual outflow. Let not the aspirant be stirred, moved, perturbed, enticed and allured of tempting sounds. One whose ears are prone to fall for enticing, tempting, bewitching sounds is sure to commit related sins. The aspirant should not be charmed and bewitched to the point of reinless indulgence in such melodious temptations. Similarly should one shield

छिण्णादाणं धुवं कम्मं, भिज्जते तं तहाहतं ।
आदित्तरस्सितत्तं व, छिण्णादाणं जहा जलं ।।२७।।

२७. वैसे ही कर्म-ग्रहण (आस्रव) रहित होने पर कर्म भी क्षीण होकर नष्ट हो जाते हैं। जैसे सूर्य की प्रखर किरणों से जल गर्म हो जाता है और सूर्य किरणों का साहचर्य-सम्पर्क न रहने पर जल पुनः शीतल हो जाता है।

27. So the Karmas with no further ingress are soon eliminated. The strong rays of the sun heat the water, when they are withdrawn, it will soon revert to its natural cold.

तम्हा उ सव्वदुक्खाणं, कुज्जा मूलविणासणं ।
वालग्गाहि व्व सप्पस्स, विसदोसविणासणं ।।२८।।

२८. अतः मुमुक्षु समस्त दुःखों के मूल (जड़) को समाप्त करे। जैसे सपेरा सांप के विष-दोष को समाप्त करता है।

28. A Monk should, therefore, do away with the root of all pains and miseries—just as a snake-charmer nullifies the poisonous effect of the snakebite.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि हव्वमागच्छति त्ति बेमि

मधुरायणिज्जणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **मधुरायण** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Arhat Madhurayana, do pronounce.

मधुरायण नामक पन्द्रहवां अध्ययन पूर्ण हुआ।

—: o :—

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **शौर्यायण** ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Shauryayan, the seer, do pronounce.

शौर्यायण नामक सोलहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१६।

—: o :—

oneself from temptations of vision, smell, taste and touch. Nor should these stimuli cause abhorrenceto relevant senses.

दुद्दन्ता इन्दिया पंच, संसाराए सरीरिणं ।
ते च्चेव णियमिया सन्ता, णेज्जाणाए भवन्ति हि ।।१।।

१. शरीरधारियों की दुर्दान्त (दुर्दम) बनी हुई ये पांचों इन्द्रियां संसार-भ्रमण का कारण बनती हैं । ये ही दुर्दान्त इन्द्रियां नियन्त्रित होने पर संसारराहित्य का कारण बनती हैं ।

1. These senses, when reinless, generate this mundane existence. Once they are restrained, they dispense with bondages of mundane existence.

दुद्दन्ते इन्दिए पंच, रागदोसपरंगमे ।
कुम्मो विव सअंगाइं, सए देहम्मि साहरे ।।२।।

२. जैसे (आघात की आशंका होने पर) कछुआ अपने शरीर के अवयवों का सगोपन करता है वैसे ही राग-द्वेष से छुटकारा पाने के लिए मुमुक्षु इन दुर्दान्त पांचों इन्द्रियों का संगोपन करे ।

2. As a tortoise, when apprehensive withdraws itself into its shell so does an ascetic his senses to protect himself from attraction-aversion.

वण्ही सरीरमाहारं, जहा जोएण जुंजती ।
इन्दियाणि य जोए य, तहा जोगे वियाणसु ।।३।।

३. जैसे अग्नि (जठराग्नि) आहार को इन्द्रियों की सक्रियता से औचित्य के साथ शरीर में परिणित करती है वैसे ही इन्द्रियों पर योग (मन-वचन-काय योग) के साथ नियमन करने की प्रक्रिया को जानो ।

3. As gastric juices assimilate food for the benefit of the different organs of the body, so one should regulate one's senses by mental, oral and bodily regulation.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो इच्चत्थं पुणरवि हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

सोरियायणणामज्झयणं ।

४. सम्यक् रूप से कर्म का परिज्ञान होना चाहिए। पश्चात् कर्म के विमोचन का परिज्ञान होना चाहिए। कर्म विमोचन का परिज्ञान और उसका आचरण करने पर जीव कर्ममुक्त हो जाता है।

4. One should have adequate knowledge of Karma. Then should one know the device to negate the Karma. Such a device alone will confer deliverance.

मम्मं ससल्लजीवं च, पुरिसं वा मोहघातिणं।
सल्लुद्धरणजोगं च, जो जाणइ स सल्लहा ॥५॥

५. जो जीव के सशल्य मर्म को, मोहनाशक पुरुष को और शल्यनाश के योग को जानता है वह शल्य का नाश करता है।

5. One who knows the essence of the sin, the dispassioned self that can disillusion and the means of disillusionment alone can cure the sin of illusion.

बन्धणं मोयणं चेव, तहा फलपरंपरं।
जीवाण जो विजाणाति, कम्माणं तु स कम्महा ॥६॥

६. जो बन्धन और मोचन को, उसकी फल परम्परा तथा जीवों के कर्मों को भी जानता है वही कर्मों का नाश करता है।

6. One well-versed in the knowledge of bondage, liberation and their repercussions, alone can destroy Karmas.

सावज्जजोगं णिहिलं विदित्ता,
तं चेव सम्मं परिजाणिऊणं।
तीतस्स णिन्दाए समुट्ठितप्पा,
सावज्जवुत्तिं तु ण सद्दहेज्जा ॥७॥

७. सावद्य योग को पूर्णरूपेण जानकर और उसका सम्यक् प्रकार से परिज्ञान कर पूर्वकृत पापों की निन्दा के लिये तत्पर आत्मा सावद्य वृत्ति पर श्रद्धा न करे।

7. Comprehending fully the associative tendency of sin, a soul, bent upon abandoning the encumbrance of accumulated Karmas, should not associate with the sinful tendencies.

१७. सत्तदसं विदुणामज्झयणं

इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा ।
जं विज्जं साहइत्ताणं, सव्वदुक्खाण मुच्चती ।।१।।

१. वह विद्या महाविद्या है और समस्त विद्याओं में प्रशस्ततम है । इस विद्या का साधन कर आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त होती है ।

1. Here-in is contained supreme knowledge. It is knowledge par excellence. Once it is practised the soul is freed of all misery.

जेण बन्धं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं ।
आयाभावं च जाणाति, सा विज्जा दुक्खमोयणी ।।२।।

वि दु णा अरहता इसिणा बुइतं ।

२. जिस विद्या से बन्ध और मोक्ष, गति और आगति तथा आत्म भाव का परिज्ञान होता है वही विद्या दुःख-मोचनी है ।

ऐसा अर्हत् विदु ऋषि बोले—

2. That knowledge is truly-beneficial which imparts discretion to discern bondage from liberation, happy destiny from an unenviable one.

Added Vidu, the seer :

सम्मं रोगपरिण्णाणं, ततो तस्स विणिच्छितं ।
रोगोसहपरिण्णाणं, जोगो रोगतिगिच्छितं ।।३।।

३. सम्यक् रूप से सर्वप्रथम रोग का परिज्ञान होना चाहिए । पश्चात् रोग का निदान होना चाहिए । रोग की औषध का परिज्ञान होना चाहिए । तभी उस औषध के सेवन से रोग की चिकित्सा हो सकती है अर्थात् रोग मुक्त हो सकता है ।

3. You should have an exhaustive knowledge of the disease. Then you should diagnose it carefully. You should have adequate knowledge of medicine. Then alone the remedy can cure the malady.

सम्मं कम्मपरिण्णाणं, ततो तस्स विमोक्खणं ।
कम्ममोक्खपरिण्णाणं, करणं च विमोक्खणं ।।४।।

१८. अट्ठदसं वरिसवज्झयणं

अयते खलु भो जीवे वज्जं समादियति । से कहमेतं ? पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेणं, अरति जाव मिच्छादंसणसल्लेणं वज्जं समाइत्ता हत्थच्छेयणाइं पायच्छेयणाइं जाव अणुपरियट्टन्ति णवमुद्देसगमेणं । जे खलु भो जीवे णो वज्जं समादियति, से कहमेतं ? व रि स व क ण्हे ण अरहता इसिणा बुइतं । पाणाइवातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं सोइन्दिय ५-णिग्गहेणं णो वज्जं समज्जिणित्ता हत्थच्छेयणाइं पायच्छेयणाइं जाव दोमणस्साइं वीतिवतित्ता सिवमचल- जाव चिट्ठन्ति ।

भो ! जीव दुःखी होने पर प्राणिवधादिक पापकर्म स्वीकार करता है, वह कैसे ? प्राणातिपात (हिंसा) यावत् परिग्रह, अरति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से पाप-कर्म का उपार्जन करता है । इसके फलस्वरूप वह नवम महाकाश्यप अध्ययन में प्रतिपादित हस्तच्छेदन, पादछेदन आदि असीम दुःखों को प्राप्त करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है ।

भो ! जो जीव प्राणिवधादिक पापकर्म स्वीकार नहीं करता है, वह कैसे ?

इस पर अर्हत् **वर्षप** (वरिसव) ऋषि बोले—

प्राणातिपात (हिंसा) से निवृत्ति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य अर्थात् १८ पाप-स्थानों से निवृत्ति और श्रोत्रेन्द्रियादि पांचों इन्द्रियों का निग्रह कर जो पाप-कर्म का उपार्जन नहीं करता है । फलस्वरूप वह हस्तच्छेदन पादछेदन यावत् दुश्चिन्ता पर्यन्त दुःख-समूह को व्यतिक्रान्त (नाश) करके शिव, अचल यावत् शाश्वत स्थान को प्राप्त कर स्थिति करता है ।

What makes you folk indulge in butchering and the like ? What makes you commit violence, acquisition, insincere deeds and thus pile up sins ? The consequence is that the unwise author of such deeds suffers amputation of arms and feet, as narrated in the ninth discourse of Mahakashyap.

How is it that the wise never indulge in killing and exterminating life ?

सज्झायज्झाणोवगतो जितप्पा, संसारवासं बहुधा विदित्ता ।
सावज्जवुत्तीकरणेऽठितप्पा, निरवज्जवित्ती उ समाहरेज्जा ।।८।।

८. स्वाध्याय-ध्यान में संलग्न जितेन्द्रिय संसारवास का समस्त प्रकार से परिज्ञान कर, सावद्य प्रवृत्ति के कार्यों से अमना होकर निरवद्य प्रवृत्ति का आचरण करे ।

8. Absorbed in spiritual study and meditation, an austere being should comprehend mundane associations and evolving an apathy towards these, he should cultivate asceticism.

परकीयसव्वसावज्जं जोगं इह अज्ज दुच्चरियं णायरे अपरिसेसं ।
णिरवज्जे ठितस्स णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्तए ।।

समस्त परकीयवृत्ति सावद्य योग हैं और दूषित व्यवहार हैं, ऐसा समझ कर वह श्रेष्ठ पुरुष उसका आचरण न करे । पूर्णरूपेण निरवद्य व्यापार में स्थित आत्मा, पुनः सावद्य व्यापार का आचरण करने की कल्पना भी नहीं करता है ।

All acquisitive urge and greed are reprehensile. A noble man should understand it and avoid such a conduct. A soul deeply grounded in asceticism would not even conceive of a relapse into mundane ways.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

विदुणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **विदु** ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Vidu, the seer, do pronounce.

विदु नामक सतरहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१७।

१९. एगूणवीसं आरियायणज्झयणं

सव्वमिणं पुराऽऽरियामासि । आ रि या य णे णं अरहता इसिणा बुइतं ।

पहले समस्त जन आर्य थे ।

ऐसा अर्हत् **आर्यायन** ऋषि बोले—

Aryayan, the seer, declared that in the beginning all were Aryans i.e. the civilised and cultured beings.

वज्जेज्जऽणारियं भावं, कम्मं चेव अणारियं ।
अणारियाणि य मित्ताणि, आरियत्तमुवट्ठिए ॥१॥

१. अनार्य विचार, अनार्य आचार और अनार्य मित्रों का परित्याग करे तथा आर्यत्व प्राप्त करने के लिए तैयार हो जाए ।

1. Incivil ideas, incivil conduct and incivil company should be shunned.

जे जणाऽणारिए णिच्चं, कम्मं कुव्वन्तऽणारिया ।
अणारिएहि य मित्तेहिं, सीदन्ति भवसागरे ॥२॥

२. जो मानव अनार्य हैं वे अनार्य मित्रों के साथ मिलकर सर्वदा अनार्य कर्म करते हैं, वे भव सागर में दुःखों को प्राप्त करते हैं ।

2. Incivil beings seek a similar company and combinedly indulge reprehensible conduct. They are deemed to suffer vicissitudes of the mundane existence.

संधिज्जा आरियं मग्गं, कम्मं जं वा वि आरियं ।
आरियाणि य मित्ताणि, आरियत्तमुवट्ठिए ॥३॥

३. आर्यत्व प्राप्त होने पर अथवा आर्यत्व प्राप्त करने के लिये आर्य मार्ग, आर्यकर्म और आर्यमित्रों का अनुसन्धान करे ।

3. On attaining civilized and cultured status of Aryans, one should adopt this path, regulate one's conduct accordingly and keep company with like individuals.

Said Varshap :

One who determinedly shields oneself from butchering, insincere action, sins of eighteen kinds, suborns the five senses and avoids scrupulously all sinful actions; escapes amputation of limbs and wins the supreme inviolable state.

सकुणी संकुप्पघातं च, वरत्तं रज्जुगं तहा ।
वारिपत्तधरो च्चेव, विभागम्मि विहावए ।।१।।

१. जैसे शकुनी पक्षी अपनी तीक्ष्ण चोंच से फल को छेद देता है, वैरि राज्य को खण्ड खण्ड कर देता है, वारिपत्रधर—कमल जल से पृथक् रहता है वैसे ही विशुद्ध आत्मा अपने से पापकर्मों को दूर कर देता है ।

1. As a sharp-beaked bird evacuates a fruit, an enemy ruins an empire, a lotus stays intact of water, so a chastened soul discards all sins.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

वरिसवणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता ।

ऐसा मैं (अर्हत् **वर्षप** ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachments. Such a being is freed of the chain of reincarnation.

Thus I, Varshap, the seer, do pronounce.

वर्षप नामक अठारहवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१८।



२०. बीसं उक्कलज्झयणं

पंच उक्कला पन्नत्ता, तंजहा : दण्डुक्कले १. रज्जुक्कले २. तेणुक्कले ३ देसुक्कले ४ सव्वुक्कले ५।

पांच प्रकार के उत्कल अर्थात् धर्मरहित बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं–१. दण्डोत्कल, २. रज्जूत्कल, ३. स्तेनोत्कल, ४. देशोत्कल और ५. सर्वोत्कल।

There are five schools of non-spiritual materialism :

[१.] से किं तं 'दण्डुक्कले'? दण्डुक्कले नामं जे णं दण्डदिट्ठन्तेणं आदिल्लमज्झवसाणाणं पण्णवणाए 'समुदयमेत्ता' भिधाणाइं "णत्थि सरीरातो परं जीवो" त्ति भवगतिवोच्छेयं वदति। से तं दण्डुक्कले।

१. दण्डोत्कल किसे कहते हैं? दण्डोत्कल उसे कहते हैं, जो दण्ड (लकड़ी) के दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित करते हैं कि दण्ड का आदि, मध्य और अन्तिम हिस्सा पृथक्-पृथक् अस्तित्व वाला न होकर दण्ड का समुदाय मात्र है, उसी प्रकार शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। शरीर का नाश होते ही भव अर्थात् संसार का नाश हो जाता है। ऐसी जो प्ररूपणा करते हैं उन्हें दण्डोत्कल कहते हैं।

1. One school (Dandotkal) relies on the parallel of a stick. They insist that like the inseparable top, middle and end of a stick the soul is an extension of, and is not conceivable separate from, body. Once the body is shed the world exists no more.

[२.] से किं तं 'रज्जुक्कले'? रज्जुक्कले णामं जे णं रज्जुदिट्ठन्तेणं समुदयमेत्तपन्नवणाए 'पंचमहब्भूतखन्धमेत्ता' भिधाणाइं संसार-संसतिवोच्छेयं वदति। से तं रज्जुक्कले।

२. रज्जूत्कल किसे कहते हैं? रज्जूत्कल उसे कहते हैं जो रज्जु (रस्सी) के दृष्टान्त के माध्यम से यह प्रतिपादित करते हैं कि जीव पांच महाभूतों के अंश का समुदायमात्र है, अर्थात् जीव का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। पांच महाभूतों का नाश होते ही संसार-परम्परा का उच्छेद हो जाता है। ऐसा जो प्रतिपादित करते हैं उन्हें रज्जूत्कल कहते हैं।

2. Another school (Rajjutkal) relies on the example of a rope. They avail that the individual is a mere combination of the five elements. Self does not exist away from those physical elements. Once the five

जे जणा आरिया णिच्चं, कम्मं कुव्वंति आरियं ।
आरिएहि य मित्तेहि, मुच्चन्ति भवसागरा ।।४।।

४. जो मानव आर्य हैं, आर्यमित्रों के साथ मिलकर सर्वदा आर्य कर्म करते हैं, वे भवसागर से मुक्त हो जाते हैं ।

4. Having attained high civilisation worthy of Aryans, a company is sought of the like individuals and on working in that noble direction they earn final deliverance.

आरियं णाणं साहू, आरियं साहु दंसणं ।
आरियं चरणं साहू, तम्हा सेवय आरियं ।।५।।

५. आर्य का ज्ञान श्रेष्ठ है । आर्य का दर्शन श्रेष्ठ है । आर्य का चारित्र श्रेष्ठ है । अतः आर्य की ही उपासना करनी चाहिए ।

5. Aryans master superb knowledge, their philosophy is superb, and so is their conduct. We should emulate Aryans ever and anon.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो इच्चत्थं पुणरवि हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

आरियायणज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **आर्यायण** ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then for an aspirant to attain purity, enlightenment, *emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being* is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Aryayan, do pronounce.

आर्यायण नामक उन्नीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।१९।

—:०:—

पदार्थ की सार्थकता का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार सर्वविच्छेद की जो मान्यता रखते हैं उन्हें सर्वोत्कल कहते हैं।

5. The last school of this class, called Sarvotkal, denies purpose behind all the entities. They believe in refuting everything.

उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थका, एस आतापज्जवे कसिणे तयपरियन्ते जीवे, एस जीवे जीवति, एतं तं जीवितं भवति। से जहा णामते दड्ढेसु बीएसु ण पुणो अंकुरुप्पत्ती भवति, एवामेव दड्ढे सरीरे ण पुणो सरीरुप्पत्ती भवति। तम्हा इणमेव जीवितं, णत्थि परलोए, णत्थि सुकडदुक्कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसे। णो पच्चायन्ति जीवा, णो फुसन्ति पुण्णपावा, अफले कल्लाणपावए। तम्हा एतं सम्मं ति बेमि : उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थका एस आयाप[ज्जवे] क[सिणे] तयपरितन्ते एस जीवे। एस मडे, णो एतं तं [जीवितं भवति]। से जहा णामते दड्ढेसु बीएसु [...] एवामेव दड्ढे सरीरे [...]। तम्हा पुण्णपावऽग्गहणा सुहदुक्खसंभवाभावा सरीरदाहे पावकम्माभावा सरीरं डहेत्ता णो पुणो सरीरुप्पत्ती भवति॥

ऊपर से लेकर चरणतल तक और नीचे से लेकर मस्तक के केशाग्र तक, इस आत्मा के पर्याय हैं। समस्त शरीर की त्वचा पर्यन्त जीव है। यह जीव का प्राण-धारण है। इसी को जीवित कहा जाता है। जैसे जले हुए बीजों में फिर से अंकुर नहीं निकलते, वैसे ही शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः यही जीवन है। परलोक नहीं है। सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल-व्यापार भी नहीं है। जीव पुनः आता भी नहीं है। पुण्य और पाप आत्मा को स्पर्श भी नहीं करते हैं। पुण्य और पाप निष्फल हैं। इसलिये मैं ठीक कहता हूँ कि ऊपर से चरणतल तक और नीचे से मस्तक के केशाग्र तक इस आत्मा के पर्याय हैं। समस्त शरीर की त्वचा पर्यन्त यही जीव है। यह जीव (कर्मरहित) मर जाता है तो पुनः जीव नहीं आता है। जैसे जले हुए बीजों में फिर से अंकुर नहीं निकलते, वैसे ही शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः पुण्य-पाप का ग्रहण ही नहीं होता है। सुख-दुःख की संभावना का भी अभाव है, क्योंकि शरीर के जल जाने से पापकर्म का अभाव/नाश हो जाता है, शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है।

The entire organism from head to foot is an extenison of soul. Self exists right upto the skin. It sustains the individual. It justifies spe-

elements (earth, water, fire, air and ether) are disintegrated, there exists no world.

[३.] से किं तं 'तेणुक्कले' ? तेणुक्कले णामं जे णं अण्णसत्थ-दिट्ठन्तगाहेहिं सपक्खुब्भावणाणिरए "मम नेतं" इति परकरुणच्छेदं वदति । से तं तेणुक्कले ।

३. स्तेनोत्कल किसे कहते हैं ? स्तेनोत्कल उसे कहते हैं जो अन्य शास्त्रों में प्राप्त दृष्टान्त और गाथाओं के माध्यम से अपने पक्ष का प्रकटीकरण अथवा उन्नति करने में व्यस्त रहता है । मेरा कथन ही सत्य है, अन्य नहीं, ऐसी प्ररूपणा करता हुआ दूसरे की करुणा अथवा समभाव का विनाश करता है । ऐसा जो कथन करते हैं उन्हें स्तेनोत्कल कहते हैं ।

3. The third school (Stenotkal) culls like ideas and illustrations from sundry scriptures to lend strength to its dogma. They are utterly dogmatic and opinionated in favour of their ideology. They are least considerate in disputations.

[४.] से किं तं 'देसुक्कले' ? देसुक्कले णामं जे णं "अत्थि न्नेस" इति सिद्धे जीवस्स अकत्तादिएहिं गाहेहिं देसुच्छेयं वदति । से तं देसुक्कले ।

४. देशोत्कल किसे कहते हैं ? देशोत्कल उसे कहते हैं जो आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित है, ऐसा स्वीकार करते हुए भी आत्मा को अकर्त्ता आदि कहता हुआ, आत्मा के एक देश का उच्छेद करता है । ऐसी जो मान्यता रखते हैं उन्हें देशोत्कल कहा जाता है ।

4. The fourth school (Deshotkal) concedes so far as the existence of soul as an entity is concerned. They treat it as the non-doer and ignore one aspect of the soul.

[५.] से किं तं 'सव्वुक्कले' ? सव्वुक्कले णामं जे णं "सव्वतो सव्वसंभवाभावा णो तच्चं, सव्वतो सव्वहा सव्वकालं च णत्थि" त्ति सव्वच्छेदं वदति । से तं सव्वुक्कले ।

५. सर्वोत्कल किसे कहते हैं ? सर्वोत्कल उसे कहते हैं जो समस्त पदार्थों की सार्थकता को अस्वीकार करता है और प्रतिपादित करता है कि समस्त कालों में

२१. एगवीसं गाहावइज्जं नामज्झयणं

णाहं पुरा किंचि जाणामि, सव्वलोकंसि । गा हा व ति पुत्ते ण तरुणेण अरहता इसिणा बुइतं ।

मैं पहले समस्त लोक के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता था। ऐसा अर्हत गाथापति-श्रेष्ठि पुत्र तरुण ऋषि बोले—

Initially I was utterly ignorant of the universe, said Gathapati trader's son Tarun, the seer :

अण्णाणमूलकं खलु भो पुव्वं न जाणामि न पासामि नोऽभिसमावेमि नोऽभिसंबुज्झामि, नाणमूलाकं खलु भो इयाणि जाणामि पासामि अभिसमावेमि अभिसंबुज्झामि। अण्णाणमूलयं खलु मम कामेहिं किच्चं करणिज्जं, णाणमूलयं खलु मम कामेहिं अकिच्चं अकरणिज्जं। अण्णाणमूलयं जीवा चाउरन्तं संसारं जाव परियट्टयन्ति, णाणमूलयं जीवा चाउरन्तं जाव वीयीवयन्ति। तम्हा अण्णाणं परिवज्ज णाणमूलकं सव्वदुक्खाणं अन्तं करिस्सामि, सव्वदुक्खाणं अन्तं किच्चा सिवमचल-जाव सासतं अब्भुवगते चिट्ठिस्सामि।

भो! अज्ञानमूलक (ज्ञानहीन) होने के कारण यह मैं पहले न जानता था, न देखता था, न समझता था और न अवबोध ही रखता था। भो! ज्ञानमूलक (ज्ञानवान्) होने पर अब मैं जानता हूँ, देखता हूँ, समझता हूँ और अवबोध रखता हूँ। अज्ञानमूलक (ज्ञानहीन) होने के कारण काम के वशीभूत होकर मैंने कार्य किये हैं। ज्ञान सम्पन्न होने पर मेरे लिए काम के वशीभूत होकर कार्य करना अकरणीय है, अयुक्त है। अज्ञानमूलक जीव चतुर्गतिरूप संसार में यावत् परिभ्रमण करते हैं। ज्ञानमूलक जीव चतुर्गतिरूप संसार का यावत् त्याग (नाश) करते हैं। अतः अज्ञान का परित्याग कर, मैं ज्ञान-सम्पन्न होकर समस्त दुःखों का अन्त करूंगा। समस्त दुःखों का अन्त कर शिव, अचल, यावत् शाश्वतस्थान को प्राप्त कर स्थिति करूंगा।

Being ignorant earlier I knew nothing, I saw nothing and comprehended nothing. Having mastered all knowledge, now I know, I understand and comprehend. During my previous ignorant existence I was driven by desire. Being enlightened now, to be motivated by desire is

llation of living. Roasted seeds never germinate. Similarly a body burnt cannot be reincarnated. Body and life are co-terminous. There is no hereafter. There does not exist any system of moral desert. The individual is never reborn. Good and evil moral destiny never touch the soul. Virtue and vice mean nothing. Soul is what you see in the physical being of the individual. Body and soul are synonymous. Once the soul dies, it is never reborn. Like the roasted seed, a body burnt is a life dispersed off for good. Virtuous and vicious aftermath of deeds is non-existent and cannot affect the self. Happy or unhappy destiny is fiction as a burnt body is a completely closed chapter.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

उक्कलज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I Utkal, the seer, do pronounce.

उत्कल नामक बीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।२०।

—: o :—

4. It was my ignorance to which I owe my previous reincarnations, fraught with anguish and agony of all sorts, lasting to aeons in the fathomless gulf of existence.

दीवे पातो पयंगस्स, कोसियारिस्स बन्धणं ।
किंपाकभक्खणं चेव, अण्णाणस्स णिदंसणं ।।५।।

५. पतंग का दीपक पर गिरना, कोशियार-रेशम के कीड़े का बन्धन और किंपाक फल का भक्षण अज्ञान को ही प्रकट करता है ।

5. The self-immolation of moths on a flame, self-cocooning of the silk worm, or consumption of lethal fruit are all instances of ignorance.

बितियं जरो दुपाणत्थं, दिट्ठो अण्णाणमोहितो ।
सम्भग्गगातलट्ठी उ, मिगारी णिधणं गओ ।।६।।

६. अज्ञान से मोहित वृद्ध सिंह जल में अपनी परछाईं को शत्रु रूप दूसरे सिंह की परछाईं देखकर, समझकर कूद पड़ता है, फलस्वरूप उसकी देहयष्टि (शरीर) भग्न हो जाती है और वह मृत्यु प्राप्त करता है ।

6. The fatuous aged tiger leaps into the lake, deeming its watery image as an adversary and thus casts its life in ignorance.

मिगारी य भुयंगो य, अण्णाणेण विमोहिता ।
गाहादंसणिवातेणं, विणासं दो वि ते गता ।।७।।

७. अज्ञान से विमोहित सिंह और सांप पंजा और दंश के प्रहार से दोनों विनाश को प्राप्त हुए ।

7. It is in ignorance that the serpent and tiger are engaged in a duel, the former stinging the latter and the latter clawing the former, to mutual death.

सुप्पियं तणयं भद्दा, अण्णाणेण विमोहिता ।
माता तस्सेव सोगेण, कुद्धा तं चेव खादति ।।८।।

८. अज्ञान से विमोहित होकर सुप्रिय नामक पुत्र की माता भद्रा उसी के शोक से क्रुधित होकर अपने पुत्र सुप्रिय का भक्षण करती है ।

irrational for me. Ignorant beings keep orbiting in the four phases of mundane existence.

I resolve to attain enlightenment and renounce all woe. I will stay ever and anon on the pedestal of equanimity, blissful and unmoved and be delivered of all possible woes.

अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।
अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं ॥१॥

१. अज्ञान ही परम दुःख है। अज्ञान से ही भय उत्पन्न होते हैं। समस्त शरीरधारियों के लिए संसार-परम्परा का मूल भी अज्ञान ही है।

1. The severest woe is ignorance. Ignorance feeds apprehension. It is the root cause of reincarnations.

मिगा बज्झन्ति पासेहिं, विहंगा मत्तवारणा ।
मच्छा गलेहि सासन्ति, अण्णाणं सुमहब्भयं ॥२॥

२. अज्ञान के कारण ही हरिण, पक्षी और हाथी पाश से बन्धते हैं। मत्स्यों के कण्ठ बींधे जाते हैं। अज्ञान ही संसार का सबसे बड़ा भय है।

2. Ignorance leads deers, birds and elephants to bondage and fish to death. There is no graver sin than ignorance.

जम्मं जरा य मच्चू य, सोको माणोऽवमाणणा ।
अण्णाणमूलं जीवाणं, संसारस्स य संतती ॥३॥

३. अज्ञान से ही जीव जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक और मानापमान प्राप्त करते हैं। जीवों की भव-परम्परा भी अज्ञानमूलक है।

3. It is ignorance that blights individuals with birth, age, death, grief and honour-humiliations. Reincarnation is the direct outcome of ignorance.

अण्णाणेण अहं पुव्वं, दीहं संसारसागरं ।
जम्मजोणिभयावत्तं, सरन्तो दुक्खजालकं ॥४॥

४. अज्ञान के कारण ही मैंने पहले जन्म (योनि) जनित भय चक्र के विस्तृत दुःखजाल में फंसकर दीर्घ काल तक संसारसागर में परिभ्रमण किया है।

२२. दुवीसं गद्दभीयज्झयणं

परिसाडी कम्मे अपरिसाडिणो बुद्धा, तम्हा खलु अपरिसाडिणो बुद्धा णोवलिप्पन्ति रएणं पुक्खरपत्तं व वारिणा। द ग भा ले ण अरहता इसिणा बुइतं।

कर्मों को पृथक् करना चाहिए। कर्मों को पृथक् न करने वाले अबुद्ध/अज्ञानी होते हैं। कर्मों को पृथक् करने वाले प्रबुद्ध कर्मरज से वैसे ही अलिप्त रहते हैं जैसे जल से कमल।

ऐसा अर्हत् **दगभाल/गर्दभालि** ऋषि बोले–

Actions (Karmas) should be segregated. Those who fail to do so are ignorant. The wise who succeed in segregating their Karmas are intact of the Karmic smear like a lotus in pond.

Thus spoke Dagbhal, the seer :

पुरिसादीया धम्मा पुरिसपवरा पुरिसजेट्ठा पुरिसकप्पिया पुरिसपज्जोविता पुरिससमन्नागता पुरिसमेव अभिउंजियाणं चिट्ठन्ति। से जहा नामते अरती सिया सरीरंसि जाता सरीरंसि वड्ढिया सरीरसमन्नागता सरीरं चेव अभिउंजियाण चिट्ठति, एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव चिट्ठन्ति। एवं गण्डे वम्मीके थूभे रुक्खे वणसण्डे पुक्खरिणी णवरं पुढवीय जाता भाणियव्वा, उदग पुक्खले उदगं णेतव्वं। से जहा णामते अगणिकाए सिया अरणीय आते जाव अरणीं चेव अभिभूय चिट्ठति, एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया तं चेव।

पुरुष से धर्म (ग्राम्यधर्म अर्थात् विषय-विकारजनित धर्म) की आदि होती है। वह पुरुष प्रधान, पुरुष ज्येष्ठ, पुरुष-कल्पित, पुरुष प्रद्योतित (प्रकाशित), पुरुष-समन्वित और पुरुष को केन्द्रित करके रहता है। जैसे पीड़ादायक रोग-विशेष शरीर में उत्पन्न होता है, बढ़ता है, समन्वित होकर शरीर से जुड़कर रहता है वैसे ही पुरुष का धर्म पुरुष को घेरे रहता है। वैसे ही व्रण शरीर में, दीमक का टीला वन और वृक्षों के समूह में तथा जल में कमल पैदा होता है। विशेषता यह है कि ये वल्लीक पृथ्वी से ही उत्पन्न, वर्धित, समन्वित और जुड़े रहते हैं। कमल जल से उत्पन्न, वर्द्धित, समन्वित और जुड़े रहते हैं। जैसे अग्नि अरणी (वृक्ष विशेष) से उत्पन्न होती है और अरणी का ही आश्रय लेकर रहती है, इसी प्रकार पुरुष का धर्म (ग्राम्य धर्म) पुरुष का ही आश्रय लेकर रहता है।

8. It was a mark of utter ignorance that Bhadra in grief of her dead son Supriya devoured his cadaver.

विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं व जोयणं ।
साहणं वा वि विज्जाणं, अण्णाणेण ण सिज्झति ।।९।।

९. अज्ञान के कारण ही औषधियों का विन्यास, संयोजन, मिश्रण और विद्याओं की साधना सफल नहीं होती है ।

9. Ignorance defeats the prescription, combination and processing of herbs and drugs and cultivation of expertise.

विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं व जोयणं ।
साहणं वा वि विज्जाणं, णाणजोगेण सिज्झति ।।१०।।

१०. ज्ञान के योग से ही औषधियों का विन्यास, संयोजन, मिश्रण और विद्याओं की साधना सफल होती है ।

10. Knowledge alone propitiates a happy prescription, combination and processing of herbs and drugs.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

गाहावइज्जं नामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **गाथापतिपुत्र तरुण** ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Gathapatiputra Tarun, the seer, do pronounce.

गाथापतिपुत्र तरुण नामक इक्कीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।२१।



४. मदोन्मत्त बना देने वाली मदिरा है, सुशोभना योग कन्या है। वह विश्व में नारी कही जाती है जो स्वकीय गुणों से उद्भासित है।

4. She is like a maddening liquor and a charming maiden doomed to widowhood. Such a being is dubbed a female all over the world.

उच्छायणं कुलाणं तु, दव्वहीणाण लाघवो।
पतिट्ठा सव्वदुक्खाणं, णिट्ठाणं अज्जियाण य ॥५॥

५. (असंस्कारी) नारी कुल का नाश करती है, द्रव्यहीन (निर्धन) का तिरस्कार करती है, समस्त दुःखों का प्रतिष्ठास्थान है, अध्यवसाय अथवा आर्यत्व की नाशक है।

5. A female is prone to damn her family, belittle the penurious, a veritable mine of miseries and a damner of human endeavour.

गेहं वेराण गंभीरं, विग्घो सद्धम्मचारिणं।
दुट्ठासो अखलीणं व, लोके सुता किमंगणा ? ॥६॥

६. गहन वैरभाव का घर है, सद्धर्माचरण करने वालों के लिए विघ्नभूत है, लगाम रहित दुष्ट अश्व के समान है, स्वेच्छाचारिणी है। ऐसी नारी लोक में कुनारी कही जाती है।

6. She is a storehouse of ill-will, a dampener of spiritual enterprise, a reinless steed. She is wanton by nature. Such a female deserves all condemnation.

इत्थी उ बलवं जत्थ, गामेसु णगरेसु वा।
अणस्सयस्स हेसं तं, अपव्वेसु य मुण्डणं ॥७॥

७. जहाँ ग्राम और नगरों में स्त्रियां बलवान हैं, बेलगाम घोड़े की तरह स्वच्छन्द हैं वे अपर्व के दिनों में मुण्डन के समान हैं।

7. The villages and towns dominated by females are anarchic and ominous.

धित् तेसिं गामणगराणं सिलोगो ॥८॥

Dharma (spiritual order) is male-oriented. Dharma is male-dominated, male-oriented, male-created and male-based. As a painful malady rises in a particular organism, is aggravated and is integrated so the spiritual order (Dharma) belongs to the individual and surrounds him like an aura. Similar to it, a wound grows in body, white ants in a sand–dune and lotus in a pond. These are all accretions of earth and thrive upon it. As fire sustains itself on fuel, so male individual should sustain himself on another of his kind.

धित् तेसिं गामणगराणं, जेसिं महिला पणायिका ।
ते यावि धिक्किया पुरिसा, जे इत्थीणं वसं गता ।।१।।

१. वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य हैं जहाँ पर महिला शासन करती है। वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य हैं जो नारी के वशीभूत हैं।

1. The villages and towns administered by female rulers are reprehensible. The males under thumb of female are not worth the salt.

गाहाकुला सुदिव्वा व, भावका मधुरोदका ।
फुल्ला व पउमिणी रम्मा, वालक्कन्ता व मालवी ।।२।।

२. वह सुदिव्य कुल की गाथा/प्रशस्ति के समान है, सुवासित मधुर जल के सदृश है, विकसित रम्य कमलिनी के समान है और सर्पवेष्टित मालती के समान है।

2. A female is bestowed with all honours. She is bewitching. She emanates fragrance akin to a blooming lily of the valley. She is like a snake–encircled jasmine.

हेमा गुहा ससीहा वा, माला वा वज्झकप्पिता ।
सविसा गन्धजुत्ती वा, अन्तोदुट्ठा व वाहिणी ।।३।।

३. स्वर्ण की गुफा है जिसमें सिंह बैठा हुआ है, विषयुक्त पुष्पों की माला है, विषमिश्रित गन्ध गुटिका है, भयंकर भंवरों से युक्त नदी है।

3. She is like a golden cavern with a man-eater seated within. She is a garland of poisonous flowers, a fatal fragrance, a stream fraught with internal whirl-pools.

गरन्ता मदिरा वा वि, जोगकण्णा व सालिणी ।
णारी लोगम्मि विण्णेया, जा होज्जा सगुणोदया ।।४।।

१२. जिसके लिए जहाँ सुखोत्पादकता है और जो जिसके अनुगामी हैं, कालविद् उसके विनाशी और अविनाशी रूप को पहिचानें ।

12. The pleasure-smacking indulgences etc. should be carefully examined on the moral scale.

सीसच्छेदे धुवो मच्चू, मूलच्छेदे हतो दुमो ।
मूलं फलं च सव्वं च, जाणेज्जा सव्ववत्थुसु ।।१३।।

१३. मस्तक छेद से मृत्यु और जड़ के छेदन से वृक्ष का नाश निश्चित है । अतः विज्ञ समस्त पदार्थों में मूल और उसके फल का परिज्ञान करें ।

13. A severe wound in head precedes a certain death and radical injury to a plant, its certain destruction. That enjoins upon a wise man a necessity for circumspection in this regard.

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ।।१४।।

१४. जो स्थान शरीर में मस्तक का है और वृक्ष के लिए जड़ का है वही स्थान समस्त मुनिधर्म के लिए ध्यान का है ।

14. As head is vital to human body and root to a tree, so is meditation to a saint.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

गद्दभीयनामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **दगभाल** अथवा **गर्दभ ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Dagbhal, the seer, do pronounce.

दगभाल अथवा गर्दभीय, गर्दभालि नामक बावीसवाँ अध्ययन पूर्ण हुआ ।२२।

८. वे ग्राम और नगर धिक्कार के योग्य हैं जहाँ महिला शासिका है। वे पुरुष भी धिक्कार के योग्य हैं जो नारी के वशीभूत हैं।

8. The villages and towns ruled by females are accursed. Damned are such males who are enamoured of females.

डाहो भयं हुतासातो, विसातो मरणं भयं ।
छेदो भयं च सत्थातो, वालातो दसणं भयं ॥९॥

९. अग्नि से जलने का भय है, विष से मरने का भय है, शस्त्र से छेदन का भय है और सर्प से डसने का भय है।

9. Fire inflicts burn, poison a casualty, an arm a gaping wound and a serpent sting.

संकणीयं च जं वत्थुं, अप्पडीकारमेव य ।
तं वत्थुं सुट्ठु जाणेज्जा, जुज्जन्ते जेऽणुजोइता ॥१०॥

१०. जो वस्तु शंकास्पद है उसका प्रतिकार भी सम्भव नहीं है। अतः उस वस्तु के उपभोक्ता को उसके त्याग और भोग का सम्यक् परिज्ञान होना चाहिए।

10. Perilous articles afford no immunity and a wise being is supposed to watch his own well-being while avoiding or acquiring such articles.

जत्थत्थी जे समारम्भा, जे वा जे साणुबन्धिणो ।
ते वत्थु सुट्ठु जाणेज्जा, णेव सव्वविणिच्छये ॥११॥

११. जहाँ पर जो समारम्भ (हिंसादिक आस्रव) और जो सानुबन्ध हैं उस वस्तु का सम्यक् परिज्ञान करे। यह सम्यक् परिज्ञान ही सभी पदार्थों के निश्चय में सहायक होता है।

11. The Karma-generating indulgence and enterprise etc. should be morally wieghed and assessed. Such a circumspection alone helps a being in such matters.

जेसिं जहिं सुहुप्पत्ती, जे वा जे साणुगामिणो ।
विणासी अविणासी वा, जाणेज्जा कालवेयवी ॥१२॥

I will cultivate righteous knowledge, witness truth, restrain myself with austerity, practise penances to chasten my soul from all Karmic smear, divert myself from the timeless mundane course and attain the highest pinnacle of birth-free, blissful, perennial existence, not to revert therefrom even once.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

रामपुत्तियज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण-त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् रामपुत्र ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Ramputra, the seer, do pronounce.

रामपुत्र नामक तेवीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।२३।



२३. तेवीसं रामपुत्तियज्झयणं

दुवे मरणा अस्सिं लोए एवमाहिज्जन्ति, तंजहा : सुहमतं चेव दुहमतं चेव। रा म पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइतं। एत्थं विण्णत्ति बेमि। इमस्स खलु ममाइस्स असमाहियलेसस्स गण्डपलिघाइयस्स। गण्डबन्धणपलियस्स गण्डबन्धणपडिघातं करेस्सामि। अलं पुरेमएणं। तम्हा गण्डबंधणपडिघातं करेत्ता णाणदंसणचरित्ताइं पडिसेविस्सामि। णाणेणं जाणिय दंसणेणं पासित्ता संजमेणं संजमिय तवेण अट्ठविहकम्मरयमलं विधुणित विसोहिय अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तसंसारकन्तारं वीतिवतित्ता सिवमयलमरुयमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तियं सिद्धिगतिणामधिज्जं ठाणं संपत्ते अणागतद्धं सासतं कालं चिट्ठिस्सामि त्ति।

इस लोक में दो प्रकार के मरण कहे गये हैं। तद्यथा—१. सुख मृत्यु और २. दुःख मृत्यु। इसकी व्याख्या (प्रतिपादन) मैं यहाँ करूंगा।

ऐसा अर्हत् **रामपुत्र** ऋषि बोले—

मैं असमाधित—अशुभलेश्या वाला हूँ, गण्ड—राग-द्वेषमय दुःखमरण रूपी गाँठ (व्रण) से पीड़ित हूँ। दुःखमरण के ग्रन्थि बन्धन से जीण (शिथिल) हो रहा हूँ। इस ग्रन्थि का मैं नाश करूंगा, दुःखमरण का नाश करके रहूंगा। अतः दुःखमृत्यु रूपी गाँठ का नाश करके ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आसेवना करूंगा।

ज्ञान से जानकर, दर्शन से देखकर, संयम से संयमित होकर, तप से अष्टविध कर्मरज मैल को झड़का कर, आत्मा को शोधित कर, अनादि, अनन्त, दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिरूप संसार की अटवी को पार कर, शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अव्याबाध, पुनः जन्मरहित, सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त कर भविष्य में शाश्वत काल पर्यन्त मैं वहाँ स्थिति करूंगा।

Two kinds of death may end human life—a happy one or a miserable one. This chapter will delineate the two, said Ramputra, the seer :

I am accursed with distractions and mundane traits. I suffer from the carbuncles of attachment-aversion. I am a sick being, prone to an unhappy doom. I resolve to avail of a remedy for this malaise. I will immunise myself from an unhappy doom. To shield myself from misery, I will practise righteous knowledge, vision and conduct.

के गाढ़-बन्धनों से बँधता है। संसार के गाढ़-बन्धनों से बन्धकर, अनादि अनन्त, दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिरूप संसार सागर में परिभ्रमण करता है। अतः चंचल और अशाश्वत इस संसार में सभी जीवों के लिए आसक्ति ही संसार-भ्रमण का कारण है। ऐसा जानकर मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उपासना करूँगा। ज्ञान दर्शन चारित्र की उपासना कर, अनादि यावत् संसारवन का अतिक्रमण कर, शिव, अचल, यावत् शाश्वत स्थान को प्राप्त कर मैं वहीं स्थिति करूँगा।

Different classes of beings, infernal ones, unevolved gross beings, animals, angels and human beings, tread their prescribed respective courses in the vast universe, perpetually, after budging from their original station. My self seeks happiness for itself in the instant incarnation to have a miserable aftermath hereafter. My self is snared and allured and tempted by this instable, transitory and chaotic world. Then it falls prey to it and meets its last doom. In a fresh spell of suffering it further encounters calamities of incarceration, disintegration and ruination. This abysm of life is too deep for human beings devoid of Yoga, tranquillity and equanimity. Man is inextricably bound to mundane existence. This bondage carries him like flotsam along the immeasurable oceanic expanse. That reveals how this rut of attachment is the cause of endlessly miserable but transitory course of life for individuals. Having realised this truth, I resolve to cultivate righteous knowledge, vision and conduct, and thereby surmount this fierce jungle called life, to attain the station par excellence, infallible and supremely accomplished ever and anon.

कन्तारे वारिमज्झे वा, दित्ते वा अग्गिसंभमे।
तमंसि वा जधा णेता, तधा धम्मो जिणाहितो ॥१॥

१. जैसे जंगल, जल, प्रकाश, अग्नि ज्वाला और अन्धकार में मार्गदर्शक आवश्यक है वैसे ही जिन प्रतिपादित धर्म का ज्ञान आवश्यक है।

1. As one requires guidance in a jungle, watery course, dazzling light, fire and darkness, so one requires knowledge of Jainism.

धारणी सुसहा चेव, गुरू भेसज्जमेव वा।
सद्धम्मो सव्वजीवाणं, णिच्चं लोए हितंकरो ॥२॥

२. सर्वसहा पृथ्वी और प्रशस्त औषधियां इस लोक में प्राणीमात्र के लिए हितकर हैं। इसी प्रकार सद्धर्म भी इस लोक में समस्त प्राणियों के लिए सर्वदा हितकर है।

२४. चउवीसं हरिगिरिणामज्झयणं

सव्वमिणं पुरा भव्वं, इदाणिं पुण अभव्वं। हरिगिरिणा अरहता इसिणा बुइतं।

पहले यहां सब कुछ भव्य (भवितव्यतापेक्ष) था। अब सब कुछ अभव्य (भवितव्य रहित) है।

ऐसा अर्हत् हरिगिरि ऋषि बोले—

Previously, existence was prone to unpredictable occurrences. Now that uncertainty is no more, said Harigiri the seer :

चयन्ति खलु भो य णेरइया णेरतियत्ता तिरिक्खा तिरिक्खत्ता मणुस्सा मणुस्सत्ता देवा देवत्ता, अणुपरियट्टन्ति जीवा चाउरन्तं संसार-कन्तारं कम्माणुगामिणो। तधा वि मे जीवे इधलोके सुहुप्पायके, परलोके दुहुप्पादए अणिए अधुवे अणितिए अणिच्चे असासते सज्जति रज्जति गिज्झति मुज्झति अज्झोववज्जति विणिघातमावज्जति। इमं च णं पुणो सडण-पडण-विकिरण-विद्धंसणधम्मं अणेगजोगक्खेमस-मायुत्तं जीवस्सऽतारेलुकिं संसारणिव्वेढिं करोति, संसारणिव्वेढिं करेत्ता अणाइयं अनवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तसंसारसागरं अणुपरियट्टइ। तम्हाऽधुवं असासतमिणं संसारे सव्वजीवाणं संसतीकारणमिति णच्चा णाणदंसणचरित्ताणि सेविस्सामि, णाणदंसणचरित्ताणि सेवित्ता अणा-दीयं जाव कन्तारं वीतिवतित्ता सिवमचल जाव ठाणं अब्भुवगते चिट्ठिस्सामि।

भो! नारकी नारकत्व को, तिर्यञ्च योनिवाले तिर्यक् योनित्व को, मनुष्य मनुष्यत्व को और देव देवत्व को छोड़कर, कर्मानुगामी जीव चतुर्गतिरूप संसारवन में परिभ्रमण करते हैं। तथापि मेरी आत्मा इस लोक में सुख का उत्पादन करती है, परलोक में दुःख पैदा करती है। अनियत, चंचल, अव्यवस्थित, अनित्य और अशाश्वत इस लोक में यह (मेरी आत्मा) आसक्त होती है, अनुरक्त होती है, गृद्ध होती है, मोहित होती है, अत्यासक्त होती है और मरण प्राप्त करती है। यही पुनः संसार में सड़ती, गिरती, बिखरती, नष्ट आदि धर्मों को प्राप्त करती है। विविध योग-क्षेम और समत्व से रहित जीव के लिए यह संसार दुस्तरणीय है। वह संसार

६. प्राणियों का जीवन, यौवन, रूप-सौन्दर्य, सौभाग्य, धन और सम्पदा जल बुद्बुद के समान (नश्वरशील) है ।

6. Life, youth, beauty, prosperity, wealth and estate are no more than a bubble in water.

देविन्दा सुमहिड्ढीया, दाणविन्दा य विस्सुता ।
णरिन्दा जे य विक्कन्ता, संखयं विवसा गता ॥७॥

७. महर्द्धिसम्पन्न देवेन्द्र, विख्यात दानवेन्द्र और पराक्रमशाली नरेन्द्र एक दिन विवश होकर चले गये ।

7. Great divinities, marvellous demons and valorous princes who had an ignoble end are now no more to be seen.

सव्वत्थ णिरणुक्कोसा, णिव्विसेसप्पहारिणो ।
सुत्तमत्तपमत्ताणं, एका जगतिऽणिच्चता ॥८॥

८. जगत में सुप्त, मत्त, और प्रमादी प्राणियों पर अनित्यता निर्दय होकर समान रूप से सर्वत्र प्रहार करती है ।

8. The somnolescent, defiant and vainglorious individuals meet the same none-too-enviable fate at the hands of ruthless death.

देविन्दा दाणविन्दा य, णरिन्दा जे य विस्सुता ।
पुण्णकम्मोदयब्भूतं, पीतिं पावन्ति पीवरं ॥९॥

९. देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्र जो प्रख्यात हैं वे पुण्यकर्म के उदय से उन्नति और प्रीति को प्राप्त करते हैं ।

9. The worshipful divinities, demi-gods and princes enjoy their legendary fame so long as their happy destiny caused by virtuous deeds is in the ascent.

आऊ धणं बलं रूवं, सोभागं सरलत्तणं ।
णिरामयं च कन्तं च, दिस्सते विविहं जगे ॥१०॥

१०. आयु, धन, बल, सौन्दर्य, सौभाग्य, सरलता, नीरोगता और मनोहारिता जगत् में विविध रूपों में दिखाई देती है ।

2. The all-tolerant terra firma and beneficial drugs are benign to all and sundry. So is the true religion to each of us.

सिग्घवट्टिसमाउत्ता, रधचक्के जहा अरा।
फडन्ता वल्लिच्छेया वा, सुहदुक्खे सरीरिणो ॥३॥

३. जैसे रथचक्र में प्रयुक्त आरा पहिये की परिवर्तन गति को शीघ्रता प्रदान करता है। [वृक्ष के] फट जाने अथवा वक्र हो जाने पर लताओं का छेदन/नाश हो जाता है वैसे ही देहधारियों के सुख-दुःख भी गतिशील व स्फुटित होते हैं।

3. As the radial spokes of a wheel conduce to acceleration, just like the destruction of creepers when the tree is distorted. So does true religion to relieve individuals of pleasure-pain syndrome.

संसारे सव्वजीवाणं, गेही संपरियत्तते।
उदुम्बकतरूणं वा, वसणुस्सवकारणं ॥४॥

४. समस्त जीव आसक्ति के कारण संसार में परिभ्रमण करते हैं। जैसे उदुम्बर वृक्षों का प्रसव-दोहद व्यसनोत्सव का कारण बनता है। (वैसे ही संसार परिभ्रमण का हेतु आसक्ति है।)

4. All beings get entangled in this turmoil called life due to attachment, as liquor brewed from plants leads to orgies and carousal.

वण्हि रविं ससंकं वा, सागरं सरियं तहा।
इन्दज्झयं अणीयं च, सज्जं मेहं व चिन्तए ॥५॥

५. अग्नि, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, नदी, इन्द्रध्वज और सेना (के स्वरूप) को नूतन मेघ की तरह समझो।

5. Fire, sun, moon, ocean, river, divine-regalia and martial honours are all as shortlived as a new cloud.

जोव्वणं रूपसंपत्तिं, सोभागं धणसंपदं।
जीवितं वा वि जीवाणं, जलबुब्बुयसंणिभं ॥६॥

14. One keeps on calculating in one's own way but death explodes all such castles in the air.

जा जया सहजा जा वा, सव्वत्थेवाणुगामिणी ।
छाय व्व देहिणो गूढा, सव्वमन्नेतिऽणिच्चता ॥१५॥

१५. प्राणी कहीं भी जावे किन्तु अनित्यता छाया की भांति स्वाभाविक रूप से सर्वत्र उसके साथ रहती है । छाया पृथक् भी दृष्टिगत हो सकती है किन्तु अनित्यता इतनी प्रच्छन्न है कि कहीं भी दिखाई नहीं देती ।

15. Wheresoever one may flee, death, like an inseparable shadow, chases him invariably. Shadow may be detected or ridden off. Not so the invisible death.

कम्मभावेऽणुवत्तन्ती, दीसन्ती य तधा तधा ।
देहिणं पकतिं चेव, लीणा वत्तेयऽणिच्चता ॥१६॥

१६. कर्म के सद्भाव में यह अनित्यता आत्मा से संलग्न रहती हुई विभिन्न रूपों में दिखाई देती है । इस अनित्यता ने शरीरधारी की प्रकृतियों को लीन कर रखा है ।

16. By virtue of Karmas transitoriness remains screwed to soul, appearing variously. This transitoriness inheres in the very nature of a being.

जं कडं देहिणा जेणं, णाणावण्णे सुहासुहं ।
णाणऽवत्थन्तरोवेतं, सव्वमण्णेति तं तहा ॥१७॥

१७. प्राणी अनेक प्रकार के जो शुभाशुभ कर्म करता है उसी से वह अच्छा या बुरा बनता है । इसी को वह पूर्ण मान लेता है ।

17. The individual performs good and evil deeds and reaps the harvest that shapes him accordingly. He deems these passing phases as the end product.

कन्ती जा वा वयोवत्था, जुज्जन्ते जेण कम्मुणा ।
णिव्वत्ती तारिसी तीसे, वायाए व पडिसुका ॥१८॥

१८. जिस कर्म से जिस प्रकार की क्रान्ति/परिवर्तन का योग होता है उसी प्रकार का सौन्दर्य, वय (तारुण्य) अवस्था का (भिन्न-भिन्न) निर्माण होता है । ऐसा (जिन) वाणी द्वारा अंगीकृत है ।

10. We come across the cherished longevity, prosperity, physical charm, good-luck, straight-forwardness, health and magnetism in various forms.

सदेवोरगगन्धव्वे, सतिरिक्खे समाणुसे ।
णिब्भया णिव्विसेसा य, जगे वत्तेयऽणिच्चता ।।११।।

११. विश्व में देव, सर्प, गन्धर्व, तिर्यक् और मनुष्य सृष्टि में अनित्यता समान रूप से निर्भय होकर भ्रमण करती है ।

11. Gods, serpentine demi-gods, angels, beasts and men are all inevitably at the sheer mercy of transience.

दाणमाणोवयारेहिं, सामभेयक्कियाहि य ।
ण सक्का संणिवारेउं, तेलोक्केणाविऽणिच्चता ।।१२।।

१२. दान, मान, उपचार, साम, भेद, और क्रिया आदि ही नहीं अपितु तीनों लोक की शक्तियां भी इस अनित्यता को रोकने में सक्षम नहीं है ।

12. This momentary nature of life defies all remedies, charity, ego, sundry efforts, craft and all imaginable endeavours by man or by gods.

उच्चं वा जति वा णीयं, देहिणं वा णमस्सितं ।
जागरन्तं पमत्तं वा, सव्वत्थानाऽभिलुप्पति ।।१३।।

१३. देहधारी चाहे उच्च हो या नीच हो, दूसरों से नमस्कृत हो, जागृत हो या प्रमत्त हो, अनित्यता सबका नाश करती है ।

13. Whoever is reincarnated, be he noble or mean, honoured, vigilant, or defiant is doomed to end in death.

"एवमेतं करिस्सामि, ततो एवं भविस्सति ।"
संकप्पो देहिणं जो य, ण तं कालो पडिच्छती ।।१४।।

१४. "मैं इस प्रकार करूँगा तो ऐसा हो जाएगा" मानव के मन में इस प्रकार के संकल्प चलते रहते हैं, किन्तु काल उसके संकल्पों को स्वीकार नहीं करता है ।

22. The reward of one's own deeds should be stoically withstood to exhaust it. Accumulated Karmas can never be dispensed with. Fruits crumble, once the creeper bearing these withers. Not so with Karmas; one has got to suffer their outcome inevitably.

छिन्नमूला जहा वल्ली, सुक्कमूलो जहा दुमो ।
नट्ठमोहं तहा कम्मं, सिण्णं वा हयणायकं ।।२३।।

२३. जिसकी जड़ छिन्न हो चुकी है ऐसी लता और जिसकी जड़ सूख गई है ऐसा वृक्ष नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मोह का नाश होने पर कर्मों का नाश हो जाता है। जैसे सेनापति का नाश होते ही सेना भाग जाती है।

23. A climber and a tree sans roots wither away. So do Karmas once they are devoid of attachment. The phenomenon is like the fleeing forces once the commander is dead.

अप्पारोही जहा बीयं, धूमहीणो जहाऽनलो ।
छिन्नमूलं तहा कम्मं, नट्ठसण्णो व देसओ ।।२४।।

२४. विनष्ट (शक्तिहीन) बीज और धूम्ररहित अग्नि जैसे नष्ट हो जाते हैं वैसे ही कर्म का मूल मोह के नष्ट हो जाने पर समस्त कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। जैसे नष्ट संज्ञा वाला उपदेशक समाप्त हो जाता है।

24. As the poorly sown seed and the smokeless fire last not, so do Karmas exhaust once the sustaining attachment ceases to exist. It is like a swooning preacher's utterance.

जुज्जए कम्मुणा जेणं, वेसं धारेइ तारिसं ।
वित्तकन्तिसमत्थो वा, रंगमज्झे जहा नडो ।।२५।।

२५. जिस प्रकार के कर्मों से युक्त होगा उसी प्रकार का वह वेष, सम्पत्ति, सौन्दर्य और सामर्थ्य को धारण करेगा। जैसे रंगमण्डप में नट धारण करता है।

25. As an actor dons various garbs suitable to his role on the stage, so does an individual as dictated by his Karmas in respect of wealth, countenance and strength.

संसारसंतई चित्ता, देहिणं विविहोदया ।
सव्वे दुमालया चेव, सव्वपुप्फफलोदया ।।२६।।

18. Specific Karmas result in specific changes and award corresponding shape and looks to the bearer. This thesis is endorsed by Jainism.

ताहं कडोदयुब्भूया, णाणागोयविकप्पिया ।
भंगोदयऽणुवत्तन्ते, संसारे सव्वदेहिणं ।।१९।।

१९. पूर्वोक्त और नानाविध गोत्रों के विकल्प स्वकृत कर्मों के उदय में आने पर बनते हैं । समस्त प्राणी संसार में कर्मों के भंग/नाश और उदय के अनुसार ही चलते हैं ।

19. One is born in corresponding families accordingly. All individuals rise and fall in accordance with the cross-section of their Karmic accumulation at a given point of time.

कम्ममूला जहा वल्ली, वल्लीमूलं जहा फलं ।
मोहमूलं तहा कम्मं, कम्ममूला अणिच्चया ।।२०।।

२०. जैसे वल्ली का मूल कन्द है, जैसे फल का मूल वल्ली है वैसे ही कर्म का मूल मोह है तथा अनित्यता का मूल कर्म है ।

20. As a taproot sustains a plant and the latter, in its turn, a fruit so bewildering attachment generates Karma and the latter, in its turn, death.

बुज्झए बुज्झए चेव, हेउजुत्तं सुभासुभं ।
कन्दसंदाणसंबद्धं, वल्लीणं व फलाफलं ।।२१।।

२१. हेतुयुक्त शुभ और अशुभ कर्म का बोध/विवेक प्राप्त करें । जैसे कन्द से वल्ली और फलाफल अर्थात् अच्छे या बुरे फल अवलम्बित एवं नियन्त्रित—संबद्ध हैं ।

21. As a tap-root upholds plant and fruit so do respective Karmas good and evil destiny. Hence one should vigilantly discern good deed from the evil one.

छिण्णादाणं सयं कम्मं, भुज्जए तं न वज्जए ।
छिन्नमूलं व वल्लीणं, पुव्वुप्पण्णं फलाफलं ।।२२।।

२२. स्वकृत कर्मों के आगमन पर उनका छेदन कर उनको भोगे । प्राप्त कर्मों का त्याग संभव नहीं है । लता का नाश होने पर फल नष्ट हो जाते हैं, किन्तु पूर्वोत्पन्न कर्मों के फलाफल का उपभोग करना ही पड़ता है ।

३०. स्वकृत पूर्वपाप के वशीभूत होकर दुर्मति जीव दुःख का अनुभव करता है। वह गले में फंदा कसकर दुःख और विपदाओं की धारा में अपने आपको छोड़ देता है।

30. An unwise individual is heir to misery on account of his earlier sins. He strangulates his own self and embraces the train of miserable events.

चंचलं सुहमादाय, सत्ता मोहम्मि माणवा।
आइच्चरस्सितत्ता वा, मच्छा झिज्जन्तपाणिया ॥३१॥

३१. चंचल सुख को प्राप्त कर मानव मोह में आसक्त हो जाते हैं किन्तु बाद में सूर्य की किरणों से तप्त जल के क्षय होने पर मछली की भांति तड़फते हैं।

31. Human beings abandon themselves in sheer orgies and then regret like a fish out of water evaporated in scorching sun.

अधुवं संसिया रज्जं, अवसा पावन्ति संखयं।
छिज्जं व तरुमारूढा, फलत्थी व जहा नरा ॥३२॥

३२. अस्थिर राज्य में आश्रित व्यक्ति अवश्य ही नाश को प्राप्त होता है। जैसे छेद/नाश होने योग्य वृक्ष पर बैठा हुआ फलाकांक्षी मानव।

32. One dependent for livelihood on a shaky kingdom is virtually doomed as a man waiting for fruits on a branch when the tree is nearing its felling.

मोहोदये सयं जन्तू, मोहन्तं चेव खिसई।
छिण्णकण्णो जहा कोई, हसिज्ज छिन्ननासियं ॥३३॥

३३. प्राणी स्वयं मोहोदय से मोहित/ग्रस्त होने पर भी दूसरे की निन्दा-अवहेलना करता है। जैसे कटे कान वाला व्यक्ति कटी नाक वाले को देखकर हंसता है।

33. Individuals prone to moral confusion often indulge in back-biting as a noseless creature may deride one who is earless.

मोहोदई सयं जन्तू, मन्दमोहं तु खिसई।
हेमभूसणधारि व्वा, जहाऽलक्खविभूसणं ॥३४॥

२६. देहधारियों को संसार रूपी बीज की परम्परा विचित्र और विविध रूप में प्राप्त होती है। (बीजभेद से) जैसे समस्त वृक्ष पुष्पों और फलों से विविध प्रकार के प्राप्त होते हैं।

26. Individuals harvest their Karmic rewards in multifarious shapes in the world as do varying plants, myriad kinds of fruits and flowers.

पावं परस्स कुव्वन्तो, हसए मोहमोहिओ ।
मच्छो गलं गसन्तो वा, विणिग्घायं न पस्सई ॥२७॥

२७. मोहग्रस्त जीव दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हँसता है। मछली (आटे की गोली) गले में उतारते समय नाशकारी कांटे को नहीं देखती है।

27. A selfish and sinful being seeks to harm another. He is like a fish swallowing the bait ignorant of the fatal hook.

परोवघायतल्लिच्छो, दप्पमोहबलुद्धुरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं न विन्दई ॥२८॥

२८. दूसरे की घात करने की इच्छा वाला व्यक्ति अहंकार और मोहमल्ल से उद्धत होने के कारण गुण और दोष से शून्य (विवेकहीन) हो जाता है। जैसे जर्जर वृद्ध सिंह निर्बल प्राणियों का वध करते समय विवेक शून्य हो जाता है।

28. A selfish, destructive individual is devoid of discretion in the vainglorious sway, like the fabulous senile tiger marauding weaklings.

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लिओ ।
दित्तं पावइ उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणो ॥२९॥

२९. जैसे जल में रहा हुआ हाथी उत्तेजित हो जाता है वैसी ही मोहमल्ल से प्रेरित आत्मा वर्तमानिक भोगों में अत्यासक्त और उत्तेजित हो जाता है।

29. As the waterbound elephant loses patience, and is flabbergasted so does an individual engrossed in present pleasures.

स-वसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेएइ दुम्मई ।
आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्कघाओ दुहट्टिओ ॥३०॥

३८. जितेन्द्रिय कर्म-परम्परा के वैचित्र्य को सम्यक् प्रकार से जाने और कर्म सन्तति से मुक्त होने के लिए समाधि को प्राप्त करे।

38. An ascetic should fathom the all-too-mysterious Karmic maze and should resort to meditation to free himself of it.

दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।
निच्चानिच्चं तु विण्णाय, संसारे सव्वदेहिणं ॥३९॥

३९. विश्व के समस्त देहधारियों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य तथा अनित्य रूप से जाने।

39. All the individuals existent are shortlived in respect of substance, space, time and existence.

निच्चलं कयमारोग्ग, थाणं तेलोक्कसक्कयं।
सव्वण्णुमग्गाणुगया, जीवा पावन्ति उत्तमं ॥४०॥

४०. सर्वज्ञ प्रदर्शित मार्ग के अनुगामी जीव त्रैलोक्य से सत्कृत, आरोग्यकारी, निश्चल और प्रशस्त स्थान को प्राप्त करते हैं।

40. Those who follow the preaching of the omniscient beings attain the summum bonum and sit supreme over the cosmos in bliss.

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

हरिगिरिणामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् हरिगिरि ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Harigiri, the seer do pronounce.

हरिगिरि नामक चौवीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२४।



३४. स्वयं मोहोदयी प्राणी अन्य मन्दमोही प्राणी को देखकर उसका तिरस्कार करता है। जैसे सोने के आभूषण पहनने वाला लाख के आभूषण पहनने वाले को देखकर हंसता है।

34. A morally confused creature's derision of another similar one is like a poorly decked individual's contumely upon a better decked one.

मोही मोहीण मज्झम्मि, कीलए मोहमोहिओ ।
गहीणं व गही मज्झे, जहत्थं गहमोहिओ ॥३५॥

३५. मोहमुग्ध प्राणी मोहग्रस्त होकर मोही प्राणियों के मध्य में क्रीड़ा करता है। जैसे ग्रहावेश से ग्रथिल व्यक्ति पागलों के मध्य में पागल चेष्टायें करता है।

35. A bewildered individual performs his antics amongst similar moral bankrupts. It is like a patient of dementia tremens performing horse-play amongst similar madcaps.

बन्धन्ता निज्जरन्ता य, कम्मं नऽण्णं ति देहिणो ।
वारिग्गाह घडीउ व्व, घडिज्जन्तनिबन्धणा ॥३६॥

३६. प्राणी स्वयं कर्म बान्धता है और उनकी निर्जरा भी स्वयं ही करता है किन्तु इससे कर्म-परम्परा समाप्त नहीं हो जाती है। जैसे पानी की घड़ी भरती है, खाली होती है उसी प्रकार इसका क्रम चलता रहता है।

36. It is the individual who authors the Karmic fetters and it is again he who destroys these. However the series remains interminable like a pitcher filling and emptying alternately add infinitum.

बज्झए मुच्चए चेव, जीवो चित्तेण कम्मुणा ।
बद्धो वा रज्जुपासेहिं, ईरियन्तो पओगसो ॥३७॥

३७. प्राणी स्वकीय विचित्र कर्मों से बद्ध और मुक्त होता है, जैसे रस्सी से बंधा हुआ व्यक्ति दूसरे के इशारे पर चलता है।

37. A fettered individual looks helpless at another's behest. So does an individual bound by his own past deeds.

कम्मस्स संतइं चित्तं, सम्मं नच्चा जिइंदिए ।
कम्मसंताणमोक्खाय, समाहिमभिसंधए ॥३८॥

पूर्णतः दण्ड पाने योग्य और पूर्णतः अज्ञानशील प्राणी अनेक प्रकार के निकृष्ट और कलुषित पापकर्मों का उपार्जन करते हैं और यहां से मरण प्राप्त कर दुर्गतिगामी होते हैं। यही आत्मा की पराजय है, समझो।

1. Ambad, the homeless nomad, addressed himself to Yaugandharayan thus :

How be it that you are not averse to foetal existence while I am bent upon avoiding it, O continent being ?

He further added : Let's endeavour to understand the issue. Sins drive man wombward invariably after fettering him. Such beings cause mass killings themselves and abet others. Such beings indulge in bloody deeds, abet others for avarice and endorse such deeds. They perjure, abet others and second such falsehood. They rise the high tide of ceaseless actions and never attempt to counter it. They commit burglary, abet others to do it and support such misdeeds. They commit felonies of all sorts, including incontinence and acquisition, prompt others to indulge in these and lend moral support to such acts. Such fatuous, unrestrained beings incessantly commit sins, multiply deeds, and immodestly attract retribution. They pile up sin on sins and are hurled into purgatory hereafter. Such is a soul defeated.

[२.] जे खलु, आरिया, पावेहिं कम्मेहिं विप्पमुक्का ते खलु गब्भवासाहि णो सज्जन्ति। ते णो सयमेव पाणे अतिवातिन्ति एवं तधेव विपरीतं जाव अकिरिया संवुडा एकन्तपण्डिता ववगतरागदोसा तिगुत्तिगुत्ता तिदण्डोवरता णीसल्ला आयरक्खी ववगयचउक्कसाया चउविकहविवज्जिता पंचमहव्वया तिगुत्ता पंचिंदियसंवुडा छज्जीवणिकायसुट्ठुणिरता सत्तभयविप्पमुक्का अट्ठमयट्ठाणजढा णवबम्भचेरजुत्ता दससमाहिट्ठाणसंपयुत्ता बहुं पावं कम्मं कलिकलुसं खवइत्ता इतो चुया सोग्गतिगामिणो भवंति।

२. जो आर्य पापकर्म से विमुक्त हैं वे निश्चय ही गर्भावास में उत्पन्न नहीं होते हैं। वे स्वयं दूसरे प्राणियों का वध नहीं करते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त वर्णन से विपरीत उनका जीवन होता है। यावत् वे पापक्रिया रहित, संवृत्त, पूर्णतः पण्डित, राग-द्वेषरहित, मनोवाक्कायगुप्ति से रक्षित, मनोदण्ड वचनदण्ड

२५. पणवीसं अम्बडज्झयणं

[१.] तए णं अ म्ब डे परिव्वायए जो गं ध रा य णं एवं वयासी: "मणे मे विरई भो देवाणुप्पिओ, गब्भवासाहि, कहं न तुमं बम्भयारि ?" तए णं जो गं ध राय णे अ म्ब डं परिव्वायगं एवं वयासी : आरिया एहि या एहि ता आयाणाहि । जे खलु हारिता पावेहिं कम्मेहिं, अविप्पमुक्का ते खलु, गब्भवासाहि सज्जन्ति । ते सयमेव पाणे अतिवातेन्ति अण्णे वि पाणे अतिवातावेन्ति अण्णे वि पाणे अतिवातावेन्ते वा सातिज्जन्ति समणुजाणन्ति; ते सयमेव मुसं भासन्ति....सातिज्जन्ति समणुजाणन्ति; अविरता अप्पडिहतापच्चक्खा-तपावकम्मा मणुजा अदत्तं आदियन्ति....सातिज्जन्ति समणुजाणन्ति; ते सयमेव अब्बम्भपरिग्गहं गिण्हन्ति मीसियं भणियव्वं जाव समणुजाणन्ति । एवामेव ते अस्संजता अविरता अप्पडिहतापच्चक्खा-तपावकम्मा सकिरिया असंवुता एकन्तदण्डा एकन्तबाला बहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता इतो चुता दुग्गतिगामिणो भवन्ति । एहि हारिता आयाणाहिं ।

१. पश्चात् **अम्बड** परिव्राजक ने **योगन्धरायण** से इस प्रकार कहा—भो देवानुप्रिय ! मेरे मन में गर्भावास से विरक्ति है । हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें गर्भावास (अथवा गर्भावास–मैथुन से विरक्ति क्यों नहीं है ?

तत्पश्चात् **योगन्धरायण** ने **अंबड** परिव्राजक से इस प्रकार कहा—आर्य ! आओ, आओ—इस तथ्य को समझो । पाप कर्मों से पराभूत और बद्ध पुरुष निश्चय से गर्भावास में उत्पन्न होते हैं । वे स्वयं प्राणियों की हिंसा करते हैं और दूसरों के प्राणों की हिंसा करवाते हैं । जो दूसरे प्राणियों का वध करते हैं, वध के लिए दूसरों को प्रेरित करते हैं तथा उसका अनुमोदन करते हैं । वे स्वयं मृषा/झूंठ बोलते हैं, मृषा के लिए दूसरों को प्रेरित करते हैं, मृषा का अनुमोदन करते हैं । जो मानव अविरत हैं, जो पाप कर्मों की परिणति को रोकने के लिए प्रत्याख्यान नहीं करते हैं वे अदत्तादान/चोरी का भी सेवन करते हैं, दूसरों को चोरी के लिए प्रेरित करते हैं और उसका अनुमोदन करते हैं । जो स्वयं अब्रह्मचर्य और परिग्रह का सेवन करते हैं । यहां मैथुन और परिग्रह का मिश्रित संयुक्त वक्तव्य है । यावत् वे काम-वासना और परिग्रह के लिए दूसरों को प्रेरणा देते हैं और उसका अनुमोदन करते हैं । इस प्रकार वे असंयत, अविरत, प्रत्याख्यान रहित, पापकर्म करने में सक्रिय, असंवृत्त,

३. अतः हे भगवन् ! सूत्र-प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने वाले वे मुमुक्षु प्राणी क्षीण-कषायी और जितेन्द्रिय होते हैं। वे शरीरधारण और योग-साधन के लिए नवकोटिविशुद्ध, दस दोषों से रहित, उद्गम और उत्पादन के दोषों से मुक्त, विभिन्न कुलों में दूसरे के द्वारा बनाया हुआ और दूसरे के लिए निष्पादित, अग्नि और धूमरहित पिण्ड/भोजन, शय्या और उपधि की अन्वेषणा करते हैं। गवेषणा करते हुए समुचित विनयोपचार में निपुण, मनोहर और मधुर स्वर से सम्भाषण करने वाली, हास्य विनोद करने में चतुर, सुन्दर स्तन और जंघाओं से सुशोभित, अनुपम सौन्दर्यधारिणी नारियों को देखकर भी उनके हृदय में वासना का अंकुर भी उत्पन्न नहीं होता है।

3. Such aspirants O Lord, tread the scripture-enunciated path. They are free of moral lapses and are masters of the senses. They are fully chaste and abstain from lapses of creation and enterprise. They are content with food obtained as alms from different households, not specifically cooked for them on smokeless fire and bed that might be as and when available. Femme fatalle who are accomplished and courteous endowed with melodious and titillating voice, with tempting bust and charming brows attract them not, nor tempt them.

[४.] से कधमेतं ? विगतरागता सरागस्स वि य णं अविक्खहत-मोहस्स। तत्थ तत्थ इतराइतरेसु कुलेसु परकडं जाव पडिरूवाइं पासित्ता णो मणसा वि पादुब्भावो भवति।

४. यह क्षीणकषायता और जितेन्द्रियता कैसे सम्भव है ? यह राग-रहितता मोहविजेता में पूर्णतः होती है और अंशतः रागमुक्त आत्मा में भी होती है। यहाँ-वहाँ विभिन्न कुलों में दूसरे के द्वारा निर्मित यावत् निरुपम सौन्दर्य-धारिणी नारियों को देखकर भी उन रागमुक्त प्राणियों के मन में वासना का उद्भव नहीं होता है।

4. How does one attain such pureheartedness and abstinence ? This freedom of attachment is found absolutely present in one who has smothered all attachment and partly present in disattached souls. The casually meeting paragons of beauty of various families never provoke libido in them.

[५.] तं कहमिति ?

मूलघाते हतो रुक्खो, पुप्फघाते हतं फलं।
छिण्णाए मुद्धसूईए, कत्तो तालस्स रोहणं ? ॥१॥

कायदण्ड से रहित, माया-निदान-मिथ्यादर्शन शल्य से रहित, आत्मरक्षी, चार-कषाय—क्रोध मान माया लोभ रहित, चार विकथा—राज, स्त्री, देश, भक्त से रहित, पांच महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह से युक्त, तीनों गुप्तियों से गुप्त, पांचों इंद्रियों से सुसंवृत्त, षड्जीवनिकाय—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस के सम्यक् प्रकार से रक्षक, सात भयों—इहलोक, परलोक, आदान, अकस्मात्, आजीविका, अपयश, और मृत्यु भय से विमुक्त, आठ मदस्थानों—जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, ज्ञान और सत्ता मद से रहित, नवविध ब्रह्मचर्य के पालक एवं दस प्रकार की समाधि से संयुक्त होते हैं और अनेक प्रकार के निकृष्ट तथा कलुषित पाप कर्मों का क्षय करते हैं। वे यहां से च्युत/मरण प्राप्त कर सद्गतिगामी होते हैं।

2. Those beings, who are free of sins are spared of foetal experience. They abstain from all killing. Their mode of life is just the reverse of what has been delineated above. They are ever sinfree, restrained, profoundly accomplished, and free from attraction-aversion. Their thinking, speech and actions are restrained and least offensive. They are protected from the sin of wrong perspective. They guard their self cautiously. The four sins of wrath, vanity, attachment and avarice touch them not. They are unencumbered with empire, female, abode and follower. They follow the five-fold observance of non-violence, truth, non-stealing, continence and non-acquisition. Their five senses are well under control. They afford full protection to all living beings, earth, water, fire, air and vegetation. They have least fear of world, heavens, loss of livelihood, infamy and death. They have no vanity of caste, family, strength, looks, wealth, penance, knowledge and status. They observe nine varieties of continence and ten kinds of meditation. They are ridded of all sins and they glide into higher realms hereafter.

[३.] ते णं, भगवं, सुत्तमग्गाणुसारी खीणकसाया दन्तेन्दिया सरीरसाधारणऽट्ठा जोगसंधाणताए णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमुप्पायणासुद्धं इतराइतरेहिं कुलेहिं परकडं परणिट्ठितं विगतिंगालं विगतधूमं पिण्डं सेज्जं उवधिं च गवेसमाणा संगतविणयोवगारसालिणीओ कलमधुररिभितभासिणीओ संगतगतहसितभणितसुन्दरथणजहणपडिरूवाओ इत्थियाओ पासित्ता णो मणसा वि पाउब्भावं गच्छन्ति।

जैसे इक्षुकार तुस में आग जलाकर विचार करता है कि 'इस आग के बुझने के पहले ही इक्षुरस को गर्म कर लूंगा।' इस उपमा के समान श्रमण निर्ग्रन्थ छह कारणों से आहार को ग्रहण करते हुए श्रमणधर्म का उल्लंघन नहीं करते हैं। शेष पूर्ववत् है। अर्थात् छह कारण वेदना, वैयावृत्य आदि हैं।

6. How can one sustain the body with the barest food ? As a mammoth elephant can pull down gigantic trees, so does libido all Yogic practices and accomplishments. Hence an aspirant ought to tread cautiously like one carrying a bowl full of oil and vigilantly shun all pleasures as we do a poisonous fruit. What an axle is to a chariot without which the charioteer can no more be carried, a prescribed diet is to an ascetic. Ascetics commit no transgression if they accept meals merely for avoiding pangs of starvation, for practising austerity, survival and contemplation. As a lacquer processor burns charcoals just enough to melt his ware, so an ascetic takes food just enough for survival and thereby no transgression is committed. As a sugarcane-juice-maker burns just enough chaff to heat the juice, so does an ascetic accept meals for six reasons mentioned above. It entails no violation of his ethics.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

अंबडज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (**अम्बड परिवाज्रक**) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment,. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Ambad the nomad, pronounce.

अम्बड नामक पच्चीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२५।



५. यह किस प्रकार सम्भव है ?

१. मूल का नाश करने पर वृक्ष नष्ट हो जाता है। पुष्प का नाश करने पर फल नष्ट हो जाते हैं। ताड़ वृक्ष के मूर्द्धन्य—अग्रभाग का सूची से छेदन करने पर उसकी वृद्धि कैसे हो सकती है ?

5. How does one accomplish it ?

1. Nip the root and the tree is no more. Pluck the flower and the fruit is gone. Once the apical meristem of the palm tree is punctured how can the stem grow ?

[६.] से कधमेतं ? हत्थिमहारुक्खणिदरिसणं तेल्लापाउधम्मं किंपागफलणिदरिसणं। से जधा णामते साकडिए अक्खमक्खेज्जा 'एस मे णो भजिस्सति भारं च मे वहिस्सति', एवामेवोवमाए समणे णिग्गन्थे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे णो अतिक्कमेति : वेदणा वेयावच्चे तं चेव। से जधा णामते जतुकारए इंगालेसु अगणिकायं णिसिरेज्जा 'एस मे अगणिकाए णो विज्झाहिति जतुं च तावेस्सामि', एवामेवोवमाए समणे णिग्गन्थे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे णो अतिक्कमेति : वेदणा वेयावच्चे तं चेव। से जधा णामते उसुकारए तुसेहिं अगणिकायं णिसिरेज्जा 'एस मे अगणिकाए णो विज्झाहिति उसुं च तावेस्सामि', एवामेवोवमाए समणे णिग्गन्थे सेसं तं चेव ॥

६. यह शुद्ध पिण्ड—आहार किस प्रकार सम्भव है ? जिस प्रकार हाथी बड़े-बड़े वृक्षों को गिरा देता है उसी प्रकार वासना योग-साधना को उखाड़ फेंकती है। अतः मुमुक्षु तैलपात्रधारक की भांति अप्रमत्त रहे और भौतिक सुखों को किम्पाकफल के समान विषमय समझे।

जिस प्रकार सारथि रथ की धुरा के लिए कहता है कि 'यदि यह धुरा नहीं टूटेगी तो यह रथ मेरा भार भी वहन कर सकेगा।' इसी रूपक से श्रमण का आहार उपमित है। श्रमण/निर्गन्थ छह स्थानों—कारणों से आहार करते हैं तो वे मुनिधर्म का अतिक्रमण नहीं करते हैं। छः कारण निम्न हैं—वेदना, वैयावृत्य, ईर्यासमिति, संयम, प्राणनिर्वाह और धर्मचिन्तन।

जैसे एक लाक्षाकार कोयलों में आग जलाता है और सोचता है कि 'इस आग के बुझने के पहले ही में लाक्षा (लाख) को तपा लूंगा।' इसी उपमा/रूपक के समान ही श्रमण निर्गन्थ छह कारणों से आहार को ग्रहण करते हैं तो वे मुनिधर्म का अतिक्रमण नहीं करते हैं। छह कारण वेदना वैयावृत्य आदि हैं।

४. रथ और धनुषधारी माहण/ब्राह्मण नहीं है। शस्त्रधारी भी ब्राह्मण नहीं है। ब्राह्मण मृषा वाणी न बोले और न चौर्यकर्म ही करे।

4. Warrior and regally attired Brahmins are not true Brahmins. Brahmins should abstain from falsehood and theft.

मेहुणं तु ण गच्छेज्जा, णेव गेण्हे परिग्गहं ।
धम्मंगेहिं णिजुत्तेहिं, झाणज्झयणपरायणो ।।५।।

५. ब्राह्मण मैथुन/अब्रह्मचर्य का सेवन न करे और परिग्रह को भी स्वीकार न करे। धर्म के विविध अंगों में संलग्न होकर ध्यान और अध्ययन/स्वाध्याय में परायण बने।

5. A Brahmin should abstain from sexual indulgence nor should he amass wealth. He should practise austerities and such aspects of religious conduct and devote to studies.

सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं, सच्चप्पेही स माहणे ।
सीलंगेहिं णिउत्तेहिं, सीलप्पेही स माहणे ।।६।।

६. जो समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है और सत्यद्रष्टा है वही माहण है। जो शाल–ब्रह्मचर्य के विविध अंगों के पालन में सचेष्ट है और शीलप्रेक्षी है वही माहण है।

6. One who restrains one's senses and is a seer of truth alone is Brahmin. One who vigilantly observes ethical conduct and continence in their fulness and is morally-oriented alone is Brahmin.

छज्जीवकायहितए, सव्वसत्तदयावरे ।
स माहणे त्ति वत्तव्वे, आता जस्स विसुज्झती ।।७।।

७. जो छह जीवनिकाय—पृथ्वी, अप्, तेजस् वायु, वनस्पति और त्रस का हितकारी/रक्षक है और समस्त प्राणियों पर दया–कारुण्यभाव रखता है तथा जिसकी आत्मा विशुद्ध है उसे ही माहण कहना चाहिए।

7. One who protects earth, water, fire, air, vegetation and living beings and spontaneously feels sympathy and compassion for every living being, one whose soul is chaste, alone is Brahmin.

२६. छव्वीसं मातंगज्झयणं

कतरे धम्मे पण्णत्ते ? सव्वाउसो सुणेध मे ।
किणा बम्भणवण्णाभा, युद्धं सिक्खन्ति माहणा ।।१।।

१. कितने प्रकार के धर्म प्रतिपादित किये गये हैं ? हे समस्त आयुष्मानो ! वह सब मेरे से सुनो । ब्राह्मण वर्ण की आभा वाले अर्थात् ब्राह्मण जैसे दिखाई देने वाले 'मा हन्' (हिंसा मत करो) माहण (श्रावक) होकर भी युद्ध की शिक्षा क्यों ग्रहण करते हैं ?

1. Let me tell you of the myriad kinds of religions propounded by people. Literal meaning of Brahmin is to commit no violence. Why then do Brahmins live with all the paraphernalia of Brahminhood and learn martial arts ?

रायाणो वणिया ? जागे, माहणा सत्थजीविणो ।
अन्धेण जुगेणद्धे विपल्लत्थे उत्तराधरे ।।२।।

२. क्षत्रिय और वणिक् यदि यज्ञ यागादि करते हैं और माहण/ब्राह्मण शस्त्रजीवी होते हैं (तो यह उनकी वृत्ति के विपरीत होगा ।) जैसे विपरीत दिशाओं से आए हुए अन्ध युगल आपस में राजपथ पर ही टकरा जाते हैं ।

2. Kshatriyas and trader class perform religious rites and Brahmins live as warriors. It is like blind wrestlers clashing along the highway. It is like going against one's grain.

आरूढो रायरहं अडणीए युद्धमारभे ।
सधामाइं पिणिद्धन्ति, विवेता बम्भपालणा ।।३।।

३. कतिपय ब्राह्मण राजरथ पर आरूढ़ होकर मार्ग में युद्ध आरम्भ करते हैं, किन्तु ब्रह्म–ब्रह्मवृत्ति, ब्रह्मकर्म अथवा सत्यानुष्ठान के पालक विवेकपूर्वक अपने घरों को अर्थात् हिंसात्मक वृत्ति के द्वार को बन्द कर लेते हैं ।

3. Certain Brahmins ride chariots and fight along the highway. However, they choose to snap close their doors to spiritual contemplation suitable for Brahmins.

ण माहणे धणुरहे, सत्थपाणी ण माहणे ।
ण माहणे मुसं बूया, चोज्जं कुज्जा ण माहणे ।।४।।

११. क्षान्त और दान्त जिसके बैल हैं। ऐसा माहण पांचों इन्द्रियों को जीत कर गम्भीर दिव्य कृषि/खेती करता है।

11. Peace and charity are his bullocks. Such a Brahmin surmounts his five senses and raises the divine crop.

तवो बीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं परं।
ववसातो धणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥१२॥

१२. इस दिव्य कृषि का तप ही अवन्ध्य—निष्फल न जाने वाला बीज है और अहिंसा ही श्रेष्ठ कूल/किनारा है। अहिंसा का व्यवसाय/आचरण ही उसका धन है और अहिंसा में जुते हुए क्षान्त-दान्त बैल जोड़ी ही उसका संग्रह/संचय है।

12. Penance is the unfailing seed of this cultivation and non-violence the bank of the great river. Non-violence in conduct is his wealth and the pair of bullocks of charity and equanimity his acquisition.

धिती वलंब-सुहिक्का, सद्धा मेढी य णिच्चला।
भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंवुडं ॥१३॥

१३. धैर्यरूप अवलम्बन खलिहान का हिक्का है। निश्चल श्रद्धा रूप मेढ़ी है। उस क्षेत्र की पवित्रभावना रूप बाड़ है और उसका ईर्यासमिति रूप द्वार संगोपित है।

13. Perseverance is the wall of his barn. Unbudging faith is his attic. Piety is his barrier guarding the field and he keeps his door of equanimity closely guarded.

कसाया मलणं तस्स, कित्तिवातो व तक्खमा।
णिज्जरा तु लवामीसा, इति दुक्खाण णिक्खति ॥१४॥

१४. कषायों का मर्दन ही उसके धान्य का मर्दन है। उसकी क्षमा ही कीर्तिवाद है। निर्जरा ही उस खेती का काटना है। इस प्रकार वह दुःखों से रहित होता है।

14. Smothering the desires is akin to thrashing the grain. His catholicity is his fame. Purgation of Karmas is his harvesting. Thus he gets rid of all woes.

एतं किसिं कसित्ताणं, सव्वसत्तदयावहं।
माहणे खत्तिए वेस्से, सुद्दे वापि विसुज्झती ॥१५॥

दिव्वं सो किसिं किसेज्जा, णेवप्पिणेज्जा । मा तं गे णं अरहता इसिणा बुइतं ।

वह माहण दिव्य खेती करे । उस दिव्य कृषि को छोड़े नहीं । इस प्रकार अर्हत् **मातंग** ऋषि बोले—

Such a Brahmin should constantly grow the crop of divinity, said Matanga, the seer.

आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुअणंगलं ।
झाणं फालो निसित्तो य, संवरो य बीयं दढं ॥८॥

८. आत्मा क्षेत्र है । तप बीज है । संयम हल है । ध्यान तीक्ष्ण फाल है और संवर सुदृढ़ एवं स्थिर बीज है ।

8. Soul is the field, penances the seed, austerity the plough, meditation the sharp end of the blade and restraint the latent energy of the seed.

अकूडत्तं च कूडेसु, विणए णियमणे ठिते ।
तितिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा ॥९॥

९. जो मायावियों में छल-प्रपंच रहित है और जो नियमपूर्वक विनम्र भाव से रहता है । सहनशीलता जिसकी हलीसा है, दया और गुप्ति जिसकी लगाम (नाथ) है ।

9. One who is innocent amongst the living beings, who is modest, tolerance is whose car and compassion and self-control whose rein (is a true Brahmin).

सम्मत्तं गोत्थणवो, समिती उ समिला तहा ।
धितिजोत्तसुसंबद्धा, सव्वण्णुवयणो रया ॥१०॥

१०. सम्यक्त्व रूप गोत्थणव—जुआ है । समिति रूप शमिला—युगकीलक (लकड़ी की कील) है । धैर्य रूप जोत (वह रस्सी जिससे बैल को हल में जोता जाता है) से सुसम्बद्ध और सर्वज्ञवाणी में अनुरक्त है ।

10. Equanimity is his yoke (for the bullocks). Imperturbability is his harness rod, patience is the steadfast harness and he is devoted to the gospel of the enlightened.

पंचेव इंदियाणि तु, खन्ता दन्ता य णिज्जिता ।
माहणेसु तु ते गोणा, गंभीरं कसते किसिं ॥११॥

२७. सत्तावीसं वारत्तयनामज्झयणं

साधु-सुचरितं अव्वाहता समणसंपया वा र त्त ए णं अरहता इसिणा बुइतं ।

साधु का श्रेष्ठ आचरण—शोभन चारित्र ही असंगति रहित अव्याहत गति है। अतः श्रमणों का सहवास करना चाहिए । अथवा शोभन चारित्र ही श्रमण का ऐश्वर्य है ।

ऐसा अर्हत् **वारत्तक** ऋषि बोले—

It is the saints whose conduct is noble, graceful and truly consistent. Grace of conduct is their exclusive wealth. Hence one should seek the company of saints.

Added Varattak, the seer :

न चिरं जणे संवसे मुणी, संवासेण सिणेहु वद्धती ।
भिक्खुस्स अणिच्चचारिणो, अत्तट्ठे कम्मा दुहायती ।।१।।

१. मुनि संसारी प्राणियों के मध्य में अधिक न रहे अथवा गृहस्थजनों से अधिक सम्पर्क न रखे । क्योंकि, अधिक परिचय से स्नेह/ममताभाव की वृद्धि होती है; जोकि अनित्यचारी—सांसारिक पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करने वाले श्रमण की आत्मा के लिये कर्म का रूप लेकर दुःखों को उत्पन्न करता है ।

1. A saint should avoid, in large measure, contact with worldly beings and householders. Familiarity is prone to breed attachment which will bind as a Karma and breed woes for the saint who indeed, ever dwells on the transitorinses of life.

पयहित्तू सिणेहबन्धणं, झाणज्झयणपरायणे मुणी ।
णिद्धत्तेण सया वि चेतसा, णेव्वाणाय मतिं तु संदधे ।।२।।

२. मुनि स्नेहबन्धन को छोड़कर ध्यान और अध्ययन/स्वाध्याय में तल्लीन रहे और चित्त के विकारमल को धोकर अपनी मति को निर्वाणमार्ग में लगावे ।

१५. प्राणिमात्र पर दया-कारुण्यभावधारक जो इस प्रकार की कृषि—खेती करता है वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो तब भी विशुद्ध होता है।

15 *A truly charitable and catholic outlook on the entire world is* the divine agriculture. Such a one, be he Brahmin, Kshatriya, Vaishya or Shudra, is truly pious.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी।

मायंगिज्जज्झयणं ।।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **मातंग** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I Matanga, the seer, do pronounce.

मातंग नामक छब्बीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२६।



क्रियाओं और श्रमण धर्म के बीच बहुत बड़ा अंतर है। अर्थात् उसकी यह प्रवृत्ति वस्तुतः श्रमणधर्म के पूर्णतया विपरीत है।

5. A saint who participates and conducts celebration of birth, sacred thread ceremony, weddings and the like and accompanies Princes in war-operations has little attribute of a true saint.

जे जीवणहेतु पूयणट्ठा, किंची इहलोकसुहं पउंजे।
अट्ठिविसएसु पयाहिणे से, सामण्णस्स महन्तरं खु से ॥६॥

६. जो मुनि जीवन-यापन, स्वयं की पूजा-मान्यता और ऐहलौकिक किंचित् सुखों के लिये पूर्वोक्त कार्य करता है, तो वह इन्द्रियादि विषयों का अर्थी–अभिलाषी बनकर प्रदक्षिणा कर रहा है अथवा वह अर्थ–धन और विषय-वासनादि के पीछे घूम रहा है। उसकी यह प्रवृत्ति वस्तुतः श्रमणधर्म के पूर्णतया विपरीत है।

6. A saint who performs such deeds for earning his livelihood, personal honours and resultant pleasures, is no better than a self-seeking mundane creature, greedy and sense-oriented. Such code ill-behoves a saint.

ववगयकुसले संछिण्णसोते, पेज्जेण दोसेण य विप्पमुको।
पियमप्पियसहे अकिंचणे य, आतट्ठं ण जहेज्ज धम्मजीवी ॥७॥

७. जो श्रमण, लक्षण, स्वप्न, प्रहेलिकादि शास्त्रकौशल के प्रयोग से रहित हो गया है, जिसने स्रोत–भवपरम्परा के प्रवाह का छेदन/नाश कर दिया है और जो प्रेम तथा द्वेष से विमुक्त हो गया है ऐसा धर्मजीवी अकिंचन बनकर प्रिय और अप्रिय को सहन करे और आत्मलक्ष्य का त्याग न करे।

7. One who has given a good-bye to predictions, dream-analysis, quiz and scholastic subtleties, and has plugged the ingress of mundane effects and who has shed attachment-aversion should thrive on religion and stay unnoticed and insignificant. He should forbear the pleasant and the unpleasant and keep a steadfast eye on the spiritual motto.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी।

वारत्तयनामज्झयणं।

2. A saint should discard sentiment and dedicate himself to meditation and study. He should purge and sublimate mind and seek the path of deliverance.

जे भिक्खु सखेयमागते, वयणं कण्णसुहं परस्स बूया ।
सेऽणुप्पियभासए हु मुद्धे, आतट्ठे णियमा तु हायती ।।३।।

३. जो श्रमण मित्रता के वशीभूत होकर दूसरे (गृहस्थ) से कर्णप्रिय मीठी वाणी बोलता है और वह गृहस्थ उस मधुरभाषी मुनि पर मुग्ध/मोहित हो जाता है। किन्तु, उसकी यह मधुरभाषिता उसके आत्महित का अधिकता से नाश करती है।

3. An ascetic who is endeared by the relationship of an affectionate householder establishes friendship with the latter and a mutuality is seen to subsist which shall prove disastrous to the spiritual interests of the former.

जे लक्खणसुमिणपहेलियाउ अक्खाईयइ य कुतूहलाओ ।
भद्दाणाइं णरे पउंजए, सामण्णस्स महन्तरं खु से ।।४।।

४. जो श्रमण गृहस्थ का कौतूहल, लक्षण, स्वप्न और प्रहेलिकादि से मनोरंजन करता है और उससे रंजित होकर मनुष्य (गृहस्थ) दान आदि का प्रयोग करता है। उसकी यह प्रवृत्ति वस्तुतः श्रमणधर्म से बहुत दूर है, अर्थात् पूर्णतया विपरीत है।

4. A saint, who, in his wanderings tickles the curiousity of a householder through prediction, dream analysis etc. and receives alms as a reward from him, falls from the high status of an ascetic.

जे चेलकउवणयणेसु वा वि, आवाहविवाहवधूवरेसु य ।
जुंजेइ जुज्झेसु य पत्थिवाणं, सामण्णस्स महन्तरं खु से ।।५।।

५. जो मुनि शिष्यों/भक्तों के चूडोपनयनादि संस्कारों में तथा वर-वधू के वैवाहिक प्रसंगों में सम्मिलित होता है अथवा अपने सान्निध्य में संस्कारादि करवाता है और राजाओं के साथ युद्ध में भी भाग लेता है। किन्तु, मुनि की इन समस्त

२८. अट्ठावीसं अद्दइज्जज्झयणं

छिण्णसोते भिसं सव्वे, कामे कुणह सव्वसो ।
कामा रोगा मणुस्साणं, कामा दुग्गतिवड्ढणा ॥१॥

१. मुमुक्षु समस्त काम-वासनाओं के प्रवाह का पूर्णरूपेण छेदन कर दे। क्योंकि, मानव के लिये समस्त काम-वासनाएँ रोग हैं और दुर्गति को बढ़ाने वाली हैं।

1. An aspirant should forever discard the ingress of desires. All desires are ailments and conduce to wretched destiny.

णासेवेज्जा मुणि गेही, एकन्तमणुपस्सतो ।
कामे कामेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गतिं ॥२॥

२. परमार्थतत्त्व का पर्यालोचन करने वाला मुनि कामासक्ति की आसेवन न करे। काम-वासना की कामना करने वाला प्राणी वासना का उपभोग न करने पर भी दुर्गति को प्राप्त करता है ।

2. Self-less saint who dwells on the absolute should shun all desire. One who cherishes desire without actually attaining and indulging these also meets a poor destiny.

जे लुब्भन्ति कामेसु, तिविहं हवति तुच्छ से ।
अज्झोववण्णा कामेसु, बहवे जीवा किलिस्सन्ति ॥३॥

३. जो कामों में लुब्ध—लोलुप होते हैं वे तीन प्रकार—मन, वाणी, शरीर से सत्त्वहीन होते हैं अथवा कामी व्यक्ति की दृष्टि में वासना के सामने तीनों लोक तुच्छ हैं। वासनाओं में अत्यासक्त बहुत से जीव दुःख को प्राप्त करते हैं।

3. Those who become libido-addicted are debilitated mentally, lingually and physically. A lascivious creature can barter the Universe for his object of desire. Lecherous creatures meet an ignoble end.

सल्लं कामा, विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
बहुसाधारणा कामा, कामा संसारवड्ढणा ॥४॥

४. काम शल्य है, काम विष है, काम आशीविष सर्प है, काम प्रचण्ड वासना है और काम संसार को बढ़ाने वाला है ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुन: इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं **(अर्हत् वारत्तक ऋषि)** कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, austinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Varattak, the seer, do pronounce.

वारत्तक नामक सत्ताईसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२७।



कामाण मग्गणं दुक्खं, तित्ती कामेसु दुल्लभा ।
पिज्जुज्जोगो परं दुक्खं, तण्हक्खय परं सुहं ॥९॥

९. काम का अन्वेषण दुःखकारी है। काम की तृप्ति दुर्लभ है। इसका वियोग भी अत्यन्त दुःखप्रद है। वस्तुतः तृष्णा का क्षय ही परम सुख है।

9. Exploration of desire is painful. Its satiation is a day-dream. Its unfulfilment is again painful. True happiness indeed lies in desirelessness.

कामभोगाभिभूतप्पा, वित्थिण्णा वि णराहिवा ।
फीतिं कित्तिं इमं भोच्चा, दोग्गतिं विवसा गया ॥१०॥

१०. कामभोगों से अभिभूत और तप्त राजागण भी विपुल राज्य और निर्मलकीर्ति को प्राप्त करके भी अन्त में विवश होकर दुर्गति को प्राप्त हुए।

10. Libidinous mighty princes with immense resources at the command ultimately met a compulsive doom.

काममोहितचित्तेणं, विहाराहारकंखिणा ।
दुग्गमे भयसंसारे, परीतं केसभागिणा ॥११॥

११. कामग्रस्त चित्तवाला (स्वच्छन्द) आहार-विहार का आकांक्षी होता है और इस दुर्गम एवं भयावह संसार में चारों ओर से क्लेश प्राप्त करता है।

11. A sensual character with insatiable itch ever seeks indulgence and falls a victim to the multiple woes of this infernal maze called life.

अप्पक्कतावराहोऽयं, जीवाणं भवसागरो ।
सेओ जरग्गवाणं वा, अवसाणम्मि दुत्तरो ॥१२॥

१२. प्राणी आत्मकृत (स्वकृत) अपराधों—पापों से भवसागर की वृद्धि करते हैं। वे अपराध वृद्ध बैल की भांति अवसान के समय दुस्तरणीय होते हैं।

12. We add to our mundane travail by multiplying sins, and peccadillos. Such misdeeds pose an unenviable catastrophe at the end as in case of a defeated old ox.

4. Desire is an ailment. It is a poison. It is like a fatal serpent. Desire is like an unquenchable fire. It adds to mundaneness.

पत्थन्ति भावओ कामे, जे जीवा मोहमोहिया ।
दुग्गमे भयसंसारे, ते धुवं दुक्खभागिणो ॥५॥

५. जो मोहग्रस्त जीव हृदय से काम-वासना की अभिलाषा करते हैं वे इस दुर्गम और भयावह संसार में निश्चय ही दुःख के भागी होते हैं ।

5. Confounded beings who are monomaniacs after libido are predestined to immense misery in this fearsome world.

कामसल्लमणुद्धित्ता, जन्तवो काममुच्छिया ।
जरामरणकन्तारे, परियत्तन्तवुक्कमं ॥६॥

६. काममूर्च्छित प्राणी जव तक कामरूपी शल्य का नाश नहीं कर देते हैं तब तक वे जन्म, जरा और मृत्यु की अटवी में सतत परिभ्रमण करते रहते हैं ।

6. Libidinous individuals incessantly wander in their orbit of birth, age and death so long as they venture not to rid themselves of the burning desire.

सदेवमाणुसा कामा, मए पत्ता सहस्ससो ।
ण याहं कामभोगेसु, तित्तपुव्वो कयाइ वि ॥७॥

७. देव और मानव के ये कामभोग मैंने हजारों बार प्राप्त किये हैं । अतः पूर्व में छोड़े हुए उन कामभोगों के पथ में मैं कदापि नहीं जाऊँगा ।

7. I have enjoyed a thousand times wanton pleasures in the past, divine and human. I shall no more be ensnared by these, since I have long back ridded myself of such indulgences.

तित्ति कामेसु णासज्ज, पत्तपुव्वं अणन्तसो ।
दुक्खं बहुविहाकारं, कक्कसं परमासुभं ॥८॥

८. पूर्व में अनन्त बार प्राप्त होने पर भी इन काम-भोगों से कभी तृप्ति नहीं हुई है । अपितु, इन कामभोगों से विविध प्रकार के कर्कश और अत्यन्त अशुभ दुःख ही प्राप्त हुए हैं ।

8. A million rounds of such indulgences never satiated me. In fact they bred myriad woes of the least desirable kind.

सदेवोरगगन्धव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं ।
कामपंजरसंबद्धं, किस्सते विविहं जगं ।।१७।।

१७. देव, सर्प, गन्धर्व, पशु-पक्षी और मानव सभी काम के पिंजरे में बंध कर जगत् में विविध प्रकार के क्लेशों को प्राप्त करते हैं ।

17. Gods, serpent-gods, angels animals and men—all are slaves of desire and thus earn woes of all kinds.

कामग्गहविणिम्मुक्का, धण्णा धीरा जितिन्दिया ।
वितरन्ति मेइणिं रम्मं, सुद्धप्पा सुद्धवादिणो ।।१८।।

१८. जो धीर और जितेन्द्रिय मानव काम-रूपी पिशाच से उन्मुक्त हो गये हैं वे धन्य हैं । ऐसी शुद्धवादी निष्कलंक आत्माएं रमणीय मेदिनी को पार कर जाती हैं अर्थात् भव-समुद्र को पार कर जाती हैं ।

18. The mighty beings who have mastered their senses and freed themselves of the demon of desire are salts of earth. Glory be to them. Such pious beings surmount the ordinarily insurmountable oceanic world in a jiffy.

जे गिद्धे कामभोगेसु, पावाइं कुरुते णरे ।
से संसरन्ति संसारं, चाउरन्तं महब्भयं ।।१९।।

१९. जो मनुष्य काम-भोगों में अत्यासक्त होकर पाप करते हैं वे चतुर्गतिरूप महाभयंकर संसार में भटकते हैं, परिभ्रमण करते रहते हैं ।

19. Indulgent beings have only one destiny—that of interminally plodding on the odyssey of mundane sufferings.

जहा निस्साविणिं नावं, जातिअन्धो दुरूहिया ।
इच्छते पारमागन्तुं, अन्तरे च्चिय सीदति ।।२०।।

अ द्द ए ण अरहता इसिणा बुइतं

२०. जैसे जन्मान्ध व्यक्ति निस्राविणी—छिद्ररहित नौका में चढ़कर, (नौका को चलाकर) पार जाने की इच्छा करता है किन्तु वह बीच में ही कष्ट पाता है ।

ऐसा अर्हत् आर्द्रक ऋषि बोले—

अप्पक्कतावराहेहिं, जीवा पावन्ति वेदणं ।
अप्पक्कतेहि सल्लेहिं, सल्लकारी व वेदणं ।।१३।।

१३. प्राणी आत्मकृत अपराधों से ही वेदना को प्राप्त करते हैं और आत्मकृत शल्यों से ही शल्यकारी वेदना को प्राप्त करते हैं ।

13. It is his own sins and misdeeds that generate woe for him and anguish of all kind.

जीवो अप्पोवघाताय, पडते मोहमोहितो ।
बन्धमोग्गरमाले वा,णच्चन्तो बहुवारिओ ।।१४।।

१४. मोहग्रस्त जीव स्वकृत कर्मों से ही अपनी आत्मा (आत्मा के स्वाभाविक गुणों) का नाश और पतन करता है । वासना रूप मुद्गरों से बन्धे हुए के समान अनेक बार (संसार में) नाचता रहा है ।

14. A morally confounded being eclipses the spontaneous glory of his own soul and thereby suffers a fall. He is as if sandwiched between the crushing clubs which drive him repeatedly to reincarnations sans respite.

असब्भावं पवत्तेन्ति, दीणं भासन्ति वीकवं ।
कामग्गहाभिभूतप्पा, जीवितं पयहन्ति य ।।१५।।

१५. कामग्रह से अभिभूत प्राणी असद्भाव की प्रवर्तना करते हैं अथवा विवेकशून्य होकर व्यवहार करते हैं, विकलतापूर्ण दीन वाणी बोलते हैं । वे अपने जीवन और मार्ग का नाश करते हैं अथवा अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारते हैं ।

15. Lecherous individuals multiply falsehood, behave wildly and often resort to entreaties. They lambast their career and their life. It is well nigh a suicide.

हिंसादाणं पवत्तेन्ति, कामसो केति माणवा ।
वित्तं णाणं सविण्णाणं, केयी णेन्ति हि संखयं ।।१६।।

१६. कई मानव काम के वशीभूत होकर हिंसा और चोरी करते हैं, वे अपनी सम्पत्ति, ज्ञान, विज्ञान आदि सब का नाश करते हैं ।

16. Certain stupid individuals libidinously resort to killing and robbery. They are deprived of their property, attainments and wisdom.

24. Be it known O wise, a moment's auspicious mental practice be-speaks of accumulation of immense virtue, what to say of resolute spiritual enterprise aiming at deliverance.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी ।

अद्दइज्जज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् आर्द्रक ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Ardrak, the seer, do pronounce.

आर्द्रक नामक अट्ठाईसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।२८।



20. One may compare them to the enterprise of a sightless attempting to cross over an ocean in a punctured boat.

Ardrak the seer, further said—

काले काले य मेहावी, पंडिए य खणे खणे ।
कालातो कंचणस्सेव, उद्धरे मलमप्पणो ।।२१।।

२१. मेधावी एवं पण्डित प्रतिसमय तथा प्रतिक्षण स्वर्ण की भांति अपनी आत्मा का कालिमा और मल से उद्धार करे अर्थात् मलिनता को दूर करे ।

21. The wise and the learned should keep on burnishing his golden self, thus discarding all eclipsing soil and dirt.

अंजणस्स खयं दिस्स, वम्मीयस्स य संचयं ।
मधुस्स य समाहारं, उज्जमो संजमे वरो ।।२२।।

२२. अंजन-(काजल) का क्षय, वल्मीक-(दीमक) का संचय और मधु का समाहार—संग्रह (का भी क्षय) देखकर संयम मार्ग में उद्यम का वरण करे अर्थात् उद्यमशील बने ।

22. The inevitable erosion of mascara in the eye, ant-hill and honey in the bee-hive should make us wise and we should perseverantly tread the noble path.

उच्चादीयं विकप्पं तु, भावणाए विभावए ।
ण हेमं दन्तकट्ठं तु, चक्कवट्टी वि खादए ।।२३।।

२३. ऊँच-नीच आदि के विकल्प मानसिक भावनाओं पर आधारित हैं । चक्रवर्ती भी स्वर्ण का दतौन (दन्त काष्ठ) नहीं खाता (करता) है ।

23. The concepts of superiority and inferiority are purely mental creations. Even an emperor does not use a golden tooth-brush.

खणथोवमुहुत्तमन्तरं, सुविहित, पाऊणमप्पकालियं ।
तस्स वि विपुले फलागमे, किं पुण जे सिद्धि परक्कमे ?।।२४।।

२४. हे सुविहित पुरुष ! जो क्षण, स्तोक, मुहूर्तमात्र में अल्पकालिक आन्तरिक शुभक्रिया करता है, तो वह अल्प शुभ क्रिया भी विपुल फल प्रदान करती है । जो सिद्धि–परमपद मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करते हैं, उनकी असीम फल प्राप्ति का तो कहना ही क्या है ?

मणुण्णम्मि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य ।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ।।४।।

४. मधुर शब्दों में रंजित नहीं होता है और अप्रिय–कठोर शब्दों पर द्वेष नहीं करता । इस प्रकार माध्यस्थभाव में जागृत–अप्रमत्त रहता हुआ कर्म के प्रवाह को रोक सकता है ।

4. One who remains unruffled and equanimous at the pleasant words as well as the bitter ones, smothers Karmic flow.

रूवं चक्खुमुवादाय, मण्णुण्णं वा वि पावगं ।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ।।५।।

५. नेत्र के द्वारा सुन्दर या असुन्दर रूप को ग्रहण कर, सुन्दरता पर अनुरक्त न हो और असुन्दरता पर द्वेष न करे ।

5. Similarly should our eyes be indifferent to graceful looks as well as the ugly ones.

मणुण्णम्मि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य ।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ।।६।।

६. सुन्दर रूप पर अनुरक्त नहीं होता और असुन्दर रूप पर द्वेष नहीं करता । इस प्रकार तटस्थ वृत्ति में जागृत रहकर कर्म के स्रोत को रोक सकता है ।

6. Unenticed by visual temptations and unrepulsed by abhorent looks, one can stop the Karmic ingress.

गन्धं घाणमुवादाय, मण्णुण्णं वा वि पावगं ।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ।।७।।

७. नासिका के द्वारा सुगन्ध या दुर्गन्ध को ग्रहण कर, सुगन्ध में आसक्त न हो और दुर्गन्ध से घृणा–द्वेष न करे ।

7. Let the nostrils barely sense the perfumes as well as abominable odours, indifferently, neither relishing the one nor abhoring the other.

मणुण्णम्मि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य ।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ।।८।।

२९. एगूणतीसं वद्धमाणनामज्झयणं

सवन्ति सव्वतो सोता, किं ण सोतो णिवारणं ? ।
पुट्ठे मुणी आइक्खे ; कहं सोतो पिहिज्जति ? ।।१।।

व द्ध मा णे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१. सभी ओर के स्रोत–प्रवाह बह रहे हैं। क्या उन स्रोतों के प्रवाह को रोका नहीं जा सकता ? एवं किस प्रकार इन स्रोतों के प्रवाह को रोका जा सकता है ? इस प्रकार पूछने पर मुनि बोले।

ऐसा अर्हत् **वर्द्धमान** ऋषि बोले—

1. There is a Karmic ingression from all directions. Can't this inflow be clamped ? What is the means of doing so ?

To this query Lord Vardhman, the seer, responded thus—

पंच जागरओ सुत्ता, पंच सुत्तस्स जागरा ।
पंचहिं रयमादियति, पंचहिं च रयं ठए ।।२।।

२. जागृत–अप्रमत्त मुनि की पांचों इन्द्रियां सुप्त हैं और अजागृत–प्रमत्त मुनि की पांचों इन्द्रियां सक्रिय हैं। सुप्त मुनि पांचों इन्द्रियों की सक्रियता से कर्म-रज को ग्रहण करता है और जागृत मुनि इन्हीं इन्द्रियों के माध्यम से कर्मरज का निवारण करता है।

2. The five senses of a vigilant and tranquil saint are dormant and those of a morally indolent and physically aroused saint active. A non-vigilant saint engages his senses to Karmic ingestion while a vigilant saint harnesses these senses to the purgation of Karmas.

सद्दं सोतमुवादाय, मण्णुण्णं वा वि पावगं ।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ।।३।।

३. श्रवणेन्द्रिय के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्दों के प्रवाह को प्राप्त कर मनोज्ञ शब्दों से प्रसन्न न हो और अमनोज्ञ–कटु शब्दों से क्रोधित न हो।

3. One should be abjectly inert to words heard through the ears. Pleasant words should arouse no delight nor unpleasant ones annoyance,

12. Such a one is not tempted by the tender touches nor repulsed by the harsh ones and stays vigilant and equanimous to stop the Karmic ingress.

दुद्दन्ता इंदिया पंच, संसाराय सरीरिणं ।
ते च्चेव णियमिया सम्मं, णेव्वाणाय भवन्ति हि ।।१३।।

१३. देहधारियों की दुर्दमनीय बनी हुई ये पांचों इन्द्रियां संसार का हेतु बनती हैं और ये ही इन्द्रियां सम्यक् प्रकार से नियन्त्रित होने पर निर्वाण का हेतु बनती हैं ।

13. These reinless senses generate the world for the individual. Once restrained, these very senses serve as tools for deliverance.

दुद्दन्तेहिंदिएहऽप्पा, दुप्पहं हीरए बला ।
दुद्दन्तेहिं तुरंगेहिं, सारही वा महापहे ।।१४।।

१४. दुर्दान्त बनी हुई इन्द्रियां आत्मा को बलपूर्वक दुष्पथ (कुमार्ग) पर ले जाती हैं । जैसे दुर्दान्त घोड़े सारथि को राजमार्ग से हटाकर बीहड़ पथ में ले जाते हैं ।

14. Unrestrained senses drive the soul along downward infernal trends as the wild stallions drag the chariot off the highway to wilderness.

इन्दिएहिं सुदन्तेहिं, ण संचरति गोयरं ।
विधेयेहिं तुरंगेहिं, सारहिव्वा व संजए ।।१५।।

१५. नियन्त्रित की हुई इन्द्रियाँ सुपथ में संचरण करती हैं । जैसे संयत/शिक्षित अश्व सारथि को प्रशस्त मार्ग पर ले जाते हैं ।

15. Regulated senses are prone to move towards the creditable path like trained steeds that always stick to the highway.

पुव्वं मणं जिणित्ताणं, वारे विसयगोयरं ।
विधेयं गयमारूढो, सूरो वा गहितायुधो ।।१६।।

१६. पहले मन पर विजय प्राप्त करे, फिर विवेक-रूपी हाथी पर आरूढ़ होकर, शस्त्रधारी शूरवीर के समान इन्द्रियों को विषय-वासना की ओर जाने से रोके ।

८. मनोहारी गन्ध पर आसक्त नहीं होता और दुर्गन्ध पर घृणा नहीं करता, इस प्रकार अविरोधी भाव–समचित्त में जागृत रह कर कर्म के स्रोत को रोक सकता है।

8. Incense provokes him not, nor odour repeals. Such a one retains his composure ever and purges Karmas by preventing their inflow.

रसं जिब्भमुवादाय, मणुण्णं वा वि पावगं।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥९॥

९. जिह्वा के द्वारा मधुर रस या अमधुर रस के पदार्थ को ग्रहण कर, मधुर पदार्थों में लोलुप न हो और कड़वे पदार्थों में थू-थू (द्वेष) न करे।

9. Such a one gulps down delicious juices as well as bitter ones with no urge to greedily sip the delectable nor spit out the bitter one.

मणुण्णम्मि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥१०॥

१०. मधुर रस पर लोलुप नहीं होता और कटु रस पर द्वेष नहीं करता, इस प्रकार समान-भाव में जागृत रहकर, कर्म के स्रोत को रोक सकता है।

10. Being always composed at the delectable viand as well as the nauseating one, one can stop the Karmic inflow.

फासं तयमुवादाय, मण्णुण्णं वा वि पावगं।
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्जा हि पावए ॥११॥

११. त्वचा के द्वारा कोमल या कठोर स्पर्श को प्राप्त कर, कोमल स्पर्श में आसक्त न हो और कठोर स्पर्श में द्वेष न करे।

11. Let the tactile sense touch the smooth as well as the rough objects, indifferently neither relishing one nor abhoring another.

मणुण्णमि अरज्जन्ते, अदुट्ठे इयरम्मि य।
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोए पिहिज्जति ॥१२॥

१२. कोमल स्पर्श में लम्पट नहीं होता और कठोर स्पर्श पर द्वेष नहीं करता, इस प्रकार औदासीन्य वृत्ति में जागृत रहकर कर्म के स्रोत को रोक सकता है।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **वर्द्धमान ऋषि**) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, abstinance enlightenment, emancipation, piety and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Vardhman, the seer, do pronounce.

वर्द्धमान नामक उनतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।२९।



16. Initially, mind should be conquered. Then one should ride and command the elephant of wisdom like an armed warrior. One should vigilantly drive senses off the object of passion.

जित्ता मणं कसाए या, जो सम्मं कुरुते तवं ।
संदिप्पते स सुद्धप्पा, अग्गी वा हविसाऽऽहुते ।।१७।।

१७. मन और कषायों पर जो विजय प्राप्त कर, सम्यक् प्रकार से तप करता है वह शुद्धात्मा हविष (होम के योग्य पदार्थों) से आहुत अग्नि के समान दैदीप्यमान होता है ।

17. One who succeeds in conquering the mind and the passions and does penances, shines refulgent like the flame of an altar with rich offerings.

सम्मत्तणिरतं धीरं, दन्तकोहं जितिन्दियं ।
देवा वि तं णमंसन्ति, मोक्खे चेव परायणं ।।१८।।

१८. सम्यक् ज्ञान-दर्शन में निरत, धीर, क्रोधजयी, जितेन्द्रिय और मोक्ष-मार्ग में सावधान (साधक) को देवगण भी नमस्कार करते हैं ।

18. One vigilantly engaged in righteous vision and conduct patiently and without temper or passions is worshipped even by gods.

सव्वत्थ विरये दन्ते, सव्ववारीहिं वारिए ।
सव्वदुक्खप्पहीणे य, सिद्धे भवति णीरये ।।१९।।

१९. समस्त पदार्थों से विरत, दान्त मुमुक्षु सर्वत्र विचरणशील इन्द्रियों को नियन्त्रित कर समस्त दुःखों से रहित होता है और कर्मरज से रहित होकर सिद्ध होता है ।

19. Indifferent to all material objects, a restrained aspirant keeps hold over his senses and is shorn of all woes. He frees himself of all Karmas and ultimately attains the s u m m u m b o n u m.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ वद्धमाणनामज्झयणं ।

3. Destinies are in accordance with the Karmas one performs. These Karmas are infinite in variety. They hold the germs of happiness or misery in them.

कल्लाणा लभति कल्लाणं, पावं पावा तु पावति ।
हिंसं लभति हन्तारं, जइत्ता य पराजयं ।।४।।

४. कल्याणकारी कामों से कल्याण प्राप्त करता है, पापकारी कृत्यों से पाप प्राप्त करता है, हिंसक कृत्यों से हिंसा प्राप्त करता है और जेता बनकर भी पराजय प्राप्त करता है ।

4. Benign Karmas are beneficent. Malevolent Karmas are sinful and woe-awarding. Violent deeds generate violence and the triumphant one might as well be termed as defeated.

सूदणं सूदइत्ताणं, णिन्दित्ता वि य णिन्दणं ।
अक्कोसइत्ता अक्कोसं, णत्थि कम्मं णिरत्थकं ।।५।।

५. दुःख देने वाले को दुःख भोगना पड़ेगा । निन्दक को निन्दित होना पड़ेगा । आक्रोश करने वाले को आक्रोश भोगना पड़ेगा । क्योंकि, कर्म निरर्थक नहीं होते हैं ।

5. One who is a sadist reaps miseries willy nilly. One who maligns others will be slandered in due course Char others in wrath and so shall you be charred. No Karma is fruitless.

मण्णन्ति भद्दका भद्दका इ, मधुरं मधुरं ति माणति ।
कडुयं कडुयं भणियं ति, फरुसं फरुसं ति माणति ।।६।।

६. प्राणी भद्रकार्यों को भद्र–कुशलकारी मानते हैं, मधुर को मधुर मानते हैं, कडुवे को कडुवा कहते हैं और कठोर को कठोर मानते हैं ।

6. Individuals deem suspicious deeds as suspicious, pleasant ones as pleasant, bitter ones as bitter and severe ones as severe.

कल्लाणं ति भणन्तस्स, कल्लाणा एपडिस्सुया ।
पावकं ति भणन्तस्स, पावया एपडिस्सुया ।।७।।

७. कल्याण बोलने वाला कल्याण की ही प्रतिध्वनि सुनता है और पाप बोलने वाला पाप की ही प्रतिध्वनि सुनता है ।

३०. तीसं वाउणामज्झयणं

अधासच्चमिणं सव्वं

वा यु णा सच्चसंजुत्तेणं अरहता इसिणा बुइतं ।

यह समस्त (विश्व) सत्य है। अर्थात् विराट विश्व में जैसा है वह वैसा ही सत्य है।

ऐसा सत्यसंयुक्त अर्हत् **वायु** ऋषि बोले—

The world is what it appears, said truthful Vayu, the seer :

इध जं कीरते कम्मं, तं परतोवभुज्जइ ।
मूलसेकेसु रुक्खेसु, फलं साहासु दिस्सति ।।१।।

१. जो कर्म यहाँ किये जाते हैं उनको परलोक में भोगना पड़ता है। वृक्षों की जड़ का सिंचन करने पर उसकी शाखाओं में फल दिखाई देता है।

1. What you do here revisits you in the next incarnation in the form of your destiny. If a tree is watered in its roots fruits are bound to appear.

जारिसं वुप्पते बीयं, तारिसं भुज्जए फलं ।
णाणासंठाणसंबद्धं, णाणासण्णाभिसण्णितं ।।२।।

२. जिस प्रकार का बीज बोता है उसी प्रकार का फल भोगता (उत्पन्न होता) है। जो कि विविध आकारों (संस्थानों, आकृतियों) में होता है और बहुविध संज्ञाओं से कहा जाता है।

2. As you sow so shall you reap. Myriads are the kinds of destinies thus emerging.

जारिसं किज्जते कम्मं, तारिसं भुज्जते फलं ।
णाणापयोगणिव्वत्तं, दुक्खं वा जइ वा सुहं ।।३।।

३. जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है। विविध प्रकार से साधनों—व्यापारों से कर्मों की रचना होती है। ये कर्म सुख और दुःख रूप होते हैं।

३१. एगतीसं पासिज्जनामज्झयणं

[१.] केऽयं लोए ? [२.] कइविहे लोए ? [३.] कस्स वा लोए ? [४.] के वा लोयभावे ? [५.] केण वा अट्ठेण लोए पवुच्चई ? [६.] का गती ? [७.] कस्स वा गती ? [८.] के वा गतिभावे ? [९.] केण वा अट्ठेण गती पवुच्चति ? पा से ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१ लोक क्या है ? (२) कितने प्रकार का लोक है ? (३) किस का लोक है ? (४) लोकभाव क्या है ? और (५) किस अर्थ में लोक कहा जाता है ? (६) गति क्या है ? (७) किसकी गति होती है ? (८) गतिभाव क्या है ? और (९) किस अर्थ में गति कही जाती है ?

ऐसा अर्हत् पार्श्व ऋषि बोले—

1. What is the world ? 2. How many such planes of existence are there ? 3. To whom the world belongs ? 4. What does one mean by the world ? 5. What is the purport behind it ? 6. What is the destiny ? 7. Who meets this destiny ? 8. What does one mean by destiny ? 9. What is the purport behind destiny ?

Said enlightened seer Parshwa :

[१.] जीवा चेव अजीवा चेव ।

१. लोक जीव और अजीव रूप है ।

1. The world contains the animate and the inanimate.

[२.] चउव्विहे लोए वियाहिते : दव्वतो लोए, खेत्तओ लोए, कालओ लोए, भावओ लोए ।

२. लोक चार प्रकार का कहा गया है—१. द्रव्यलोक, २. क्षेत्रलोक, ३. काल-लोक और ४. भावलोक ।

2. There are four worlds or planes of existence (i) Dravyalok, (ii) Kshetralok, (iii) Kal-lok, and (iv) Bhavalok.

7. One whose utterances are auspicious shall hear similar echoes and one who rains curse shall be retributed accordingly.

पडिस्सुयासरिसं कम्मं, णच्चा भिक्खू सुभासुभं ।
तं कम्मं न सेवेज्जा, जेणं भवति णारए ।।८।।

८. भिक्षु शुभाशुभ कर्मों को प्रतिश्रुति–प्रतिध्वनि के समान ही समझे। जिससे नारक होता है अर्थात् नरक गति मिलती है उन कर्मों का आचरण न करे।

8. A monk should deem benefic and malefic deeds like the sound and its echo. He should abstain from deeds that are infernal in character.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ वाउणामं तीसइममज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी वनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (सत्यसंयुक्त अर्हत् **वायु ऋषि**) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, truthful Vayu, the seer, do pronounce.

वायु नामक तीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३०।



[८] अणादीए अणिधणे गतिभावे ।

८. गति का भाव अनादि और अनन्त है ।

8. Destiny exists infinitely and perennially.

[९] गम्मतीति गती ।

९. गमन किया जाता है, अतः इसे गति कहते हैं ।

9. There is mobility and hence it is called gati.

[अ.] उद्धगामी जीवा, अहेगामी पोग्गला ।

अ. ऊर्ध्वगामी (विकासोन्मुख) जीव होते हैं और अधोगामी पुद्गल होते हैं ।

A. The animate beings evolve and escalate and the inanimate ones descend in scale.

[ब.] कम्मप्पभवा जीवा, परिणामप्पभवा पोग्गला ।

ब. कर्म-प्रसूत जीव होते हैं और परिणाम-प्रसूत पुद्गल होते हैं ।

B. The animate are deed-generated while the inanimate are consequence-generated.

[स.] कम्मं पप्प फलविवाको जीवाणं, परिणामं पप्प फलविवाको पोग्गलाणं ।

स. जीवों की गति कर्म से प्राप्त फल-विपाक से होती है और पुद्गलों की गति परिणाम से प्राप्त फल-विपाक से होती है ।

C. The animate owe their destiny to the brewing catharsis of Karmas while the inanimate owe it to such a process of consequences.

[द] णेविमा पया कयाई अव्वाबाहसुहमेसिया कसं कसावइत्ता ।

द. कोई भी कषाय अथवा हिंसा करके अव्याबाध सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है ।

[३.] अत्तभावे लोए सामित्तं पडुच्च जीवाणं लोए, निव्वत्ति पडुच्च जीवाणं चेव अजीवाणं चेव ।

३. लोक आत्म-भाव में है । स्वामित्व की अपेक्षा से यह जीवों का लोक है और निर्माण/रचना की अपेक्षा से यह लोक जीवों और अजीवों का भी है ।

3. World inheres in self-hood. In the perspective of commandeering position the world belongs to animate beings but in the perspective of its material constitution, it belongs to, both the animate and the inanimate.

[४.] अणादीए अणिहणे पारिणामिए लोकभावे ।

४. लोक का भाव अनादि, अनन्त तथा पारिणामिक है ।

4. Existence (Lok Bhawa) is perennial with no beginning and no end and is consequential in nature.

[५.] लोकतीति लोको ।

5. आलोकित/प्रकाशमान होने के कारण इसे लोक कहते हैं ।

5. As it is endowed with light, it is named as Lok (Alok=light)

[६.] जीवाण य पुग्गलाण य गतीति आहिता ।

६. जीवों और पुद्गलों का गमन ही गति कही गई है ।

6. Destiny of the animate and the inanimate is called Gati.

[७] जीवाणं चेव पुग्गलाणं चेव गती दव्वतो गती, खेत्तओ गती, कालओ गती, भावओ गती ।

७. जीवों और पुद्गलों की गति चार प्रकार की कही गई है—१. द्रव्यगति २. क्षेत्रगति, ३. कालगति और ४. भावगति ।

7. This destiny of both is fourfold—

1. Drava gati (Dravya=Substance)
2. Kshetra gati (Kshetra=Space)
3. Kal gati (Kal=time)
4. Bhava gati (Bhava=existence)

ऐसा मैं (अर्हत् पार्श्व ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Parshwa, the seer, do pronounce.

पार्श्व नामक इकतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३१।

× × × ×

गतिवागरणगंथाओ पभिति जाव सामित्तं इमं अज्झयणं ताव इमो बीओ पाढो दिस्सति, तंजहा :

गतिव्याकरण ग्रन्थ के आरम्भ में यह अध्ययन विद्यमान है। वहाँ इस अध्ययन का दूसरा पाठ भी प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है :—

This discourse is found in the begining of the book 'Gati-vyakaran' as well. Also available in this book is another version of the same text, which is as follows :

[६.] जीवा चेव गमणपरिणता पोग्गला चेव गमणपरिणता। दुविधा गती : पयोगगती य वीससागती य।

६. जीव गतिशील है और पुद्गल भी गतिशील है। गति दो प्रकार की है :—१. प्रयोगगति और २. विस्रसागति।

6. The animate things have destiny, the inanimate things too have destiny. The destiny is of two types, applied and natural.

[७.] जीवाणं चेव पोग्गलाणं चेव।

७. ये दोनों—प्रयोग गति और विस्रसा गति जीव और पुद्गल दोनों की होती है।

7. Both animate and inanimate things are capable of following both these destinies.

[८.] उदइयपारिणामिए गतिभावे।

८. औदयिक और पारिणामिक गति का भाव है।

D. One resorting to sin and violence can never win lasting happiness.

[इ] जीवा दुविहं वेदणं वेदेन्ति पाणातीवात-[...] वेरमणेणं जाव मिच्छादंसणवेरमणेणं। किच्चा जीवा, सातणं वेयणं वेदेन्ति। जस्सट्ठाए बिहेति, समुच्छिज्जिस्सति ग्रट्ठा समुच्चिट्ठिस्सति। णिट्ठित-करणिज्जे सन्ते संसारमग्गा मडाइ णियण्ठे णिरुद्धपवंचे वोच्छिण्णसंसारे वोच्छिण्णसंसारवेदणिज्जे पहीणसंसारे पहीणसंसारवेयणिज्जे णो पुणरवि इत्थत्तं हव्वमागच्छति।

इ. जीव दो प्रकार की वेदना अनुभव करते हैं। प्राणातिपात—हिंसा से निवृत्ति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होकर जीव साता (सुख) वेदन का अनुभव करते हैं। किन्तु जिनसे (हिंसादि कृत्यों से) जीव भय खाता है वे ही उसे प्राप्त होते हैं और नाशकारक बनते हैं। अर्थरूप से वहां विद्यमान रहते हैं। जिसने अपना कर्त्तव्य मार्ग निश्चित् कर लिया है, जो संसार मार्ग में निर्जीव/अचित्त पदार्थों का आहार करता है, जिसने प्रपंचजाल के द्वार को बन्द कर दिया है, ऐसा भिक्षु संसार का छेदन करता है। संसार-प्रसूत वेदना का छेदन करता है, संसार (भव-भ्रमण) का नाश करता है, भव-भ्रमणजन्य वेदना का नाश करता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

E. The animate suffer twofold woe—that which lasts till moral repercussion of violence lasts and that generated by wrong perspective or illusion. Happiness results when both kinds of deeds are fully purged. The cruel deeds that scare the individual ultimately draw him towards themselves to end in his ruination. These deeds haunt him ever. But a monk who has determined his pious course and thrives on vegetable and has bidden goodbye tothe crooked ways, triumphantly achieves his goal. He has no pain to suffer, no reincarnation to bear, no calamity of living to undergo.

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए ग्रलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

पासिज्जनामज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

एस खलु असंबुद्धे असंवुडकम्मन्ते चाउज्जामे णियण्ठे अट्ठविहं कम्मगण्ठि पगरेति, से य चउहिं ठाणेहिं विवागमागच्छति, तंजहा : णेरइएहिं तिरिक्खजोणिएहिं मणुस्सेहिं देवेहिं । अत्तकडा जीवा, णो परकडा, किच्चा किच्चा वेदिन्ति, तंजहा : पाणातिवातवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं । एस खलु संबुद्धे संवुड-कम्मन्ते चाउज्जामे णियण्ठे अट्टविहं कम्मगण्ठि णो पकरेति, से य चउहिं ठाणेहिं णो विपाकमागच्छति, तंजहा : णेरइएहिं तिरिक्खजोणिएहिं मणुस्सेहिं देवेहिं । लोए ण कताइ णासी ण कताइ ण भवति ण कताइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए निच्चे । से जहा नामते पंच अत्थिकाया ण कयाति णासी जाव णिच्चा एवामेव लोकेऽवि ण कयाति णासी जाव णिच्चे ।

वह असम्बुद्ध—ज्ञानरहित, कर्म के द्वारों को न रोकने वाला तथा चातुर्याम धर्म (अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह) से रहित निर्ग्रन्थ आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थि को बांधता है । वे ही कर्म चार प्रकार से विपाक (फलरूप) में आते हैं । वे हैं—१. नरक योनि, २. तिर्यक् योनि ३. मनुष्य योनि और ४. देवयोनि ।

The ignorant, unvigilant towards Karma and devoid of the four dimensional discipline (non-violence, truth, non-theft, and non-possessiveness), is drawn into the eight types of bondages. These Karmas precipitate in four directions which are; hellish, animal, human and devine.

जीव (स्वाधीन रूप से) पुनः-पुनः स्वकृत शुभाशुभ कर्मों को करके उन कर्मों के फल को भोगता है, किन्तु परकृत अर्थात् दूसरे के द्वारा किये गये कर्मों के फल को नहीं भोगता है । वे कर्म हैं :—प्राणातिपात विरति यावत् परिग्रह विरति ।

Indulging repeatedly in activity, the animate thing continues to suffer the consequences of his own deeds, but he does not suffer the consequences of otherds deeds. The activities range from refraining from violence to refraining from possessiveness.

वह सम्बुद्ध—सम्यक् ज्ञानवान्, कर्मागमन के द्वारों को बन्द कर देने वाला तथा चातुर्याम धर्म का पालक श्रमण आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि को नहीं बांधता है । उसे वे ही कर्म चार प्रकार से विपाक रूप में नहीं प्राप्त होते हैं । वे हैं:—नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव ।

8. Spontaneous and resultant are the two forms of destiny.

[९.] गम्ममाणा इति गती ।

९. गमनशील होने से इसे गति कहते हैं ।

9. There is mobility and hence it is called destiny (Gati).

[अ.] उड्ढंगामी जीवा, अधगामी पोग्गला ।

(अ) ऊर्ध्वगामी (विकासोन्मुख) जीव होते हैं और अधोगामी पुद्गल होते हैं ।

A. Animate things evolve and inanimate things degress.

[ब.-स.] पावकम्मकडे णं जीवाणं परिणामे, पावकम्मकडे णं पुग्गलाणं ।

ब–स. पापकर्मशील जीव परिणाम (मानसिकभाव) से गति करता है। पापकर्मशील जीव पुद्गलों की गति में भी प्रेरक होता है ।

B & C. Indulgence in evil deeds results in movement towards) destiny. Evil doer also pushes inanimate things.

[द] ण कयाति पया अदुक्खं पकासीति ।

द. इसका वशवर्ती कदापि अदुःख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं करेगा।

D. He who is under the influence of destiny can never attain Moksha or void of sorrow.

[इ] अत्तकडा जीवा, किच्चा किच्चा वेदेन्ति, तंजहा : पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेणं ।

इ. आत्मा स्वयं पुनः-पुनः कर्मों को करके उसका वेदन करती है, अर्थात् स्वकृत कर्मों को भोगती है । वे कर्म इस प्रकार हैं—प्राणातिपात यावत् परिग्रह ।

E. Indulging repeatedly in the activity the animate thing continues to suffer the consequences. The activities range from killing to hoarding.

३२. बत्तीसं पिंगज्झयणं

दिव्वं भो किसिं किसेज्जा, णो अप्पिणेज्जा। पिं गे ण माहण-परिव्वायएणं अरहता इसिणा बुइतं।

भो मुमुक्षु ! दिव्य कृषि (खेती) कर। दिव्य कृषि का त्याग मत कर।

ऐसा अर्हत् माहण परिव्राजक **पिंग** ऋषि बोले—

O Aspirant, please sow the divine crop. Never avert from the divine, said Brahmin Ping, the enlightened seer :

कतो छेत्तं, कतो बीयं, कतो ते जुगणंगलं ?
गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो, का णाम ते किसी ? ॥१॥

१. हे आर्य ! तुम्हारा क्षेत्र—खेत कहाँ है ? बीज कहाँ है ? हल कहाँ है ? तुम्हारे बैल भी नहीं देख रहा हूँ। फिर तुम्हारी किस प्रकार की खेती है ?

1· Where does lie your field, O Arya ? What be thy seed ? I find no bullocks with you. How do you till land then ?

आता छेत्तं, तवो बीयं, संजमो जुगणंगलं।
अहिंसा समिती जोज्जा, एसा धम्मन्तरा किसी ॥२॥

२. आत्मा क्षेत्र है, तप बीज है, संयम हल है और अहिंसा एवं समिति रूप बैल जोड़ी है। यह धर्मगर्भा/आध्यात्मिक खेती है।

2. Soul is the field, penances the seed, self-restraint the plough and non-violence and equanimity constitute the pair of bullocks. This way lies the spiritual agriculture.

एसा किसी सोभतरा, अलुद्धस्स वियाहिता।
एसा बहुसई होइ, परलोकसुहावहा ॥३॥

३. यह खेती अतीव शुभ–कल्याणकारी है। इस खेती का निष्पादन निर्लोभी ही कर सकता है। यह खेती पवित्रतम है और परलोक में सुख प्रदान करने वाली है।

3. This variety of agriculture is highly auspicious. Only a non-avaricious being can succeed in it and none else. This is the holy agriculture and it yields lasting happiness hereafter.

The wise (having right knowledge), vigilant towards Karma and observer of the four dimensional discipline, is not drawn into the eight types of bondages. For him the Karmas do not precipitate in four directions; which are : hellish. animal, human, and devine.

यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है। यह लोक कभी नहीं है, ऐसा भी नहीं है। यह लोक कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है।

It is not that the world was never there; nor is it that the world is not there; nor is it that the world will not be.

यह लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। क्योंकि, यह लोक ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है और नित्य अवस्थित है। जैसे पंचास्तिकाय कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है। यावत् नित्य है। इसी प्रकार लोक भी कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, यावत् नित्य अवस्थित है।

The world was, is and will be there. The world is constant, incessant, eternal, durable and perpetual. As the five fundamentals are never non-existant so is the world never non-existant.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **पार्श्व ऋषि**) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment. emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Parshva the seer, do pronounce.

पार्श्व नामक एगतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३१।

३३. तेत्तीसं अरुणनामज्झयणं

दोहिं ठाणेहिं बालं जाणेज्जा, दोहिं ठाणेहिं पण्डितं जाणेज्जा :

सम्मामिच्छापओतेणं, कम्मुणा भासणेण य ।

दो स्थानों–कारणों से मानव का बाल (अज्ञानी) रूप जाना जाता है और दो कारणों से मानव का पण्डितरूप जाना जाता है । (शक्ति का) सम्यक् प्रयोग और मिथ्या प्रयोग तथा कर्म–कर्त्तव्य और वाणी (भाषण) से ।

It is apt or inopportune use of power and similar use or abuse of speech, that distinguish the wise from the foolish.

दुभासियाए भासाए, दुक्कडेण य कम्मुणा ।
बालमेतं वियाणेज्जा, कज्जाकज्जविणिच्छए ॥१॥

१. अशिष्ट वाणी, दुष्कृत्य कर्म तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विनिश्चय (विवेक शून्यता) के माध्यम से मानव को बाल–अज्ञानी जानो ।

1. One, prone to indecent speech and wrong and indiscreet action, is termed an ignorant man.

सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा ।
पण्डितं तं वियाणेज्जा, धम्माधम्मविणिच्छये ॥२॥

२. सभ्यभाषा, सुकृत कर्म तथा धर्म-अधर्म के विनिश्चय द्वारा मानव को पण्डित समझो ।

2. Courteous language, appropriate action and spiritual wisdom are marks of wise man.

दुभासियाए भासाए, दुक्कडेण य कम्मुणा ।
जोगक्खेमं वहन्तं तु, उसुवायो व सिंचति ॥३॥

३. जो असभ्य भाषा और निन्दनीय कर्मों के द्वारा योगक्षेम (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त का रक्षण) को धारण करना चाहता है, तो वह (बाल) मानो ईख का वायु से सिंचन करता है ।

3. One who resorts to indecorous utterance and unworthy action to fulfil his purpose and protect his interests is like a cultivator who nurtures sugarcane crop with wind instead of water.

एयं किसिं कसित्ताणं, सव्वसत्तदयावहं ।
माहणे खत्तिए वेस्से, सुद्दे वावि य सिज्झती ।।४।।

४. प्राणिमात्र पर कारुण्यभावधारक जो इस प्रकार की खेती करता है वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो तब भी विशुद्ध स्थिति को प्राप्त करता है ।

4. An individual compassionate to each living being cultivates spiritually, be he Brahmin, Kshatriya, Vaishya or Shudra and he thus attains highest piety.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

पिंगज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् माहण **परिव्राजक पिंग ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Brahmin Ping, the nomadic seer) do pronounce.

पिंग नामक बत्तीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३२।



८. ज्ञानीजनों के सम्पर्क से इस लोक में कीर्ति प्राप्त होती है और परलोक में सद्गति प्राप्त होती है। अतः बुद्धिमान् सर्वदा साधुजनों से सम्पर्क करें।

8. Contact with the wise procures commendation and a happy destiny. Hence the farsighted should always keep such company.

खइणं पमाणं वत्तं च, देज्जा अज्जति जो धणं ।
सद्धम्मवक्कदाणं तु, अक्खयं अमतं मतं ॥९॥

९. धन-सम्पत्ति के अर्जन तथा दान कर्त्ता को काल संदेश देता है कि यह सम्पत्ति मर्यादित समय तक रहने वाली और अन्त में नाश होने वाली है। जबकि सद्धर्ममय वाणी का अंश दान भी अक्षय और अमृतमय होता है।

9. Giving away wealth and property in charity is less worthy than uttering virtuous and pious words, for the wealth and its effects are transitory while the spiritually pregnant utterances are truly lasting in virtue.

पुण्णं तित्थमुवागम्म, पेच्चा भोज्जाहि तं फलं ।
सद्धम्मवारिदाणेणं, खिप्पं सुज्झति माणसं ॥१०॥

१०. पुण्यतीर्थ को प्राप्त कर और उससे प्राप्त हितकारी फलों का परलोक में उपभोग करोगे। (उस फल की प्रसवभूमि) मानस/हृदय सद्धर्म रूपी जल दान (सिंचन) से शीघ्र शुद्ध-पवित्र होता है।

10. The outcome of such utterances is attainment of virtuous and holy regions hereafter. Such utterances sublimate our mind and heart.

सब्भाववक्कविवसं, सावज्जारम्भकारकं ।
दुम्मित्तं तं विजाणेज्जा, उभयो लोगविणासणं ॥११॥

११. अपने वक्र-विपरीत स्वभाव से विवश होकर सावद्यारम्भ-आस्रवजन्य पाप कर्म करने वाले को दुर्मित्र समझना चाहिए। ऐसे दुर्मित्रों के संसर्ग से दोनों (इह-पर) लोक बिगड़ जाते हैं।

11. Those who enhance their Karmic field, compelled by their very nature and thus add to their sins, should be taken to be enemies. Such a company is bound to ruin our present and the existence to be.

सम्मत्तणिरयं धीरं, सावज्जारम्भवज्जकं ।
तं मित्तं सुट्ठु सेवेज्जा, उभयो लोकसुहावहं ॥१२॥

सुभासियाए भासाये, सुकडेण य कम्मुणा ।
पज्जण्णे कालवासी वा, जसं तु अभिगच्छति ।।४।।

४. शिष्टवाणी और प्रशस्त कर्म से वह (पण्डित) समय पर बरसने वाले मेघ के समान यश को प्राप्त करता है ।

4. Decency of speech and noble deeds yield one immense fame.

णेव बालेहि संसग्गि, णेव बालेहि संथवं ।
धम्माधम्मं च बालेहिं, णेव कुज्जा कदायि वि ।।५।।

५. बाल/अज्ञानियों के साथ कदापि संसर्ग न करें और न उनसे घनिष्ट सम्पर्क ही रखें । उनके साथ कदापि धर्माधर्म तत्त्वों का विचार-विमर्श भी न करें ।

5. Little concourse be had with the immature and unwise folk. They hardly deserve to be consulted in respect of religious and spiritual matters.

इहेवाकित्ति पावेहिं, पेच्चा गच्छेइ दोग्गतिं ।
तम्हा बालेहि संसग्गि, णेव कुज्जा कदायि वि ।।६।।

६. अज्ञानियों के सम्पर्क से इस लोक में अपकीर्ति मिलती है और परलोक में दुर्गति प्राप्त होती है । अतः बाल-अज्ञानियों के साथ कदापि संसर्ग न करें ।

6. A traffic with such folk attracts infamy and evil destiny hereafter. They should be scrupulously shunned.

साहूहिं संगमं कुज्जा, साहूहिं चेव संथवं ।
धम्माधम्मं च साहूहिं, सदा कुव्वेज्ज पण्डिए ।।७।।

७. पण्डित–प्रज्ञाशील पुरुष साधुजनों–ज्ञानीपुरुषों के साथ सर्वदा संसर्ग करें और उनसे घनिष्ठ सम्पर्क रखें तथा उनके साथ सर्वदा तत्त्वविचारणा करें ।

7. Wise and learned beings should seek the proximity of saints and profoundly learned persons and engage in conference with them.

इहेव कित्ति पाउणति पेच्चा गच्छइ सोग्गतिं ।
तम्हा साधूहि संसग्गि, सदा कुव्विज्ज पण्डिए ।।८।।

कल्लाणमित्तसंसग्गिं, संजओ मिहिलाहिवो ।
फीतं महितलं भोच्चा, तंमूलाकं दिवं गतो ॥१६॥

१६. कल्याण मित्र अथवा कल्याणकारी मित्र के सम्पर्क से मिथिलाधिपति संजय विस्तृत राज्य को भोगकर, उगते सूर्य की आभा के समान दिव्यलोक को प्राप्त हुआ ।

16. It was favourable company of friends that enabled Sanjay, the mighty King of Mithila, to enjoy his vast empire and attain divine planes of existence hereafter.

अ रु णे ण म हा सा ल पु त्ते ण अरहता इसिणा बुइतं ।

ऐसा अर्हत् **महाशाल-पुत्र अरुण ऋषि** बोले—

Mahashal's son, enlightened Arun, the seer, further added :

सम्मत्तं च अहिंसं च, सम्मं णच्चा जितिन्दिए ।
कल्लाणमित्तसंसग्गिं, सदा कुव्वेज्ज पण्डिए ॥१७॥

१७. जितेन्द्रिय और प्रज्ञाशील मुमुक्षु सम्यक्त्व और अहिंसा का सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर सर्वदा कल्याणकारी मित्र का संसर्ग करें ।

17. An austere and wise aspirant should master equanimity and non-violence and stay in the company of the noble ones.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

अरुणिज्जनाममज्झयणं तेत्तीसइमं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **महाशालपुत्र अरुण ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, piety, abstinance and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Mahashal's son Arun, the seer) do pronounce.

अरुण नामक तैतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३३।

१२. सम्यक्त्वनिरत और आस्रवजन्यपापकर्मों के वर्जक को मित्र समझना चाहिये। उस मित्र की भली प्रकार से सेवा करनी चाहिये। ऐसे मित्रों का सम्पर्क या उपासना दोनों लोक में सुखकारी होती है।

12. One, ever equanimous and least prone to sinful acts, should be deemed as a friend. We should serve such a one with devotion. Seeking company of such beings and serving them is ever benefic, now or later.

संसग्गितो पसूयन्ति, दोसा वा जइ वा गुणा।

वाततो मारुतस्सेव, ते ते गन्धा सुहावहा ॥१३॥

१३. संसर्ग से ही दोष और गुण पैदा होते हैं। वायु जिस ओर से बहती है उस ओर की सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध ग्रहण कर लेती है।

13. Virtue and vice emanate from corresponding contact, as fragrance or malodour flow with the wind that carries either.

संपुण्णवाहिणीओ वि, आवन्ना लवणोदधिं।

पप्पा खिप्पं तु सव्वा वि, पावन्ति लवणत्तणं ॥१४॥

१४. समस्त नदियाँ आश्रय प्राप्त करने के लिये वेग से लवण समुद्र में आकर मिलती हैं। उसमें मिलते ही उन नदियों का मधुर जल भी खारा बन जाता है।

14. All the rivers rush towards the salty ocean in their urge to seek refuge. This confluence results in the subsequent bitterness of previously sweet stream.

समस्सिता गिरिं मेरुं, णाणावण्णा वि पक्खिणो।

सव्वे हेमप्पभा होन्ति, तस्स सेलस्स सो गुणो ॥१५॥

१५. नानावर्ण वाले पक्षी जब सुमेरु पर्वत पर पहुँच कर उसका आश्रय लेते हैं तो वे सभी स्वर्ण की आभा से युक्त हो जाते हैं। यह उस सुमेरु पर्वत का गुण है।

15. Birds of diverse kind borrow a golden hue when they reach the summit of the fabled golden Sumeru Mountain. This virtue is conferred by the proximity of the great Mountain.

(२) यदि अज्ञानी ज्ञानशील को प्रत्यक्ष में ही कठोर वचन कहता है तो प्रज्ञावान् मन में विचार करे कि, 'देखो ! यह बाल/मूर्ख मेरे सामने ही मुझको कठोर वचन कह रहा है, किन्तु यह किसी डंडे से, लाठी से, पत्थर से, मुष्टि से या छोटे कपाल (घड़े का टुकड़ा, ठीकरी) आदि से मारता नहीं है, तर्जना नहीं करता है, पीटता नहीं है, परिताड़ना नहीं करता है, सन्ताप (परिताप) नहीं देता है और न उपद्रव करता है। अज्ञानी मूर्ख-स्वभाव के होते हैं। इनको किंचित् भी ज्ञान या अनुभव नहीं होता है।' अतः ज्ञानशील मूर्खों की कठोरवाणी को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्यभाव रहित होकर सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

2. If a fool casts aspersions in the immediate presence of a wise man the latter should still rationalise it as a lesser evil since the fool at least abstained from beating him with stick, stone and abuses. Fools pride in their folly. They never realise what is true and proper. That's why it is incumbent upon a wise man to brace himself for bearing such bruises reticently.

[3.] बाले य पण्डितं दण्डेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा कवालेण वा अभिहणेज्जा... उद्दवेज्जा, तं पण्डिए बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले दण्डेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा कवालेण वा अभिहणति तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति उद्दवेति, अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णयरं सरीरजायं अच्छिन्दइ वा विच्छिन्दइ वा। मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बाले-हितो ण विज्जति।' तं पण्डिए सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

(३) यदि अज्ञानी व्यक्ति प्रज्ञाशील को डंडे से, लाठी से, पत्थर से, मुष्टि से, घड़े के टुकड़े आदि से मारता है, यावत् उपद्रव करता है तो वह पण्डित हृदय में पर्यालोचन करे कि 'देखो, यह अज्ञानी मुझे दण्ड से, लाठी से, पत्थर से, मुष्टि से, घड़े के टुकड़े से मारता है, तर्जना करता है, पीटता है, परितापना करता है, सन्ताप देता है और उपद्रव करता है, किन्तु यह किसी शस्त्र से मेरे शरीर के किसी अवयव का छेदन नहीं कर रहा है और न भेदन कर रहा है। अज्ञानी मूर्ख-स्वभाव के होते हैं, इनको किंचित् भी ज्ञान या अनुभव नहीं होता है।' अतः पण्डित पुरुष इन उपद्रवों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य पूर्वक सहन करे, दैन्यभाव रहित होकर सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

३४. चउतीसं इषिगिरिज्झयणं

पंचहिं ठाणेहिं पण्डिते बालेणं परीसहोवसग्गे उदीरिज्जमाणे सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा :

प्रज्ञाशील मानव अज्ञानियों द्वारा पांच प्रकार से उदीर्ण/प्रेरित किये जाने वाले परीषहों और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्य भावों से रहित होकर सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे ।

A wise man should stoically suffer provocation and iniquities inflicted by the unwise. He should never be depressed or cowed down at such a treatment.

[१.] बाले खलु पण्डितं परोक्खं फरुसं वदेज्जा । तं पण्डिते बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले परोक्खं फरुसं वदति, णो पच्चक्खं । मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिन्तो ण विज्जति ।' तं पण्डिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अधियासेज्जा ।

(१) यदि कोई बाल/मूर्ख प्राणी प्रज्ञाशील को परोक्ष में (पीठ पीछे) कठोर वचन कहता है तो पण्डित पुरुष विचार करे कि 'यह अज्ञानी परोक्ष में कठोर वचन कह रहा है अर्थात् निन्दा कर रहा है, किन्तु मेरे सन्मुख कुछ नहीं कह रहा है । अज्ञानी मूर्ख-प्रकृति के होते हैं । इनको किंचित् भी ज्ञान का अनुभव नहीं है ।' अतः ज्ञानवान मूर्खों की निन्दा या कठोर वचनों को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, शान्ति रखे और उन पर विजय प्राप्त करे ।

1. If a fool back-bites in respect of wise man the latter should be thankful that at least the former has spared him the humiliation of slighting him in his face. Fools are short-sighted. They have scanty wisdom. Hence it is but proper that the wise stand their nuisance without getting perturbed, patiently and stoically.

[२.] बाले खलु पण्डितं पच्चक्खमेव फरुसं वदेज्जा । तं पण्डिए बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले पच्चक्खं फरुसं वदति, णो दण्डेण लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा बाले कवालेण वा अभिहणति तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति उद्दवेति । मुक्खसभावा हु बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति ।' तं पण्डिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा ।

होता है। अतः ज्ञानी पुरुष इस जीव-नाश को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य पूर्वक क्षमा करे, प्रसन्नता से सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

ऐसा अर्हत् **माहणपरिव्राजक ऋषिगिरि** बोले—

5. If the fool deigns to commit the wise man to death, the latter should console himself that the former has made this onslaught on the latter's physical body only, sparing his spiritual accomplishment and D h a r m a inviolate. Fools always pride upon their fatuity and the wise should tolerantly countenance it with catholicity and in good cheer.

Such was the preaching of Brahmin nomadic seer, Rishigiri :

जेण केणइ उवाएणं, पण्डिओ मोइज्ज अप्पकं ।
बालेणुदीरिता दोसा, तं पि तस्स हितं भवे ॥१॥

१. पण्डित पुरुष हर प्रकार के प्रयत्नों से अपनी आत्मा को मुक्त (प्रसन्न) रखे। अज्ञानियों के द्वारा किये गये द्वेषादि भी उसकी आत्मा के लिये हितकारी होते हैं।

1. A wise man should always retain his spiritual composure. Ill-will of the unwise is in a way beneficial for his self.

अपडिन्नभावाओ, उत्तरं तु ण विज्जती ।
सइं कुव्वइ वेसे णो, अपडिण्णे इह माहणे ॥२॥

२. जो अप्रतिज्ञ—राग-द्वेषरहित अथवा प्रतिहिंसा रहित भावों का धारक उत्तर—प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता है और स्वयं द्वेष नहीं करता है, वही अप्रतिज्ञ होता है और वही माहण होता है।

2. One free from resolve, attachment-aversion and retaliation, never responds to vicious provocation. He is free from ill-will and is a true Brahmin.

किं कज्जते उ दीणस्स, णऽण्णत्थ देहकंखणं ।
कालस्स कंखणं वा वि, णऽण्णत्तं वा वि हायती ॥३॥

३. दीन (साधारण) व्यक्ति देह की आकांक्षा के अतिरिक्त कुछ करता है ? नहीं। वह दीन कभी-कभी मृत्यु की अभिलाषा करता है। इस प्रकार के चिन्तन से वह अपने आत्मस्वभाव का नाश करता है।

3. If a stupid man chooses to beat and torture the wise man with stone, stick etc. and pillory him like a ruffian, the latter should accept such a maltreatment with grace since he could have done worse and very well amputated or pierced his limbs as well. Fools will remain what they are, inconsiderate and indiscreet. A wise man should bear their mischief stoically without a demur.

[४.] बाले य पण्डियं अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णतरं सरीरजायं अच्छिन्देज्ज वा विच्छिन्देज्ज वा, तं पण्डिए बहु मण्णेज्जा–'दिट्ठा मे एस बाले अण्णतरेणं सत्थजातेणं अच्छिन्दति वा विच्छिन्दति वा, णो जीवितातो ववरोवेति। मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति।' तं पण्डिए सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

(४) यदि अज्ञानी व्यक्ति पण्डित पुरुष के शरीरस्थ किसी अंग का किसी शस्त्रादि से छेदन करता है, भेदन करता है तो वह पण्डित पुरुष आलोचन करे कि– 'देखो, यह अज्ञानी किसी शस्त्र विशेष से मेरे शरीर के किसी अवयव का छेदन अथवा भेदन कर रहा है, किन्तु मेरे प्राणों का नाश नहीं कर रहा है। ये अज्ञानी मूर्ख-स्वभाव के होते हैं। इन्हें किंचित् भी ज्ञान या अनुभव नहीं होता है।' अतः पण्डित पुरुष इस छेदन-भेदन को सम्यक् प्रकार से सहन करे, सामर्थ्य पूर्वक सहन करे, तितिक्षा–प्रसन्नता से सहन करे और उन पर विजय प्राप्त करे।

4. If the fool resorts to piercing the wise man's body or inflicting grievous injuries, the latter should still stand this affliction patiently with the consolation that at least he has chosen to spare the life of the hapless victim. Fools are replicas of indiscretion. They are unsympathetic and heartless. There is no go but to stand their inflictions with forbearance.

[५.] बाले पण्डितं जीवियाओ ववरोवेज्जा, तं पण्डिते बहु मण्णेज्जा : 'दिट्ठा मे एस बाले जीविताओ ववरोवेति, णो धम्माओ भंसेति। मुक्खसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति'। तं पण्डिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।
इ सि गि रि णा माहणपरिव्वायएणं अरहता बुइतं।

(५) यदि बाल–अज्ञानी पुरुष प्रज्ञावान् पुरुष के प्राणों का नाश करता है तो वह पण्डित ज्ञानवान् अधिक गम्भीरता से विचार करे कि—'देखो, यह अज्ञानी मेरे प्राणों का नाश कर रहा है, किन्तु मेरे धर्म को भ्रंश/भ्रष्ट अथवा नष्ट नहीं कर रहा है। अज्ञानी मूर्ख-स्वभाव वाले होते हैं, इन्हें किंचित् भी ज्ञान या अनुभव नहीं

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **माहण परिव्राजक ऋषिगिरि**) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirent to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Brahmin nomad Rishigiri, the seer) do pronounce.

ऋषिगिरि नामक चौतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३४।



3. Does a common being aspire for anything except physical well-being ? He does not. However, such a being may sometimes desire death also. These are the means to ruin one's spirituality.

णच्चाण आतुरं लोकं, णाणावाहीहि पीलितं ।
णिम्ममे णिरहंकारे, भवे भिक्खू जितिन्दिए ।।४।।

४. लोक को नानाविध रोगों से रोगग्रस्त और पीड़ित देखकर भिक्षु श्रमण ममत्व और अहंकार रहित होकर जितेन्द्रिय बने ।

4. Being aware of the myriad ailments and miseries in the world, the monk should free himself of ego and pride and stay restrained.

पंचमहव्वयजुत्ते, अकसाए जितिन्दिए ।
से हु दन्ते सुहं सुयती, णिरुवसग्गे य जीवति ।।५।।

५. पांच महाव्रतों से युक्त, कषाय रहित, जितेन्द्रिय और दमनशील श्रमण सुख से सोता है और उपसर्ग/उपद्रव रहित जीवन यापन करता है ।

5. Steadfast in the five great vows, free from vice and attachment, restrained and austere, the monk is ever content and passes a truly quiet and undisturbed life.

जे ण लुब्भति कामेहिं, छिण्णसोते अणासवे ।
सव्वदुक्खपहीणो उ, सिद्धे भवति णीरए ।।६।।

६. जो कामवासनाओं में लुब्ध नहीं होता है, जिसने कर्मस्रोत को छिन्न (नाश) कर दिया है और जो आस्रव रहित है वह समस्त दु:खों से मुक्त होकर, कर्मरज रहित होकर सिद्ध होता है ।

6. One not given to libidinous temptations, shielded from Karmic ingress, is everfree from all woes and protected from Karmic smear, attains the ultimate.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इसिगिरिणामज्झयणं चउतीसइमं ।

अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए ।
कोवं किच्चा महाबाणं, अप्पा विन्धइ अप्पकं ।।१।।

१. अज्ञानग्रस्त विमूढ़ात्मा केवल वर्तमान को देखता है और क्रोध को महाबाण बनाकर, उससे अपनी आत्मा को बींध डालता है ।

1. A confused being attends to his present only and pierces his own soul by means of the arrow of wrath.

मण्णे बाणेण विद्धे तु, भवमेक्कं विणिज्जति ।
कोधबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ।।२।।

२. बाण से बींध जाने पर मात्र एक भव बिगड़ता है, किन्तु क्रोध रूपी बाण से विद्ध होने पर भव-सन्तति/भव-परम्परा ही बिगड़ जाती है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

2. If one were pierced with an arrow, it would spoil his mundane existence only but by wrath one's very perennial career is menaced.

अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए ।
माणं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधइ अप्पकं ।।३।।

३. अज्ञानग्रस्त विमूढ़ात्मा केवल वर्तमान को देखता है और मान को महावाण बनाकर, उससे अपनी आत्मा को बींध डालता है ।

3. A confused being cares for the immediate present only while the arrow of vanity pierces his own soul.

मण्णे बाणेण विद्धे तु, भवमेकं विणिज्जति ।
माणबाणे विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ।।४।।

४. वाण से वींध जाने पर एक भव विगड़ता है किन्तु मान रूपी वाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा ही विगड़ जाती है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

4. An arrow can merely spoil this incarnation but vanity would ruin his perennial career.

अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए ।
मायं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधइ अप्पकं ।।५।।

३५. पणतीसं अद्दालइज्जज्झयणं

चउहिं ठाणेहिं खलु भो जीवा कुप्पन्ता मज्जन्ता गूहन्ता लुब्भन्ता वज्जं समादियन्ति, वज्जं समादिइत्ता चाउरन्तसंसारकन्तारे पुणो पुणो अत्ताणं परिविद्धंसन्ति, तंजहा : कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं । तेसिं च णं अहं परिघातहेउं अकुप्पन्ते अमज्जन्ते अगूहन्ते अलुब्भन्ते तिगुत्ते तिदण्डविरते णिस्सल्ले अगारवे चउविकहविवज्जिए पंचसमिते पंचेन्दिय-संवुडे सरीरसाधारणट्ठा जोगसंधणट्ठा णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविप्प-मुक्कं उग्गमुप्पायणासुद्धं तत्थ तत्थ इतराइतरकुलेहिं परकडं परणिट्ठितं विगतिंगालं विगतधूमं सत्थातीतं सत्थपरिणतं पिण्डं सेज्जं उवहिं च एसे भावेमि त्ति अ द्दा ल ए णं अरहता इसिणा बुइतं ।

भो ! जीव चार प्रकार से कुपित होकर, मानी होकर, मायावी होकर और लोभी होकर हिंसादि पापकर्म को ग्रहण करता है । पापकर्मों को ग्रहण कर चतुर्गतिरूप संसार-वन में पुनः-पुनः अपने आत्मगुणों का विध्वंस करता है । वे हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ । अब मैं इन चारों कषायों का प्रतिघात—नाश करने हेतु क्रोध नहीं करता, मान नहीं करता, छद्म/छलप्रपंच नहीं करता और लोभ नहीं करता । तीन गुप्तियों से रक्षित, मनो-वाक्-काय त्रिदण्ड से रहित, शल्य-रहित, महत्व अथवा अभिलाषा से रहित, चार विकथाओं से रहित, पांच समितियों से युक्त, पांचों इन्द्रियों से संवृत होकर, शरीर-धारण और योगसाधन के लिए नव-कोटि विशुद्ध, दस दोषों से रहित, उद्गम और उत्पादन के दोषों से मुक्त, यहाँ-वहाँ विभिन्न कुलों में दूसरे के द्वारा बनाया हुआ और दूसरे के लिए निष्पादित, अग्नि और धूम्ररहित, शस्त्ररहित और शस्त्रपरिणत पिण्ड–भोजन, शय्या और उपधि ग्रहण करता हूँ ।

ऐसा अर्हत् **अद्दालक** (उद्दालक) ऋषि बोले—

Be it known that the individual lapses into violence and sin, tempted by wrath, vanity, illusion and greed. Being soiled by sinful deeds, he loses his spirituality, owing to the fourfold worldly vices—wrath, vanity, illusion and avarice. To remedy these four vices I avoid these evils of anger, ego, illusion and avarice. I am fully protected from vice in my mind, speech and body. I am free from sin, ego and aspiration. I fully restrain myself and guard my five senses. For survival I beg pure meals not exclusively cooked for me and casually achieved, I similarly seek my bed, said Uddalak, the seer ;

9. That warrants attaining the ultimate truth by true perspective and conquering the four evils. One should discern the self from the non-self and free oneself from desire.

जेसु जायन्ते कोधाती, कम्मबन्धा महाभया ।
ते वत्थू सव्वभावेणं, सव्वहा परिवज्जए ॥१०॥

१०. जिन पदार्थों से कर्म-बन्धन के हेतु महाभयकारी क्रोधादि उत्पन्न होते हैं उन समस्त पदार्थों का समस्त प्रकार के भावों से सर्वथा परित्याग करे ।

10. The things that generate the terrible wrath and other Karmic bondages should be scrupulously eliminated by all means.

सत्थं सल्लं विसं जन्तं, मज्जं वालं दुभासणं ।
वज्जेन्ती तं णिमेत्तेणं, दोसेणं ण वि लुप्पति ॥११॥

११. शस्त्र, शल्य, विष, यन्त्र, मदिरा, सर्प और कटुवाणी का त्याग करने वाला तन्निमित्त से होने वाले दोषों से लिप्त नहीं होता है ।

11. One who abandons arms, sin, poison, instruments or gadgets, liquor, serpent and unpleasant address is spared of sins emanating therefrom.

आतं परं च जाणेज्जा, सव्वभावेण सव्वधा ।
आयट्ठं च परट्ठं च, पियं जाणे तहेव य ॥१२॥

१२. स्व और पर का सर्वभाव से सर्वथा परिज्ञान करे तथा इसी प्रकार स्व-अर्थ और परार्थ का सर्वभाव से सर्वथा हितकारी ज्ञान प्राप्त करे ।

12. One should distinguish the self from the non-self and arrive at the truly beneficial wisdom emanating therefrom by realising their true implication.

सए गेहे पलित्तम्मि, किं धावसि परातकं ?
सयं गेहं णिरित्ताणं, ततो गच्छे परातकं ॥१३॥

१३. स्वयं का घर (आत्मगृह) जल रहा है ऐसी दशा में दूसरे के घर की ओर क्यों दौड़ते हो ? स्वयं के घर की आग बुझाने के बाद दूसरे घर की ओर जाओ ।

५. अज्ञानग्रस्त विमूढात्मा केवल वर्तमान को देखता है और माया को महाबाण बनाकर, उससे अपनी आत्मा को बींध डालता है।

5. A confused being cares for the present only and pierces his soul with arrow of illusion.

मण्णे बाणेण विद्धे तु, भवमेकं विणिज्जति ।
मायाबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ॥६॥

६. बाण से बींध जाने पर एक भव बिगड़ता है किन्तु मायारूपी बाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा ही बिगड़ जाती है। ऐसा मैं मानता हूँ।

6. An arrow can merely ruin one incarnation while illusion endangers the very perennial career of his.

अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए ।
लोभं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधइ अप्पकं ॥७॥

७. अज्ञानग्रस्त विमूढात्मा केवल वर्तमान को देखता है और लोभ को महाबाण बनाकर, उससे अपनी आत्मा को बींध डालता है।

7. A confused being cares for the present only and pierces his soul with avarice.

मण्णे बाणेण विद्धे तु भवमेकं विणिज्जति ।
लोभबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंतति ॥८॥

८. बाण से बींध जाने पर मात्र एक भव बिगड़ता है किन्तु लोभरूपी बाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा ही बिगड़ जाती हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

8. *An arrow can merely spoil one incarnation while avarice* imperils the very perennial career of his.

तम्हा तेसिं विणासाय, सम्ममागम्म संमतिं ।
अप्पं परं च जाणित्ता, चरेऽविसयगोयरं ॥९॥

९. अतएव क्रोधादि चारों कषायों का विनाश करने के लिए विशद बुद्धि से सम्यक्दर्शन/सत्य तत्त्व को प्राप्त करे और स्व तथा पर का ज्ञान प्राप्त कर विषय-वासना रहित पथ पर विचरण करे।

17. If a valiant person keeps a vigil in another palace, what shall it yield him ? Keep your own vigil. The place is rampant with robbers.

जग्गाही, मा सुवाही, मा, ते धम्मचरणे पमत्तस्स ।
काहिन्ति बहुं चोरा, संजमजोगे हिडाकम्मं ॥१८॥

१८. जागते रहो । सोओ मत । धर्माचरण में प्रमाद मत करो । अन्यथा विषय कषायादि अनेक चोर तुम्हारे संयम और योग का हरण करने में चूक नहीं करेंगे ।

18. Be alert. Be not indolent. Indolence in spiritual practice is fatal. Otherwise the robbers of desire and sin shall rob you of your Yoga and restraint, positively.

पंचिन्दियाइं सण्णा, दण्डा सल्लाइं गारवा तिण्णि ।
बावीसं च परीसह, चोरा चत्तारि य कसाया ॥१९॥

१९. पांच इन्द्रियां, संज्ञा (मन की मूल अभिलाषायें), त्रिदण्ड, शल्य, तीनों गौरव (गर्व, गारव), बावीस परीषह और चारों कषाय ये सभी चोर हैं ।

19. The five senses, leading urges, sin, ego and evils are all robbers.

जागरह णरा निच्चं, मा भे धम्मचरणे पमत्ताणं ।
काहिन्ति बहू चोरा, दोग्गतिगमणे हिडाकम्मं ॥२०॥

२०. मानवो ! सर्वदा जागते रहो । धर्माचरण में प्रमाद मत करो । अन्यथा ये वासना-कषायादि विविध चोर तुम्हारे सत्कर्मों का हरण कर, दुर्गतिदायक कर्मों की ओर तुम्हें प्रेरित कर देंगे ।

20. Be alert. Never muffle up religious practices. Else sin and desire shall deprive you of your benefic deeds and lead you to a tragic destiny.

अण्णायकम्मि अट्टालकम्मि जग्गन्त सोयणिज्जो सि ।
णाहिसि वणितो सन्तो, ओसहमुल्लं अविन्दन्तो ॥२१॥

२१. अज्ञात अट्टालिका (प्रासाद) में जागते हुए भी तेरी दशा शोचनीय है । जैसे (दीन-हीन व्यक्ति) व्रण (घाव) हो जाने पर भी औषध के मूल्य की

13. While your own house is on fire why dost thou run to thy neighbour's ? First put out your own fire before you venture elsewhere.

आतट्ठे जागरो होहि, मा परट्ठाहिधारए ।
आतट्ठो हावए तस्स, जो परट्ठाहिधारए ।।१४।।

१४. आत्मार्थ–स्वकीय आत्म-साधन के लिये जागरूक रहो । पर–परवस्तु का साधन करने का प्रयत्न न करो । जो (स्वयं की साधना छोड़कर) पर की साधना के लिये उद्यत रहता है वह अपनी साधना भी खो बैठता है ।

14. Be watchful and cultivate spiritualism for your own benefit. Be little bothered about the material world. One who neglects one's own interest for the sake of alien interest is often denied true attainments.

जइ परो पडिसेवेज्ज, पावियं पडिसेवणं ।
तुज्झ मोणं करेन्तस्स, के अट्ठे परिहायति ? ।।१५।।

१५. यदि दूसरा कोई पाप आचरण की प्रतिसेवना कर रहा है उस समय तू यदि मौन धारण करता है तो तेरे साधन की क्या हानि होगी ?

15. If another indulges in sin, what ails thee to utter aught in this regard ? Wiser shall it be to keep mum at the moment.

आतट्ठो णिज्जरायन्तो, परट्ठो कम्मबन्धणं ।
अत्ता समाहिकरणं, अप्पणो य परस्स य ।।१६।।

१६. आत्मार्थ का साधन (स्व की ओर दृष्टि) निर्जरा का हेतु है और पदार्थ (पर की ओर दृष्टि) का साधन कर्मबन्धन का हेतु है । आत्मा ही स्व और पर के लिये समाधिकारक है ।

16. Attending to your own spiritual interest frees you from Karmas while watching avidly the material interests will generate Karmic bondage. It is the self that can discern it from the non-self.

अण्णातयम्मि अट्टालकम्मि किं जग्गिएण वीरस्स ? ।
णियगम्मि जग्गियव्वं, इमो हु बहुचोरतो गामो ।।१७।।

१७. अज्ञात अट्टालिका (महल) में अन्य वीर पुरुष के जागते रहने से क्या होगा ? स्वयं को जागृत रहना होगा । क्योंकि यह ग्राम चोरों से भरा हुआ है ।

३६. छत्तीसं तारायणिज्जज्झयणं

उप्पतता उप्पतता उप्पयन्तं पि तेण वोच्छामि। किं सन्तं वोच्छामि? ण सन्तं वोच्छामि 'कुक्कुसया!' वित्तेण ता रा य णे ण अरहता इसिणा बुइतं।

उग्र क्रोध से उत्तप्त और उबलते हुए व्यक्ति से मैं मधुर वाणी से बोलूंगा। क्या तुम्हारा (क्रोध) शमन हो गया? ऐसा मैं कहूंगा। उस अशान्त पुरुष से मैं कहूंगा कि, यह क्रोध तुष के समान निःसार है, अर्थात् यह क्रोधाचरण तुम्हारे योग्य नहीं है।

ऐसा आत्मवैभव सम्पन्न अर्हत् **तारायण ऋषि** बोले—

I will respond composedly and tranquilly to an irate. I shall question him, "Has your wrath been pacified ?" I shall try to convince him that his anger is insubstantial and unworthy of him, said Tarayan, the accomplished seer :

पत्तस्स मम य अन्नेसिं, मुक्को कोवो दुहावहो।
तम्हा खलु उप्पतन्तं सहसा कोवं निगिण्हितव्वं।

ऐसा, कोप-पात्र के प्रति किया गया, कोप (क्रोध) मेरे और उसके लिये दुःखप्रद होता है। अर्थात् यह क्रोध दोनों के लिये दुःखदायक है। अतः क्रोध के अकस्मात् उत्पन्न होते ही उसका (पूर्णतया) दमन करना चाहिए।

Wrath is as injurious to the subject as to the object. That's why anger should be trampled the moment it raises its head.

कोवो अग्गी तमो मच्चू, विसं वाधी अरी रयो।
जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो ॥१॥

१. कोप अग्नि है, अन्धकार है, मृत्यु है, विष है, व्याधि है, शत्रु है, रज है, जरा है, हानि है, भय है, शोक है, मोह है, शल्य है और पराजय है।

1. Wrath is fire. It is umbra. It is death, hemlock, severe malady. It is foe. It is dirt and death, bankruptcy, fear, confusion, sin and defeat.

वण्हिणो णो बलं छित्तं, कोहग्गिस्स परं बलं।
अप्पा गती तु वण्हिस्स, कोवग्गिस्सऽमिता गती ॥२॥

जानकारी न होने से औषधि प्राप्त नहीं कर पाता है। (इसी प्रकार मानव जागृति का महत्व समझे बिना परमार्थ तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता)।

21. You guard this enigmatic palace and still your plight is miserable, as a wounded being has no option but to suffer his malady for the want of remedial knowledge. (Ignorance of spiritual consciousness deprives one of the supreme knowledge).

जागरह णरा णिच्चं, जागरमाणस्स जागरति सुत्तं।
जे सुवति ण से सुहिते, जागरमाणे सुही होति ॥२२॥

२२. हे मानवो! प्रतिक्षण जाग्रत रहो। सर्वदा जाग्रत रहने वाला निद्राशील भी जाग्रत है। जो सोता रहता है वह सुखी नहीं होता और जो जागता है वह सुखी होता है।

22. Be vigilant, O man. One inwardly alert is still conscious while asleep. Indolent is never happy while the vigilant is ever happy.

जागरन्तं मुणिं वीरं, दोसा वज्जेन्ति दूरओ।
जलन्तं जातवेयं वा, चक्खुसा दाहभीरुणो ॥२३॥

२३. जागरणशील वीर श्रमण से दोष [स्वतः ही] दूर चले/भाग जाते हैं, जैसे दाहभीरु (आग से डरने वाला) जलती हुई आग को आँखों से देखते ही दूर भाग जाता है।

23. A vigilant and brave being repels all evils as fire repels a pyrophobic.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी।

पणतीसं अद्दालइज्जज्झयणं।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् अद्दालक/उद्दालक ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Uddalak, the seer, do pronounce.

अद्दालक नामक पैंतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३५।

---

६. मणि और ज्योति (प्रकाश) के द्वारा अन्धकार का निवारण किया जा सकता है, किन्तु क्रोध रूपी अन्धकार संसार के समस्त प्राणियों के लिये दुर्जेय है।

6. A gem and a lamp can brighten the encircling gloom but wrath in its gloom is insurmountable to all beings of the world.

सत्तं बुद्धी मती मेधा, गम्भीरं सरलत्तणं ।
कोहग्गहऽभिभूयस्स, सव्वं भवति णिप्पभं ।।७।।

७. क्रोध रूपी ग्रह से अभिभूत मानव के सत्व, वुद्धि, मति, मेधा, गाम्भीर्य, सरलता (आदि) समस्त (गुण) निष्प्रभ हो जाते हैं।

7. Essential virtue, wisdom, foresight, sobriety, simplicity and all the excellences of one are depotentised, when one is eclipsed by wrath.

गंभीरमेरुसारे वि, पुव्वं होऊण संजमे ।
कोवुग्गमरयोधूते, असारत्तमतिच्छति ।।८।।

८. पहले संयम में सुमेरु के समान गम्भीर और स्थिर रहा हो, किन्तु क्रोधोत्पत्ति की धूलिमात्र से वह उस संयम को पूर्णतया निःसार कर देता है।

8. Even if he were as profound in restraint as golden mountain Sumeru, prior to the wrathful spell, all this is nullified once the anger is triggered.

महाविसे वऽही दित्ते, चरेऽदत्तंकुरोदये ।
चिट्ठे चिट्ठे स रूसन्ते, णिव्विसत्तमुपागते ।।९।।

९. जिस प्रकार महाविषधर सांप दर्पान्ध होकर क्रूर—वनस्पति विशेष को डसता है जिससे भविष्य में वह अंकुरित नहीं हो पाती। किन्तु, (उसको डसने पर उसे कुछ भी स्वाद प्राप्त नहीं होता उससे) वह रुष्ट होकर रुक-रुक कर उसको डसते हुए अपने विष को समाप्त कर देता है।

9. It is like a ferocious serpent that stings repeatedly, for no benefit to himself, till he ejaculates whole of his venom and the plant, thus stung, withers to death.

एवं तवोबलत्थे वि, णिच्चं कोहपरायणे ।
अचिरेणऽवि कालेणं, तवोरित्तत्तमिच्छति ।।१०।।

२. अग्नि का बल कम मत समझो अर्थात् अग्नि बलशाली है, परन्तु क्रोधाग्नि उससे भी अधिक महाबलशाली है। अग्नि की गति अल्प है अर्थात् सीमित है और कोपाग्नि की गति अमर्यादित है।

2. Fire is no mean force. But the fire of wrath is far fiercer. Fire has a limited range but wrath is a tremendously more potent menace.

सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहि ।
सव्वोदहिजलेणावि, कोवग्गी दुण्णिवारओ ।।३।।

३. बाहर की जलती हुई आग को पानी से बुझाना शक्य है, किन्तु कोपाग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी बुझाना दुर्निवार—नितान्त असम्भव है।

3. Physical fire can be put out with water but wrath cares tuppence for all the oceans, put together.

एकं भवं दहे वण्ही, दड्ढस्सऽवि सुहं भवे ।
इमं परं च कोवग्गी, णिस्संकं दहते भवं ।।४।।

४. अग्नि केवल एक भव में (शरीर को) जलाती है और जला हुआ व्यक्ति स्वस्थ भी हो जाता है, किन्तु क्रोधाग्नि तो इस भव और पर भव में निःशंक होकर जलाती रहती है।

4. Fire can burn one's body only and one may still survive. Not so the wrath. It destroys this incarnation and the one that is to be.

अग्गिणा तु इहं दड्ढा, सन्तिमिच्छन्ति माणवा ।
कोहग्गिणा तु दड्ढाणं, दुक्खं सन्ति पुणो वि हि ।।५।।

५. आग से जलने वाला मानव यहाँ तो (उपचार से) शान्ति की कामना करता है, किन्तु क्रोधाग्नि से जलने वाला मानव पुनः-पुनः दुःख को प्राप्त करता है।

5. A burnt being yearns for cure, while one burning with anger suffers recurrent misery sans end.

सक्का तमो णिवारेतुं, मणिणा जोतिणा वि वा ।
कोवतमो तु दुज्जेयो, संसारे सव्वदेहिणं ।।६।।

कोवमूलं णियच्छन्ति, धणहाणिं बन्धणाणि य ।
पियविप्पओगे य बहू, जम्माइं मरणाणि य ।।१४।।

१४. क्रोध धनहानि और बन्धनों का मूल है । प्रियजनों का वियोग एवं जन्म-मरणों का मूल भी यही है ।

14. Anger is the root cause of adversity and bondage. It causes bereavement and reincarnations also.

जेणाभिभूतो जहती तु धम्मं
विद्धंसती जेण कतं च पुण्णं ।
स तिव्वजोती परमप्पमादो,
कोधो, महाराज, णिरुज्झियव्वो ।।१५।।

१५. जिससे (क्रोध से) अभिभूत होकर मानव धर्म को छोड़ देता है और स्वकृत पुण्यों का विध्वंस कर देता है ऐसा वह तीव्र ज्वाला युक्त सर्वोच्च प्रमाद रूप क्रोध भूपति निग्रह योग्य है । अथवा महाराज ! यह क्रोध निग्रह करने योग्य है ।

15. Listen to me O Prince, such a foe as anger deprives man of his very sense of humanity and renders him empty of all virtue. Hence it must be smothered then and there.

हट्ठं करेतीह णिरुज्झमाणो
भासं करेतीह विमुच्चमाणो ।
हट्ठं च भासं च समिक्ख पण्णे
कोवं णिरुम्भेज्ज सदा जितप्पा ।।१६।।

१६. जो निग्रह (निरोध) किये जाने पर हृष्ट करता है और छोड़े जाने पर भस्मीभूत करता है । अतः प्रज्ञावान जितात्मा क्रोधाग्नि की हृष्टता और भस्मशीलता की समीक्षा कर, क्रोध का सर्वदा निग्रह करे ।

16. It lends you strength if you can contain it and destroys you once you leave it unbridled. Pray, exercise your own discretion whether to contain it or leave it unbridled.

१०. उसी प्रकार तपोबलशाली भी सर्वदा क्रोधपरायण होकर थोड़े से समय में ही अपने तपोबल को भी पूर्णतः समाप्त कर देता है।

10. If a profound ascetic would lapse into wrath, he is likely to be shorn of the virtue of his penances in a short while.

गम्भीरोवि तवोरासी, जीवाणं दुक्खसंचितो।
अक्खेविणं दवग्गी वा, कोवग्गी दहते खणा ॥११॥

११. विविध दुःखों/कष्टों से उपार्जित गम्भीर तपोराशि को क्रोधाग्नि क्षणमात्र में भस्म कर डालती है। जैसे प्रज्वलित आग उसमें डाले हुए पदार्थों को तत्काल भस्म कर देती है।

11. Great virtue acquired by prolonged penances is ruined by a momentary angry outburst, as everything is burnt in a jiffy by flame.

कोहेण अप्पं डहती परं च
अत्थं च धम्मं च तहेव कामं।
तिव्वं च वेरं पि करेन्ति कोधा
अधरं गति वा वि उविन्ति कोहा ॥१२॥

१२. क्रोध स्वयं को भी जलाता है और दूसरों को भी जलाता है। क्रोध अर्थ, धर्म और काम को भी जला देता है। तीव्र क्रोध वैर-विरोध भी करा देता है तथा क्रोध नीच गति को भी प्राप्त कराता है।

12. Anger reduces the subject as well as object both to ashes. It razes the three achievements of Dharma, Artha and Kama (spiritualism, wealth and fulfilment of desires).

Angry fulmination breeds severe enmity and brings about the meanest doom.

कोहाविद्धा ण याणन्ति, मातरं पितरं गुरुं।
अधिक्खिवन्ति साधू य, रायाणो देवयाणि य ॥१३॥

१३. क्रोधाविष्ट माता, पिता और गुरु को भी नहीं जानता-समझता और साधु, राजा तथा देवताओं का भी अपमान कर देता है।

13. A man in anger little cares for parents and mentors and may slight in such a fit the saint, the prince and the gods, indiscriminately.

३७. सत्ततीसं सिरिगिरिज्जज्झयणं

[१.] सव्वमिणं पुरा उदगमासि त्ति सि रि गि रि णा माहणपरिव्वायगेण अरहता इसिणा बुइयं ।

एत्थ अण्डे संतत्ते, एत्थ लोए संभूते, एत्थं सासासे, इयं णे वरुण-विहाणे ।

[२.] उभयो-कालं उभयो-संझं खीरं णवणीयं मधु समिधासमाहारं खारं संखं च पिण्डेत्ता अग्गिहोत्तकुण्डं पडिजागरेमाणे विहरिस्सामीति तम्हा एयं सव्वंति बेमि ।

[३.] णवि माया, ण कदाति णासि ण कदाति ण भवति ण कदाति ण भविस्सति य ।

यहाँ पहले सब जलमय (जल तत्त्व) था ।

ऐसा माहण परिव्राजक अर्हत् **श्रीगिरि ऋषि** बोले—

१. वहाँ अण्डा आया, संतप्त हुआ अर्थात् फूटा । उससे वहां लोक उत्पन्न हुआ । वह श्वसित हुई अर्थात् सृष्टि उत्पन्न हुई । यह वरुण देव का विधान नहीं है । अर्थात् किसी का कथन है कि यह सृष्टि वरुण (जल का देवता) द्वारा निर्मित नहीं है ।

२. उभय काल और उभय सन्ध्या को क्षीर (दूध), नवनीत (मक्खन), मधु (शहद) और समिधा को एकत्रित कर, क्षार और शंख को मिलाकर, अग्निहत्रो कुण्ड को प्रतिक्षण जाग्रत करता हुआ मैं रहूंगा । इसीलिये यह सब मैं कहता हूँ ।

३. यह विश्व माया नहीं है । कभी नहीं था ऐसा नहीं है । कभी नहीं है, ऐसा भी नहीं है और कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है । अर्थात् यह विश्व शाश्वत है, अनादि अनन्त है ।

First it was all deluge, said Brahmin nomad Shrigiri, the seer :

1. The cosmic egg emerged which after its incubation burst forth. Its respiration was the emergence of cosmos. It is so believed that the cosmos was not created by Lord Varun (Mercury).

2. At dawn and at dusk, I shall offer milk, butter, honey and herbs with alkalies and conch shell to the altar fire. That I hereby avow.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी ।

छत्तीसं तारायणिज्जमज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

ऐसा मैं (आध्यात्मिक लक्ष्मी सम्पन्न अर्हत् **तारायण ऋषि**) कहता हूँ ।

Thus, I spiritual pastmaster, Tarayan, the seer, do pronounce.

तारायण नामक छत्तीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३६।



३८. अट्ठतीसं साइपुत्तिज्जज्झयणं

जं सुहेण सुहं लद्धं, अच्चन्तसुखमेव तं ।
जं सुखेण दुहं लद्धं, मा मे तेण समागमो ।।१।।

सा ति पु त्ते ण बु द्धे ण अरहता बुइतं ।

१. जिस सुख से सुख प्राप्त होता है वही आत्यन्तिक सुख है, किन्तु जिस सुख से दुःख की प्राप्ति हो ऐसे सुख से मेरा समागम न हो ।

ऐसा अर्हत् **सातिपुत्र बुद्ध** ऋषि बोले—

1. The true happiness is that which yields unmixed bliss. May I never come accross a happiness that results in anguish, said Satiputra Buddha, the seer.

मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं ।
मणुण्णंसि अगारंसि, झाति भिक्खू समाहिए ।।२।।

२. मनोज्ञ भोजन कर, मनोज्ञ शय्यासन का उपभोग कर और सुन्दर आवास (घर) में रहकर भिक्षु समाधि (सुख) पूर्वक ध्यान करता है ।

2. A monk meditates blissfully after consuming delectable dishes and sleeping over luxurious beds in comfortable mansions.

अमणुण्णं भोयणं भोच्चा, अमणुण्णं सयणासणं ।
अमणुण्णंसि गेहंसि, दुक्खं भिक्खू झियायती ।।३।।

३. अरुचिकर भोजन कर, अमनोज्ञ शय्यासन का उपभोग कर और असुन्दर आवास स्थान में रह कर भिक्षु दुःखपूर्वक ध्यान करता है ।

3. Another monk meditates in pain after consuming nauseating meals and sleeping over uncomfortable beds in wretched houses.

एवं अणेगवण्णागं, तं परिच्चज्ज पण्डिते ।
णण्णत्थ लुब्भई पण्णे, एयं बुद्धाण सासणं ।।४।।

3. The world is not an illusion. There was no point of time when the world was non-existent. Nor is it non-existent now, nor shall be so in future. The world is perennial-verily beginningless and endless.

पडुप्पण्णमिणं सोच्चा

सूरसहगतो गच्छे : जत्थेव सूरिये ।

अत्थमेज्जा खेत्तंसि वा णिण्णंसि वा तत्थेव णं पादुप्पभायाए रयणीये जाव तेजसा जलंन्ते एवं खलु मे कप्पति पातीणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा पुरतो जुगमेत्तं पेहमाणे अहारीयमेव रीतित्तए ।

प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमानिक इस सत्य तथ्य को सुनकर (मुमुक्षु) सूर्य के साथ गमन करे। जहां सूर्य अस्त हो जाय उस समय खेत हो या ऊंची नीची भूमि हो (श्रमण) वहीं रुक जावे। रात्रि के व्यतीत हो जाने पर, तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण किसी भी दिशा में युगमात्र (चार हाथ परिमाण की) भूमि को देखते हुए (श्रमण को) यथारीति से चलना—विचरण करना कल्पता है।

Let the aspirant realise this metaphysical truth and let him follow the solar motion. The moment the sun sets, he should halt there, be it a field or a plateau. As soon as the sun rises after the nocturnal spell, he should rebegin his ambulation in any of the four directions, east, west, north or south, barely seeing a yard of space ahead.

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

सिरिगिरिज्जणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूणत्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment Such a being is freed of the chain of reincarnations.

ऐसा मैं (माहण परिव्राजक अर्हत् **श्रीगिरि ऋषि**) कहता हूँ।

Thus I, Brahmin, nomad Shrigiri, the seer, do pronounce.

श्रीगिरि नामक सैंतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३७।



7. Accumulated knowledge has prescribed the sweet or bitter herbs that can heal diseased body. Similarly, the great Master preaches the sweet or painful practices that remedy attachment.

ण दुक्खं ण सुहं वा वि, जहा-हेतु तिगिच्छति ।
तिगिच्छिए सुजुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ।।८।।

८. जिस हेतु (व्याधि) को लेकर चिकित्सा की जाती है वहाँ न दुःख है और न सुख है, किन्तु चिकित्सा में संलग्न रोगी को दुःख अथवा सुख हो सकता है ।

8. No pleasure and pain inhere in the malady itself. However the patient undergoing treatment may be experiencing pleasure or pain.

मोहक्खए उ जुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ।
मोहक्खए जहा-हेऊ, न दुक्खं न वि वा सुहं ।।९।।

९. मोह का क्षय करने में प्रवृत्त व्यक्ति को दुःख और सुख हो सकते हैं, किन्तु जिस हेतु (अन्तरंग व्याधि का नाश कर, मुक्ति प्राप्त करने के लिए) मोह का क्षय करता है वहाँ न (भौतिक) दुःख है और न (भौतिक) सुख है, अर्थात् मोह का क्षय कर आनन्दमयी आत्मिक स्थिति को प्राप्त करता है ।

9. The individual undergoing the treatment to be cured of attachment may experience pain or pleasure. However, the purpose of curing the disease of attachment is neutral so far as pleasure and pain sensations are concerned.

तुच्छे जणम्मि संवेगो, निव्वेदो उत्तमे जणे ।
अत्थितादीणभावाणं, विसेसो उवदेसणं ।।१०।।

१०. सामान्यजनों में संवेग (नरकादिजन्य दुःखों को देखकर मन में भय) होता है, उत्तम जनों में निर्वेद (विषयों के प्रति अनासक्ति भाव) होता है और अर्थिजनों में दीनभाव होता है, अथवा संवेग और निर्वेद (आत्मविद्या रहित होने से) ये दोनों दीनभाव है । अतः इनको विशेष रूप से (आत्मविद्या का) उपदेश दिया गया है ।

10. The ordinary folk are prone to emotive sway. Superior beings are indifferent to such urges. Selfish beings are meanly prone to emotive sway. Hence the latter have specially been tackled by preachers.

४. इस प्रकार के अनेक वर्णक (प्रकरण) प्राप्त होते हैं अथवा अनेक गुणात्मक पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनका पण्डित त्याग करे। प्राज्ञ अन्यत्र लुब्ध न हो। यही बुद्ध (ज्ञानी) की शिक्षा है।

4. We come across such diametrically opposite narrations. The wise should avoid such qualitative extremes. The discreet should never be tempted by these. This is the prime teaching of Buddha.

णाणावण्णेसु सद्देसु, सोयपत्तेसु बुद्धिमं ।
गेहिं वायपदोसं वा, सम्मं वज्जेज्ज पण्डिए ।।५।।

एवं रूवेसु गन्धेसु रसेसु फासेसु अप्पप्पणाभिलावेणं

५. कर्णेन्द्रिय प्राप्त नानाविध वर्णों (शब्दों) में आसक्ति-भाव और वाणीदोष को प्रज्ञावान सम्यक् प्रकार से छोड़े। अर्थात् अनासक्त भाव से रहे।

इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य पदार्थों में बुद्धिमान आसक्ति-भाव न रखे।

5. The wise should carefully shun temptations arising out of provocative utterances and verbal monstrosities. Similarly the stimuli that ravish visual, lingual, olfactory and tactile senses be shunned.

पंच जागरओ सुत्ता, अप्पदुक्खस्स कारणा ।
तस्सेव तु विणासाय, पण्णे वट्टिज्ज संतयं ।।६।।

६. अप्रमत्त भिक्षु की पांचों इन्द्रियाँ सुप्त होते हुए भी अल्प दुःख का कारण बनती हैं अतः प्रज्ञावान उनके विनाश के लिये सतत प्रयत्न करे।

6. The five senses of a chaste monk are dormant and still may cause some degree of discomfort to him. Hence a total vigilance is warranted on the part of such a monk.

वाहिक्खयाय दुक्खं वा, सुहं वा णाणदेसियं ।
मोहक्खयाय एमेव, दुहं वा जइ वा सुहं ।।७।।

७. व्याधि का नाश करने के लिए जो भी दुःख या सुखरूप अर्थात् कड़वी या मीठी औषधियां होती हैं वे (वैद्य के) ज्ञान से उपदिष्ट हैं। इसी प्रकार मोह का क्षय करने के लिए जो कठोर (दुःखदायी) या सरल (सुखदायी) साधना पथ है वह भी सद्गुरु के द्वारा उपदिष्ट है।

१४. जितेन्द्रिय के लिए जंगल क्या ? और दमनशील के लिए आश्रम क्या ? अर्थात् उसके लिए दोनों समान हैं। रोग मुक्त के लिए अथवा मर्यादाओं से पार के लिए कोई औषध नहीं है और शस्त्र के लिए अभेद्यता नहीं है।

14. What is a wilderness to an austere ? What is a hermitage to an ascetic ? What remedy is needed for the health ? What shield is needed to protect oneself from weapons ?

सुभावभावितप्पाणो, सुण्णं रण्णं वणंपि वा ।
सव्वमेतं हि झाणाय, सल्लचित्ते व सल्लिणो ।।१५।।

१५. स्वभाव से भावित आत्मा के लिए शून्य वन और सघन वस्ती (ग्राम) दोनों समान हैं। उसके लिए ये सभी ध्यान की कारणभूत होती हैं और सशल्य-हृदयधारी के लिए ये सभी शल्यकारी होती हैं अर्थात् आर्त्तध्यान का निमित्त बनती हैं।

15. To a genuinely-endowed ascetic the dense towns are akin to wilderness. To such a one all circumstances conduce to self-absorption while to mundane beings they conduce to intenser materialism and distraction.

दुहरूवा दुरन्तस्स, णाणावत्था वसुंधरा ।
कम्मादाणाय सव्वंपि, कामचित्ते व कामिणो ।।१६।।

१६. नाना रूप में स्थित वसुन्धरा दुष्टाशय वाले के लिए दुःख रूप और कर्मादान का साधन है। जैसे कामी व्यक्ति के लिए समस्त पदार्थ कामोत्पादक होते हैं।

16. The multifaceted mother-earth has abundance of misery and Karmic involvement for the selfish materialist as any and every article can provoke libido in a lascivious man's heart.

सम्मत्तं च दयं चेव, णिण्णिदाणो य जो दमो ।
तवो जोगो य सव्वो वि, सव्वकम्मक्खयंकरो ।।१७।।

१७. सम्यक्त्व, दया, निदान रहित संयम, तप और (शुभ) योग ये समस्त गुण उसके समस्त प्रकार के कर्मों का क्षय करते हैं।

17. Equanimity, compassion, absolute austerity, penances and Yoga are the qualities that eradicate Karmas.

सामण्णे गीतणीमाणा, विसेसे मम्मवेधिणी ।

सव्वण्णुभासिया वाणी, णाणावत्थोदयन्तरे ।।११।।

११. सर्वज्ञभाषित वाणी नानाविध अवस्था और उदय के भेद से सामान्यजनों में संगीतमय होने से हृदयग्राही होती है और उत्तमजनों में मर्मवेधिनी होती है। अथवा सर्वज्ञ की देशना नाना अवस्था और उदय के भेद से सामान्य और विशेष दो प्रकार की होती है। सामान्य संगीतमय होने से वस्तुतत्त्व का स्पर्शमात्र करती है और विशेष मर्मवेधक होने से वस्तुतत्त्व का पूर्णरूपेण दर्शन कराती है।

11. The preaching of the enlighted is pleasant and melodiously welcome to the common folk but it truly comes home to the superior beings. Thus the effect of such a preaching may prove barely superficial or truly profound depending on the different qualities of the listener.

सव्वसत्तदयो वेसो, णारम्भो ण परिग्गहो ।

सत्तं तवं दयं चेव, भासन्ति जिणसत्तमा ।।१२।।

१२. जिन श्रेष्ठ (जिनेश्वर) समस्त प्राणियों का उदय, वेष (मुनिवेष), अनारम्भ, अपरिग्रह, सत्य या सद्भाव, तप और दया का उपदेश देते हैं।

12. The great Jain saints in the garb of monks preach non-entrepreneurship, non-acquisition, truth, sincerity, austerity and compassion to all.

दन्तिन्दियस्स वीरस्स, किं रण्णेणऽस्समेण वा ? ।

जत्थ जत्थेव मोदेज्जा, तं रण्णं सो य अस्समो ।।१३।।

१३. दमितेन्द्रिय (इन्द्रियों का दमन करने वाले) वीर पुरुष के लिए अरण्य (जंगल) और आश्रम की क्या आवश्यकता है ? जहां-जहां 'मोदेज्जा' आंतरिक प्रसन्नता है अथवा मोह का अन्त/क्षय है वही उसके लिए जंगल है और वही उसके लिए आश्रम है।

13. An austere being is truly brave. He cares naught for wilderness and hermitage. Wherever he experiences bliss and non-attachment is the wilderness and the hermitage to him.

किमु दन्तस्स रण्णेणं, दन्तस्स वा किमस्समे ? ।

णातिक्कन्तस्स भेसज्जं, ण वा सत्थस्सऽभेज्जता ।।१४।।

शान्ति भंग करने वालों का सम्पर्क न रखना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसके लिए संयम की साधना ही अपेक्षित है।

21. One initiated in a monk's garb should veer of any prescribed act. He should beware of characters who are not like-minded. To a monk donning non-provocative austere garb and similar mental frame is not enough. He should cultivate restraint constantly.

बम्भचारी जति कुद्धो, वज्जेज्ज मोहदीवणं।

ण मूढस्स तु वाहस्स, मिगे अप्पेति सायकं ॥२२॥

२२. ब्रह्मचारी यदि किसी कारण से क्रोधित हो भी जाय तब भी वह मोह को उद्दीप्त करने वाले पदार्थों से दूर ही रहे अर्थात् मोह को उद्दीप्त न होने दे। जैसे मूर्ख शिकारी के बाण मृग का वेध नहीं कर सकते। (वैसे ही मूढमुनि ज्ञानवान नहीं हो सकता।)

22. If a continent being be once irascible, he should keep off existing objects. A clumsy hunter's arrows never hit a deer. (Similarly, a stupid monk never acquires wisdom).

पच्चारां चेव रूवं व, णिच्छयम्मि विभावए।

किमत्थं गायते वाहो, तुण्हिक्का वावि पक्खिता ॥२३॥

२३. मुनि वेष और रूप का निश्चय से विचार करे। शिकारी के गायन को सुनकर पक्षीगण किसलिए चुप हो गये हैं? अर्थात् पक्षीगण वेष और लिंग से उसकी हिंसात्मक भावना को समझ कर चुप हो जाते हैं।

23. A monk should contemplate the garb prescribed for him. What silences the birds, once a hunter begins to sing a song to attract him ? Obviously, they can unravel his motives by his looks and deeds.

कज्जणिव्वत्तिपाओग्गं, आदेयं कज्जकारणं।

मोक्खनिव्वत्तिपाओग्गं, विण्णेयं तं विसेसओ ॥२४॥

२४. कार्य की निष्पत्ति के लिए उचित कार्य-कारण अपेक्षित हैं। मोक्ष-निर्वृत्ति की रचना (प्राप्ति) के लिए वे ही उचित कार्य-कारण विशेष रूप से अपेक्षित हैं।

सत्थकं वा वि आरम्भं, जाणेज्जा य णिरत्थकं ।
पडिहत्थिं स जोएन्तो, तडं घातेति वारणो ।।१८।।

१८. आरम्भ सार्थक भी होता है और निरर्थक भी होता है, ऐसा समझो। प्रतिद्वन्द्वी हस्ति को देखकर हाथी तट को भी तोड़ देता है।

18. An initiative may be meaningful or infructuous. On detecting another elephant as adversary, an elephant can demolish the river bank to no purpose in a fit of rage.

जस्स कज्जस्स जो जोगो, साहेतुं जेण पच्चलो ।
कज्जं वज्जेति तं सव्वं, कामी वा णग्गमुण्डणं ।।१९।।

१९. जो जिस कार्य के योग्य है वह उसी कार्य को करे। जिस कार्य में जिसका विश्वास नहीं है वह उस कार्य को छोड़ देता है। जैसे कामी पुरुष नग्नत्व और मुण्डनत्व को छोड़ देता है अर्थात् संयम मार्ग का त्याग कर देता है।

19. One should choose a vocation, that one has a knack for. A libidinous individual has little inclination to monkhood as a man averse to a vocation never seeks it.

जाणेज्जा सरणं धोरो, ण कोडिं एति दुग्गतो ।
ण सीहं दप्पियं छेयं, णेभं भोज्जाहि जम्बुओ ।।२०।।

२०. धैर्यशील महापुरुष की शरण लेनी चाहिए, ऐसा समझो। धीर के जैसी शरणागत की रक्षा दुर्ग से युक्त पर्वत शिखर भी नहीं कर सकता। दृप्त सिंह और कुशल—निपुण हस्ति शृगाल का भोज्य नहीं हो सकता।

20. Pray, seek refuge in a great soul. A mountainous fortress is a poor protection compared to a valorous protector. A brave lion and an astute elephant are never a jackal's prey.

वेसपच्चाणसंबद्धे, संबद्धं वारए सदा ।
णाणा-अरति-पायोग्गं, णालं धारेतु बुद्धिमं ।।२१।।

२१. वेष-प्रच्छादन—रजोहरणादि मुनि-वेष से युक्त और परमार्थतत्त्व से सम्बद्ध श्रमण मुनिभाव के विरुद्ध आस्रव एवं मिथ्यात्वजन्य क्रियाओं से असम्बद्ध रहे अथवा तत्त्वविरुद्धगामी पुरुषों से सम्पर्क न रखे। बुद्धिमान श्रमण के लिए अरति-प्रयोजक वस्त्रादि का धारण करना अथवा अरति-प्रयोजक—मानसिक

सब्भावे दुब्बलं जाणे, णाणावण्णाणुभासकं ।
पुप्फादाणे सुणंदा वा, पवकारघरं गता ॥२८॥

२८. मानव स्वभाव से दुर्बल है । वह अनेक वर्णों–रूपों आदि का आभास देता है । पुष्पग्रहण करने के लिए सुनन्दा प्लवकार (नाव बनाने वाले) के घर गई ।

28. Man is fallible by nature. He can adopt a thousand guises. The legend of Sunanda who approached the boatmaker for flowers illustrates this axiom.

दव्वे खेत्ते य काले य, सव्वभावे य सव्वधा ।
सव्वेसिं लिंगजीवाणं, भावाणं तु विहावए ॥२९॥

२९. द्रव्य, क्षेत्र, काल और सभी प्रकार के भावों में तथा समस्त लिंगों–वेषों में रहे समस्त जीवों की भावना को सर्वदा समझना चाहिए ।

29. We should be able to realise the truth behind different garbs in substance, time, place and feeling.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

साइपुत्तिज्जं णामज्झयणं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण-त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् सातिपुत्र बुद्ध ऋषि) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Satiputra Buddha, the seer) do pronounce.

सातिपुत्र बुद्ध नामक अड़तीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३८।

24. Proper cause alone results in corresponding effect. Deliverance warrants suitable series of action culminating into emancipation.

परिवारे चेव वेसे य, भावितं तु विभावए ।
परिवारेऽवि गम्भीरे, ण राया णीलजम्बूओ ।।२५।।

२५. स्वभाव से भावित आत्मा ही परिवार और मुनिवेष में रहते हुए विशुद्ध दशा प्राप्त कर सकती है। अर्थात् आत्मवंचना न करे। विशाल परिवार से परिवृत होने पर भी वंचक होने के कारण नीलजाम्बूक—रंगा सियार राजा नहीं हो सका।

25. A genuinely inspired soul alone can sublimate himself, whether he is surrounded by his kins or is practising as a monk. Insincerita would evidently be fatal, in either case. In the fable of jackal Nilajambuk's belonging to a large family could not promote him to the chiefdom owing to his contradictory character.

अत्थादाइं जणं जाणे, णाणाचित्ताणुभासकं ।
अत्थादाईण वीसंगो, पासन्तस्सऽत्थसंतती ।।२६।।

२६. अर्थादायी—अर्थग्राही अर्थात् धनलोलुप व्यक्ति को विविध प्रकार से मन को आकर्षित करने वाली मधुर भाषा बोलने वाला (मीठा बोला) समझो। अथवा अधिक मधुरभाषी को अर्थलोलुप व्यक्ति समझना चाहिये। उसकी अर्थ-ग्रहण करने की सन्तति/परम्परा को देखकर उस धनलोलुप व्यक्ति से दूर ही रहना चाहिये।

26. The avaricious resorts to wily tactics in his persuasive specious speech. Honey-tongued individuals are patently greedy. We should be wary of such glib beings as they are thorough-going materialists and self-seekers.

डम्भकप्पं कत्तिसमं, णिच्छयम्मि विभावए ।
णिखिलामोस कारित्तु, उवचारम्मि परिच्छती ।।२७।।

२७. दम्भपूर्ण आचरण को निश्चयपूर्वक सिंह-चर्म से आच्छादित श्रृगाल के समान समझना चाहिए। पूर्णरूप से असत्याचरण करने वाले की उपचार से परीक्षा होती है।

27. A crafty conduct embodies a jackal in a tiger-hide. Crooks are detected by experience only.

४. यदि कदाचित् पापकृत्य हो भी जाय तब भी पुनः-पुनः उसका आचरण कर उसका समूह न बनावे जिससे कि उसे पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करना पड़े।

प्रच्छन्न रूप से पाप किया हो तब भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से, कर्म और अध्यवसाय पूर्वक सम्यक् प्रकार से निष्कपट—निश्छल हृदय होकर यथार्थरूप से उसकी आलोचना करे।

ऐसा **अर्हत् संजय** ऋषि बोले।

4. A sin once committed need not be repeated lest such acts might multiply and attain huge magnitude and result in reincarnation. If it were a sin in disguise or by implication, one should objectively scrutinize it spatially, temporally, metaphysically and ethically in a pure and dispassionate manner.

णवि अत्थि रसेहिं भद्दएहि संवासेण य भद्दएण य।
जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए संजए ॥५॥

५. मुझे सुस्वादु रसों और भव्य आवास-स्थानों से कोई प्रयोजन नहीं है। जहां संजय जंगलवासी मृग का वध करने के लिये जाता है अथवा मृग का वध करता है।

5. I have little regard for sumptuous meals and regal mansions where Sanjaya brings wild deer for sacrifice.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

संजइज्जं नामज्झयणं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **संजय ऋषि**) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of re-incarnations.

Thus I (Sanjaya, the seer) do pronounce.

संजय नामक उनचालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥३९॥

३६. एगूणचत्तालीसं संजइज्जज्झयणं

जे इमं पावकं कम्मं, नेव कुज्जा ण कारवे ।
देवावि तं णमंसन्ति, धितिमं दित्ततेजसं ।।१।।

१. जो मानव इन पाप कर्मों को न स्वयं करता है और न दूसरों से करवाता है उस धृतिमान और दीप्ततेजस्वी को देवता भी नमस्कार करतें हैं ।

1. The conduct of a man who neither indulges in sin nor abets others to do it merits highest respect from angels.

जे णरे कुव्वती पावं, अन्धकारं महं करे ।
अणवज्जं पण्डिते किच्चा, आदिच्चेव पभासती ।।२।।

२. जो मानव पाप कर्म करता है वह अन्धकार की वांछा करता है, अथवा अन्धकार का मंथन करता है । जो पण्डित पुरुष पापरहित कर्त्तव्य करता है वह सूर्य की तरह प्रकाशित होता है ।

2. A sinful creature cherishes and cultivates dark forces of evil. The wise who carries through sin-free conduct is akin to the sun in splendour.

सिया पावं सइं कुज्जा, तं ण कुज्जा पुणो पुणो ।
णाणि कम्मं च णं कुज्जा, साधु कम्मं वियाणिया ।।३।।

३. पाप का प्रसंग आने पर कदाचित् एक बार पापकृत्य का आचरण हो भी जाए तब भी बारम्बार उस पापकृत्य को न करे । ज्ञानवान शुभ कृत्यों को पहचान कर उन्हीं का आचरण करे ।

3. If, perchance, one is led into the alley of sinful deed, one should subsequently, steer clear of such a monstrous conduct. The wise should perform exclusively virtuous acts.

सिया [.........] कुज्जा तं तु पुणो पुणो ।
से निकायं च णं कुज्जा साहु भोज्जो वि जायति ।।४।।

रहस्से खलु भो पावं कम्मं समज्जिणित्ता दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ कम्मओ अज्झवसायओ सम्मं अपलिउंचमाणे जहत्थं आलोएज्जा । सं ज ए णं अरहता इसिणा बुइतं ।

इच्छन्तेरिगच्छते इच्छा, अरिगच्छं तं पि इच्छति ।
तम्हा इच्छं अरिगच्छाए, जिणित्ता सुहमेहती ।।४।।

४. इच्छा चाहने वालों को नहीं चाहती, अपितु अनिच्छुक को चाहती है। अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतकर (जीव) सुख पाता है।

4. Desire-fulfilment obliges him who has scorned it. One who conquers desire with desirelessness is the heir to lasting happiness.

दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ जहाथामं जहाबलं जधाविरियं अनिगूहन्तो आलोएज्जासि त्ति ।।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और यथा धैर्य, पराक्रम और पुरुषार्थ को न छिपाकर आलोचना-प्रायश्चित्त करे।

All situations and circumstances, temporal, spatial, metaphysical and ethical should be examined ruthlessly and amends made for any moral lapse on these accounts.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

इइ दीवायणिज्जमज्झयणं ।।

ऐसा मैं (अर्हत् द्वैपायन ऋषि) कहता हूँ।

Thus I, (Dwaipayan, the seer) do pronounce.

द्वैपायन नामक चालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।।४०।।

---

४०. चत्तालीसं दीवायणिज्जज्झयणं

इच्छमणिच्छं पुरा करेज्जा। दी वा य णे ण अरहता इसिणा बुइतं।

पहले इच्छा को अनिच्छा में परिवर्तित करे।

ऐसा अर्हत् द्वैपायन ऋषि बोले—

Transmute desire into desirelessness, said Dwaipayan, the seer :

इच्छा बहुविधा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छमणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधती ॥१॥

१. लोक में विविध प्रकार की इच्छाएँ हैं। इच्छाओं से बद्ध होकर जीव क्लेश पाता है। अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतने वाला जीव सुख पाता है।

1. Yearnings are countless. An individual docketed in yearning attracts miseries numberless. The sole means of getting rid of miseries is by being yearningless.

इच्छाभिभूया न जाणन्ति, मातरं पितरं गुरुं।
अधिक्खिवन्ति साधू य, रायाणो देवयाणि य ॥२॥

२. इच्छाभिभूत मानव माता-पिता और गुरुजनों को भी नहीं जानते हैं। अर्थात् इच्छाभिभूत की दृष्टि में इनका भी कोई महत्व या स्थान नहीं है। ऐसा मानव साधु, राजा और देवता को भी अपमानित कर देता है।

2. One engrossed in desires would not recognise his parents and teachers. To him they are of no significance. Such a being is prone to run down saints, princes and gods..,

इच्छामूलं नियच्छन्ति, धणहाणिं बन्धणाणि य।
पियविप्पओगे य बहू, जम्माइं मरणाणि य ॥३॥

३. इच्छा धनहानि और बन्धनों का मूल है। प्रियवियोग और अनेक जन्म-मरणों का मूल भी यही है।

3. Desire is the root of all bondage. It causes *bereavement as* well as multiple reincarnations.

4. Like a fish drawn to waterless moss, an attached individual lured by the immediate temptations meets a hapless end.

दित्तं पावन्ति उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणा ।
आहारमेत्तसंबद्धा, कज्जाकज्जणिमिल्लिता ।।५।।

५. जैसे जल में रहा हुआ हस्ति उत्कट उद्दीपन को प्राप्त करता है वैसे ही आहार मात्र से सम्बन्ध रखने वाला कार्याकार्य की विचारणा से आंखें मूंद लेता है अर्थात् विवेक रहित हो जाता है ।

5. As an elephant sporting ecstatically in wild waters, a gourmendiser is befuddled to close eyes to all sense of perspective.

पक्खिणो घतकुम्भे वा अवसा पावेन्ति संखयं ।
मधु पास्यति दुर्बुद्धी, पवातं से ण पस्सति ।।६।।

६. घी के घड़े में पड़ी हुई मक्खी विवश होकर मृत्यु को अवश्य प्राप्त करती है । मधुबिन्दु को प्राप्त करने वाला दुर्बुद्धि मनुष्य नीचे के प्रपात (गहरी खाई) को नहीं देखता है ।

6. A fly in ointment is nearing its sure death. An obtuse individual greedily sucks droplets of nectar dripping from above but is forgetful of the deep abysm beneath.

आमिसत्थी झसो चेव, मग्गते अप्पणा गलं ।
आमिसत्थी चरित्तं तु, जीवे हिंसति दुम्मती ।।७।।

७. मांसलोलुप मत्स्य स्वयं गल (मछली पकड़ने के कांटे) को खोजता है । मांसार्थी के चरित्र के समान दुर्बुद्धि मनुष्य प्राणियों की हिंसा करता है ।

7. The voracious fish seeks the angling fork of its own accord similarly ill-witted folk cause bodily loss to other individuals.

अणग्घेयं मणिं मोत्तुं, सुत्तमत्ताभिनन्दती ।
सव्वण्णुसासणं मोत्तुं, मोहादीएहिं हिंसती ।
सोअ-मत्तेण विसं गेज्झं, जाणं तत्थेव जुंजती ।।८।।

८. जैसे अज्ञानी महामूल्यवान मणि को फेंककर केवल सीप को पाकर प्रसन्न हो जाता है वैसे ही अज्ञानी सर्वज्ञ के शासन को छोड़कर मोहादिक कषायों

४१. एगचत्तालीसं इन्दनागिज्जज्झयणं

जेसिं आजीवतो अप्पा, णराणं बलदंसणं ।
तवं ते आमिसं किच्चा, जणा संणिचते जणं ।।१।।

१. जो जीव अपनी आजीविका के लिये तपोबल का प्रदर्शन कर मानव समूह को एकत्रित करते हैं वे वस्तुतः अपने तपोबल को आसक्ति से दूषित करते हैं ।

1. Those who draw huge crowds to themselves by expending their moral acquisition for their livelihood are, in fact, polluting their virtue by attachment.

विकीतं तेसि सुकडं तु, तं च णिस्साए जीवियं ।
कम्मचेट्ठा अजाता वा, जाणिज्जा ममका सढा ।।२।।

२. उन जीवों का सुकृत मानो बिकाउ होता है और उस सुकृत पर आधारित उनका जीवन भी बिका हुआ होता है । उनका क्रियाकलाप निकृष्ट होता है । वे अहंकारी और शठ/धूर्त होते हैं ।

2. Their virtue is like a purchaseable commodity and their life, thriving on such a virtue, is also a saleable commodity. Their conduct is base. They are damned by their vanity and depravity.

गलुच्छिन्ना असोते वा, मच्छा पावन्ति वेयणं ।
अणागतमपस्सन्ता, पच्छा सोयन्ति दुम्मती ।।३।।

३. निर्जल स्थान में अथवा छेदित कण्ठ वाला मत्स्य जैसे वेदना को प्राप्त करता है, इसी प्रकार भविष्य को न देखने वाला दुर्मति जीव बाद में शोक करता है ।

3. A fish without water and one angled in a hook is a damned one. Similar is the unenviable fate of one who is ignorant of one's future destiny.

मच्छा व झीणपाणीया, कंकाणं घासमागता ।
पच्चुप्पण्णरसे गिद्धा, मोहमल्लपणोल्लिया ।।४।।

४. जैसे मत्स्य अल्प पानी के कारण कंकास घास में आकर फंस जाता है, वैसे ही मोहमल्ल से उद्वेलित जीव वर्तमान में प्राप्त रसों (सुखों) में लुब्ध हो जाता है ।

मूलकोउयकम्मेहिं, भासापणइएहि या ।
अक्खाइओवदेसेहिं, अविसुद्धं तु जीवति ॥१२॥

इ न्द ना गे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१२. मूल कौतूहलजन्य कार्यकलापों (इन्द्रजाल) से, वाणी चातुर्य से, कहानियों के माध्यम से अथवा द्यूतकला से जीवन जीते हैं उनका जीवन दोषपूर्ण है ।

ऐसा अर्हत् **इन्द्रनाग ऋषि** बोले ।

12. Such careers are least imitable, who entertain as necromancers, quizzical speakers and narrators of tables or gamblers, said Indranag, the seer.

मासे मासे य जो बालो, कुसग्गेण आहारए ।
ण से सुक्खायधम्मस्स, अग्घती सतिमं कलं ॥१३॥

१३. जो बाल–अज्ञानी महीने-महीने में कुशाग्रमात्र आहार-भोजन करता है वह श्रुताख्यात धर्म (आत्मिक धर्म) की सौंवी कला भी प्राप्त नहीं करता ।

13. The demonstrator of his own virtue by living austerely on one meagre meal a month remains satisfied by infinitesimal virtue.

मा ममं जाणऊ कोयी, माहं जाणामि किंचि वि ।
अण्णातेणऽत्थ अण्णातं, चरेज्जा समुदाणियं ॥१४॥

१४. मुझे कोई नहीं जाने और न मैं किसी को जानूं । अज्ञात के साथ अज्ञात बनकर समाज में (भिक्षा के लिये) विचरण करे ।

14. Let none know me and I know none. One should move incognito along the face of the globe and beg for one's meals.

पंचवणीमगसुद्धं, जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा ।
तस्स सुलद्धा लाभा, हणणादीविप्पमुक्कदोसस्स ॥१५॥

१५. जो दोष-प्रमुक्त मुनि है वह पांच प्रकार के वनीपकों का बाधक न बनता हुआ, सम्यक् प्रकार से अन्वेषण करता हुआ भिक्षा ग्रहण करता है तो उसे कर्म नाश का लाभ सुलभ है ।

से स्वचरित्र का हनन करता है ।

श्रोत्र मात्र से ही विष ग्रहण करने योग्य है (मुख से ग्रहण करने पर मृत्यु है ।) यह जानकर भी अज्ञानी उसी को ग्रहण करता है ।

8. Like an ignorant being discarding gems for mere oysters a stupid man turns his back to omniscience and opts for vices that explode his morals. Hemlock may not do harm to one's ears, in one's mouth it is instantaneous death. And still human beings are prone to commit such follies.

आजीवत्थं तवो मोत्तुं, तप्पते विविहं बहुं ।
तवनिस्साए जीवन्तो, तवाजीवं तु जीवती ।।९।।

९. आजीविका के लिये तप को छोड़कर विविध रूपों में अनेक प्रकार का तप करता है । तप का आश्रय करके जीने वाला तपोमय जीवन को जीता है ।

9. Wise people never harness their austerities to earn their livelihood. They dedicate themselves to austerities and penances in right earnest.

णाणमेवोवजीवन्तो, चरित्तं करणं तहा ।
लिंग च जीवणट्ठाए, अविसुद्धं ति जीवती ।।१०।।

१०. कोई ज्ञान से जीवन-यापन करते हैं । कुछ चारित्रिक क्रिया से जीवन जीते हैं । जिन्होंने वेष (मुनिवेष) को जीविका का साधन बनाया है, वे अशुद्ध-दोषपूर्ण जीवनयापन करते हैं ।

10. Certain individuals expend their knowledge for earning their bread. Certain others encash their morals. Those who thus put their monkhood to bread-earning are vicious.

विज्जामन्तोपदेसेहिं, दूतीसंपेसणेहिं वा ।
भावीभवोवदेसेहिं, अविसुद्धं ति जीवति ।।११।।

११. विद्या, मन्त्र-तन्त्र के उपदेश से, दूतिक-संदेशवाहक के कार्य से, भविष्य के कथन से अर्थात् निमित्तशास्त्र से और भवों की बातें बताते हुए उपदेश के माध्यम से जो जीवन निर्वाह करते हैं वे दोषपूर्ण जीवन जीते हैं ।

11. They are equally sinful who teach occultism, run errands, predict astrology and who preach and choose such vocations for their bread.

४२. बायालीसं सोमिज्जज्झयणं

अप्पेण बहुमेसेज्जा जेट्ठमज्झिमकण्णसं ।

णिरवज्जे ठितस्स तु णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्तए । सो मे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

मुमुक्षु ! ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ किसी भी पद या अवस्था में हो वह अल्प से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करे ।

निरवद्य स्थिति में रहे हुए को पुनः सावद्य का सेवन करना नहीं कल्पता है ।

ऐसा अर्हत् **सोम** ऋषि बोले—

An aspirant should keep an eye on spiritual elevation further and further, be he a novice, a moderately accomplished one or a doyen. One who has renounced everything, hardly does justice to oneself by further reverting to attachment, said Soma the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ सोमिज्जं णामज्झयणं ।।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **सोम ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Soma, the seer, do pronounce.

सोम नामक बयांलीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।।४२।।



15. A monk freed of all vices and surviving on carefully chosen alms of food (without usurping the food claimed by dog, guest, beggar, weak or Brahmin) frees himself spontaneously of all Karmas.

जहा कवोता य कविंजला य
गावो चरन्ती इह पातडाओ ।
एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा
णो वीलवे णो वि य संजलेज्जा ॥१६॥

१६. जैसे कबूतर, कपिंजल (गौरा) पक्षी और गाय प्रातःकाल भोजन (चरने) के लिये भ्रमण करते हैं। इसी प्रकार मुनि गौचरी के लिए भ्रमण करे। भ्रमण करता हुआ किसी के साथ संभाषण न करे और इच्छित वस्तु प्राप्त न होने पर न किसी पर मन में कुढ़े या जले।

16. Like a pigeon and a cow he should roam about for his meals. He should utter no word during his beat nor dislike unwelcome meal thus received.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

इइ इन्दनागिज्जज्भयणं ॥

ऐसा मैं (अर्हत् **इन्द्रनाग ऋषि**) कहता हूँ।

Thus I, Indranag, the seer, do pronounce.

इन्द्रनाग नामक इकतालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥४१॥



४४. चउआलीसं वरुणज्झयणं

दोहिं अंगेहिं उप्पलन्तेहिं आता जस्स ण उप्पीलति ।

रागंगे य विदोसे य से हु सम्मं णियच्छती ।

व रु णे णं अरहता इसिणा बुइतं ॥

कर्म के दोनों अंग—राग और द्वेष की उत्पीड़ना से जिसकी आत्मा उत्पीड़ित नहीं होती वही सम्यक् प्रकार से निश्चय करता है ।

ऐसा अर्हत् **वरुण** ऋषि बोले ।

One, who is least perturbed by attachment and aversion, the twin wings of Karma, alone is endowed with a true discretion and decisive capacity, said Varuna, the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ वरुण-णामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है, और भविष्य में इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **वरुण ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Varuna, the seer, do pronounce.

वरुण नामक चवालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥४४॥



४३. तिचत्तालीसं जमज्झयणं

लाभम्मि जे ण सुमणो, अलाभे णेव दुम्मणो ।
से हु सेट्ठे मणुस्साणं, देवाणं व सयक्कऊ ।।१।।

ज मे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१. जो लाभ में सुमन (प्रसन्न) नहीं होता और अलाभ में दुर्मन (नाराज) नहीं होता वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, जैसे देवों में शतक्रतु—इन्द्र ।

ऐसा अर्हत् **यम** ऋषि बोले ।

1. One untouched by excitement in prosperity and anguish in adversity is the salt of earth like the prince of gods Lord Indra, said Yama, the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ जम-णामज्झयणं ।।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **यम ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Yama, the seer, do pronounce.

यम नामक तयांलीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।।४३।।



3. A vile indulgent is no well-wisher to his own self for it is the self that has to suffer the outcome of its own deeds.

पावं परस्स कुव्वन्तो, हसते मोहमोहितो ।
मच्छो गलं गसन्तो वा, विणिघायं ण पस्सति ।।४।।

४. मोहग्रस्त जीव दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हंसता है। मछली (आटे की गोली) गले में उतारते समय नाशकारी कांटे को नहीं देखती है।

4. An engrossed individual wishing ill to others takes his sin jocularly. He is like an angled fish unaware of the hook swallowed by it.

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लितो ।
दित्तं पावति उक्कण्ठं, वारिमज्भे व वारणो ।।५।।

५. जैसे जल में रहा हुआ हाथी अत्यधिक उत्तेजित होता है वैसे ही मोहमल्ल द्वारा प्रेरित आत्मा वर्तमानिक तात्कालिक भोगों में अत्यासक्त और उत्तेजित होता है।

5. An inebriated elephant in abandonment in aquatic frolic is devoid of all sobriety. So is a man truly tipsy with engrossment of momentary pleasures.

परोवघाततल्लिच्छो, दप्पमोहबलुद्धुरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं ण विन्दती ।।६।।

६. दूसरे का घात करने वाला लिप्सु व्यक्ति अहँकार और मोहमल्ल से उद्धत होने के कारण गुण और दोष से शून्य अर्थात् विवेकशून्य हो जाता है। जैसे जर्जर वृद्धसिंह निर्बल प्राणियों का वध करते समय विवेक-शून्य हो जाता है।

6. A sadist bent upon harming others is power-drunk, egocentric and totally blind to moral judgment. He is like a decrepit tiger still capable of perpetrating untold tyrannies on the feeble beasts.

सवसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।
आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्कधारो दुहट्टिओ ।।७।।

४५. पणयालीसं वेसमणिज्जज्झयणं

अप्पं च आउं इह माणवाणं
सुचिरं च कालं णरएसु वासो ।
सव्वे य कामा णिरयाण मूलं
को णाम कामेसु बुहो रमेज्जा ? ॥१॥

१. यहां मनुष्यों की आयु अल्प है और नरक में सुदीर्घ काल तक निवास होता है। समस्त काम-वासनायें नरकवास का मूल हेतु हैं। अतः कौन बुद्धिमान इन वासनाओं में रमण करेगा ?

1. Human beings are shortlived on earth while a stay in inferno is marked by an existence lasting aeons. While desires and passions lead to hell, what ails a wise man that he would indulge in passion and desire ?

पावं ण कुज्जा, ण हणेज्ज पाणे
अतीरसे णेव रमे कदायी ।
उच्चावएहिं सयणासणेहिं
वायु व्व जालं समतिक्कमेज्जा ॥२॥

वे स म णे णं अरहता इसिणा बुइतं ।

२. न पाप करे, न प्राणियों की हिंसा करे, न स्वादिष्ट षड्रस भोजन में आसक्त होवे और न कदापि उच्च-नीच शयनासनों में प्रसन्नता अनुभव करे, अपितु जिस प्रकार वायु जालों को उड़ा देती है उसी प्रकार मुमुक्षु इन सब का अतिक्रमण कर दे। अर्थात् वायु की तरह अप्रतिबद्ध रहे।

ऐसा अर्हत् **वैश्रमण** ऋषि बोले ।

2. Let the aspirant avoid sin and violence and have an utter indifference to delectable viands and soft mattresses. Such a one listeth as the wind bloweth, said Vaishraman, the seer.

जे पुमं कुरुते पावं, ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ ।
अप्पणा हि कडं कम्मं, अप्पणा चेव भुज्जती ॥३॥

३. जो पुरुष पाप करता है निश्चयतः उसे अपनी आत्मा प्रिय नहीं है; क्योंकि आत्मा स्वकृत कर्मों को स्वयं ही भोगती है।

११. जो अग्नि का त्याग कर देता है, जो विषभक्षण नहीं करता है और जो सर्प को पकड़ लेता है उस व्यक्ति को भय नहीं होता । अर्थात् वह अभय है ।

11. One who gives up the use of fire (in cooking), consumption of toxic substances and can handle serpents has no reason to fear aught.

धावन्तं सरसं नीरं, सच्छं दाढिं सिंगिणं ।
दोसभीरू विवज्जेन्ती, पावमेवं विवज्जए ।।१२।।

१२. (जैसे) तीव्र वेग से प्रवहमान स्वच्छ मधुर जल तथा दौड़ने वाले दाढ और शृंग वाले पशुओं को देखकर दोषभीरु (चोट आदि लग जाने के भय से) उस मार्ग से हट जाते हैं । उसी प्रकार दोषभीरु (पापादि दोषों से भय खाने वाले मुमुक्षु) को पापों के मार्ग से परे हो जाना चाहिए ।

12. As a cautious being keeps off the track of tempestuous torrents and wild horny beasts for his own safety, so a morally vigilant soul should never so much as approach trails fraught with sinful inertia.

पावकम्मोदयं पप्प, दुक्खतो दुक्खभायणं ।
दोसा दोसोदई चेव, पावकज्जा पसूयति ।।१३।।

13. पाप कर्मों का उदय होने पर जीव दुःखों से और अधिक दुःखों का भाजन बनता है । दोषी व्यक्ति और अनेक प्रकार के दोषों को ग्रहण करने वाले पाप कार्यों को उत्पन्न करता है ।

13. Once the chain of evil destiny sets in there is misery and woe s a n s end. An evil doer is hurled headlong into sins abounding.

उव्विवारा जलोहन्ता, तेतणीए मतोद्धितं ।
जीवितं वा वि जीवाणं, जीवन्ति फलमन्दिरं ।।१४।।

१४. भूकम्प, जलसमूह, अग्नि अथवा तृणगुच्छ से मरकर भी प्राणियों का जीवन पुनः आरम्भ हो जाता है । फल का मन्दिर–आश्रय स्थान कर्म जब तक विद्यमान है तब तक जीवों का पुनर्जीवन भी चलता रहेगा ।

14. An individual meeting his death by earth-quake, water, fire or nettled creepers does not cease to be There is a sequel of his certain transmigration. So long as Karmas exist to breed destiny transmigration is predestined.

७. पूर्वकृत पाप कर्म के वशीभूत होकर दुर्मति जीव दुःख का अनुभव करता है। वह गले में फंदा कसकर दुःख और विपदाओं की धारा में अपने आपको छोड़ देता है।

7. Woe is the direct repercussion of earlier sins committed by man. He unwittingly ropes in his own neck and embraces utter miseries.

पावं जे उ पकुव्वन्ति, जीवा सोताणुगामिणो।
वड्ढते पावकं तेसिं, अणग्गाहिस्स वा अणं ॥८॥

८. जो सुखाभिलाषी जीव सुख के लिये पाप करते हैं। जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण (कर्ज) बढ़ता जाता है वैसे ही उनके पापों की राशि भी बढ़ती जाती है।

8. Pleasure-seekers who indulge in sinful conduct, endlessly enhance their debit account.

अणुबद्धमपस्सन्ता, पच्चुप्पण्णगवेसका।
ते पच्छा दुक्खमच्छन्ति, गलुच्छित्ता जधा झसा ॥९॥

९. जो केवल वर्तमानिक—तात्कालिक सुख को खोजते हैं किन्तु उससे अनुबद्ध फल को नहीं देखते हैं, वे बाद में उसी प्रकार से दुःख पाते हैं जैसे कण्ठ से बिंधी हुई मछली।

9. A hedonist caring for the present jolly well ignorant of the corresponding moral liability, is like a stupid fish out to swallow the hook.

आताकडाण कम्माणं, आता भुंजति जं फलं।
तम्हा आयस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ॥१०॥

१०. आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है और आत्मा ही उसके फल का भोक्ता है। अतः आत्मोत्कर्ष के लिये (मुमुक्षु) पापग्रहण करने के मार्ग का त्याग कर दे।

10. The self is the doer and also the sufferer of the reward and punishment of his acts. Hence the aspirant should give up this sinful option and sublimate his self.

जे हुतासं विवज्जेति, जं विसं वा ण भुंजति।
जं णं गेण्हति वा वालं, णूणमत्थि ततोऽभयं ॥११॥

१९. प्राणियों को प्राणिघात अप्रिय है। प्राणियों को दया प्रिय है। इन सबको समझकर मुमुक्ष प्राणिघात–हिंसा का त्याग करे।

19. All beings dislike death and injury. They cherish kindness. Keeping this in view, the aspirant should shun violence and killing.

अहिंसा सव्वसत्ताणं, सदा णिव्वेयकारिका।
अहिंसा सव्वसत्तेसु, परं बम्भमणिन्दियं ॥२०॥

२०. अहिंसा समस्त प्राणियों के लिये निर्वेद–अभयदायक है अथवा वैराग्य-कारक है। अहिंसा समस्त प्राणियों में अतीन्द्रिय परब्रह्म है।

20. Non-violence consoles and reassures every body. Non-violence is like the immanent God in all beings.

देविंदा दाणविंदा य, णरिंदा जे वि विस्सुता।
सव्वसत्तदयोवेतं, मुणीसं पणमन्ति ते ॥२१॥

२१. जो भी विश्रुत-विख्यात देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्र हैं वे सत्त्वधारी समस्त प्राणियों पर दयाभाव धारण करने वाले मुनीन्द्र को नमस्कार करते हैं।

21. All the majestic and glorious emperors, demons and regal beings bow to the compassionate saints.

तम्हा पाणदयट्ठाए, तेल्लपत्तधरो जधा।
एगग्गयमणीभूतो, दयत्थी विहरे मुणी ॥२२॥

२२. अतः दयावान मुनि प्राणियों पर दया के लिये तैलपात्रधारक के समान एकाग्रमन होकर विचरण करे।

22. That enjoins upon such merciful monks to vigilantly cultivate it in their fearless conduct.

आणं जिणिन्दभणितं, सव्वसत्ताणुगामिणिं।
समचित्ताऽभिणन्दित्ता, मुच्चन्ती सव्वबन्धणा ॥२३॥

२३. समस्त सत्त्वधारी जीवों का अनुगमन करने वाली जिनेश्वर देव कथित आज्ञा को प्रसन्नता और समचित्त से स्वीकार कर (मुमुक्षु) समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

देज्जाहि जो मरन्तस्स, सागरन्तं वसुंधरं ।
जीवियं वा वि जो देज्जा, जीवितं तु स इच्छती ॥१५॥

१५. मरते हुए प्राणी को समुद्र पर्यन्त पृथ्वी दी जाए या जीवन दिया जाए तो वह मरने वाला प्राणी जीवन की ही चाहना करेगा ।

15. A man breathing his last would prefer survival to a reign of world-wide empire.

पुत्तदारं धणं रज्जं, विज्जा सिप्पं कला गुणा ।
जीविते सति जीवाणं, जीविताय रती अयं ॥१६॥

१६. पुत्र, पत्नी, धन, राज्य, विद्या, शिल्प, कला और गुण ये सभी प्राणियों को जीवित दशा में ही उनके जीवन को आनन्दित कर सकते हैं ।

16. Progeny, spouse, wealth, empire, education, art, craft and versatility-all yield happiness so long as a human being is alive.

आहारादि तु जीवाणं, लोए जीवाण दिज्जती ।
पाणसंधारणट्ठाय, दुक्खणिग्गहणा तहा ॥१७॥

१७. लोक में प्राणियों के द्वारा प्राणधारी जीवों को आहारादि इसलिए दिये जाते हैं कि वे प्राणों को आश्वस्त होकर धारण कर सकें और दुःख का निग्रह कर सकें ।

17. Living beings offer food to other living beings to grant them a secure existence and freedom from misery.

सत्थेण वण्हिणा वा वि, खते दड्ढे व वेदणा ।
सए देहे जहा होति, एवं सव्वेसि देहिणं ॥१८॥

१८. जैसे स्वयं के शरीर में शस्त्र और आग से घाव, जलन और वेदना होती है, वैसे ही समस्त देहधारियों को भी होती है ।

18. As we experience distress due to injury, burn, irritation and pain, so do other organisms.

पाणी य पाणिघातं च, पाणिणं च पिया दया ।
सव्वमेतं विजाणित्ता, पाणिघातं विवज्जए ॥१९॥

२७. इसी प्रकार विविध भावों और गुणों के प्राचुर्य से जिनेश्वरों का मन्तव्य (मन्त्ररूप सिद्धान्त) रमणीय होता है। मनोवांछित रसायन के समान जिनेश्वरों का मन्तव्य किसको रुचिकर न होगा ?

27. The preachings of Jainism are richly endowed and beneficially pleasant. Who will not relish such instructions that be-token spiritual elevation, welcome to all ?

णण्हातों व सरं रम्मं, वाहितो वा रुयाहरं ।
छुहितो व जहाऽऽहारं, रणे मूढो व बन्दियं ।।२८।।

२८. अस्नात व्यक्ति को सरोवर प्रिय है, रोगी को वैद्य या चिकित्सालय प्रिय है, भूखे को भोजन प्रिय है और युद्धभूमि में मूर्ख या व्याकुल व्यक्ति और कैदी अथवा मागध को सुरक्षित स्थान प्रिय है।

28. One unabluted seeks ponds and lakes, a patient seeks a clinic, a starving one cherishes meals and fearful individual in a battle field seeks a cosy refuge.

वण्हि सीताहतो वा वि, णिवायं वाऽणिलाहतो ।
तातारं वा भउव्विग्गो, अणत्तो वा धणागमं ।।२९।।

२९. भीषण सर्दी से पीड़ित को अग्नि प्रिय है, पवन से पीड़ित को हवा-रहित स्थान प्रिय है, भयत्रस्त को सुरक्षा प्रिय है और ऋणी को धनप्राप्ति प्रिय है। (वैसे ही मुमुक्ष को नानाभावगुणोपत जिनेश्वर की आज्ञा प्रिय है।)

29. A freezing man dreams of a hearth; one tossed by hurricanes–a closed niche; a frightened being–a reassurance and a debtor wealth. (An aspirant on this analogy seeks the flourishing Jain moral code.)

गम्भीरं सव्वतोभद्दं, हेतुभंगणयुज्जलं ।
सरणं पयतो मण्णे, जिणिन्दवयणं तहा ।।३०।।

३०. गम्भीर, सर्वतोभद्र, हेतु, भंग और नय से उज्ज्वल जिनेश्वर वाणी की शरण जाने वाला भी ऐसे ही आनन्द का अनुभव करता है।

30. Jain philosophy is sober, versatile, rational and logical. One resorting to it is rewarded with bliss.

23. The aspirant follows the commandment of the Jain prophet that inspires every living being, willingly and eagerly and attains deliverance.

वीतमोहस्स दन्तस्स, धीमन्तस्स भासितं जए ।
जे णरा णाभिणन्दन्ति, ते धुवं दुक्खभायिणो ।।२४।।

२४. वीतमोह (वीतराग), दान्त और प्रज्ञावान द्वारा कथित आज्ञा को जो अच्छी नहीं मानकर पालन नहीं करते हैं वे निश्चय से दुःख के अधिकारी, दुःखों के भाजन बनते हैं ।

24. The edict of such non-attached, charitable and profoundly wise beings, if not followed leads to miseries.

जेऽभिणन्दन्ति भावेण, जिणाणं तेसि सव्वधा ।
कल्लाणाइं सुहाइं च, रिद्धीओ य ण दुल्लहा ।।२५।।

२५. जो जिनेश्वर की आज्ञा को पूर्णरूपेण प्रसन्नता के साथ शिरोधाय करते हैं वे कल्याणादि सुखों को सहजभाव से प्राप्त करते हैं । उनके लिए ऋद्धियां भी दुर्लभ नहीं हैं ।

25. Those who adopt Jainism as their mode of life and conduct willingly, automatically, earn all rewards. They are endowed with mastery over natural forces and elements.

मणं तधा रम्ममाणं, णाणाभावगुणोदयं ।
फुल्लं व पउमिणीसण्डं, सुतित्थं गाहवज्जितं ।।२६।।

२६. जैसे विविध भावों और गुणों के उदय से हृदय आह्लादित होता है । जैसे ग्राहवर्जित–मगरमच्छों से रहित सुतीर्थ (द्रह) विकसित कमल-लताओं के समूह से शोभित होता है ।

26. These instructions cheer up all and tone each one's moral conduct. They are like lotus-spangled holy lakes free from crocodiles.

रम्मं मन्तं जिणिन्दाणं, णाणाभावगुणोदयं ।
कस्सेयं ण प्पियं होज्जा, इच्छियं व रसायणं ? ।।२७।।

पयंडस्स णरिंदस्स, कन्तारे देसियस्स य ।
आरोग्गकारणो चेव, आणाकोहो दुहावहो ।।३५।।

३५. प्रचण्ड शासक राजा का, अटवी के मार्गदर्शक का या संसार वन के मार्गदर्शक गुरु का और रोगहारक वैद्य की उग्र आज्ञा का पालन न करना दुःखकारक है ।

35. It is injurious to neglect the obligatory command of a great monarch, supreme guide in the vast labyrinthine wild world and a versatile physician.

सासणं जं णरिन्दाओ, कन्तारे जे य देसगा ।
रोगुग्घातो य वेज्जातो, सव्वमेतं हिए हियं ।।३६।।

३६. नरेन्द्र के शासन का, वन के मार्गदर्शक या संसार वन के मार्गदर्शक गुरु का और रोगहन्ता वैद्य की आज्ञा का पालन करना अति हितकारी है ।

36. It is sheer bliss to obey the command of such a monarch, guide and physician.

आणाकोवो जिणिन्दस्स, सरण्णस्स जुतीमतो ।
संसारे दुक्खसंबाहे, दुत्तारो सव्वदेहिणं ।।३७।।

३७. द्युतिमान शरण्य (शरण ग्रहण करने योग्य) जिनेन्द्र की उग्र आज्ञा दुःख से परिपूर्ण संसार में समस्त देहधारियों के लिए कष्ट से पालन करने योग्य है (तथापि उसका पालन आवश्यक है) ।

37. The commandment of the Lord of Jainism is tedious and still it is incumbent upon every individual to obey it unflinchingly.

तेलोक्कसारगरुयं, धीमतो भासितं इमं ।
सम्मं काएण फासेत्ता, पुणो ण विरमे ततो ।।३८।।

३८. त्रैलोक्य के सारभूत धीमान महापुरुषों ने जो कहा है—कठोर आदेश प्रदान किया है उसका सम्यक् प्रकार से जीवन से स्पर्श कर अर्थात् हृदय में धारण कर पालन करे । उससे पीछे न हटे ।

38. Whatever these accomplished beings have uttered should be scrupulously comprehended and carried out in toto.

सारदं व जलं सुद्धं, पुण्णं वा ससिमण्डलं ।
जच्चमणिं अघट्टं वा, थिरं वा मेतिणीतलं ।।३१।।

३१. जैसे शरद् ऋतु का जल शुद्ध होता है, चन्द्र मण्डल पूर्ण होता है, अघट्ट–तराशी हुई अखण्डित उत्तम मणि होती है और पृथ्वी स्थिर होती है ।

31. As the water in winter is clear, moon full-orbed, duly cut gem shapely and terra firma stable, —

साभावियगुणोवेतं, भासते जिणसासणं ।
ससीतारापडिच्छण्णं, सारदं वा णभंगणं ।।३२।।

३२. वैसे ही स्वाभाविक गुणों से युक्त जिनेश्वर देव का शासन–जिन–शासन शोभायमान होता है । जैसे चन्द्र और तारागण से परिपूर्ण शरत्पूर्णिमा का आकाश मण्डल शोभायमान होता है ।

32. *—So Jainism is splendid like the star-studded sky on a full moon day in winter.*

सव्वण्णुसासणं पप्प, विण्णाणं पवियम्भते ।
हिमवन्तं गिरिं पप्पा, तरूणं चारु वागमो ।।३३।।

३३. जो सर्वज्ञशासन–जिनशासन प्राप्त कर लेता है उसका आत्मिक विज्ञान भी वैसा ही विकसित हो जाता है । जैसा कि हिमवन्तगिरि–हिमालय को प्राप्तकर वृक्षों में सुन्दरता का प्रादुर्भाव हो जाता है ।

33. One who accomplishes himself after Jain ethics, attains glory akin to lush greenery along the Himalayas.

सत्तं बुद्धी मती मेधा, गंभीरत्तं च वड्ढती ।
ओसधं वा सुयक्कन्तं, जुज्जए बलवीरियं ।।३४।।

३४. जो सर्वज्ञशासन प्राप्त कर लेता है उसमें सत्त्व, बुद्धि, मति, मेधा और गम्भीर्य की प्रशस्त वृद्धि होती है । जैसे पवित्र औषध के सेवन से तेज, बल और वीर्य की वृद्धि होती है ।

34. One well-versed in Jainism automatically attains truth, wisdom, discretion, intellect and profundity as one is rendered healthy, and robust by the use of elixir.

इन्दासणी ण तं कुज्जा, दित्तो वण्ही, अणं अरी ।
आसादिज्जन्तसम्बन्धो, जं कुज्जा रिद्धिगारवो ।।४३।।

४३. इन्द्र का वज्र, जाज्वल्यमान अग्नि, ऋण (कर्ज) और शत्रु इतनी हानि नहीं पहुंचाते जितना कि मन से आस्वादित की हुई ऋद्धि का गौरव, वैभव का अहंकार हानि पहुंचाता है ।

43. The thunderbolt of Indra, the King of gods, burning cinders, debt and foe inflict less injury than the vanity of accomplishment and pride.

सगाहं सरबुद्धं, विसं वामणुजोजितं ।
सामिसं वा णदीसोयं, सातकम्मं दुहंकरं ।।४४।।

४४. मगर से प्रेरित सरोवर, विषमिश्रित नारी (विष-कन्या) और मांस-युक्त नदी-प्रवाह के समान साता--सुखकारक कर्म भी अन्ततः दुःखदायी होते हैं ।

44. Deeds yielding pleasures are also in an ultimate analysis woeful like a crocodile-infested lake, *femme fatale* and dangerous stream.

कोसीकिते व्वऽसी तिक्खो, भासच्छण्णो व पावओ ।
लिंगवेसपलिच्छण्णो, अजियप्पा तहा पुमं ।।४५।।

४५. जैसे तीक्ष्णधार वाली तलवार म्यान में रहती है और आग भस्म से ढकी रहती है वैसे ही अजितात्मा/पराजित पुरुष भी बहुविध लिंग और वेषों में छिपे रहते हैं ।

45. Unaccomplished and defeated individuals are seen in various guises like a word in a sheath and embers under ashes.

कामा मुसामुही तिक्खा, साता कम्माणुसारिणी ।
तण्हासातं च, सिग्घं च, तण्हा छिन्दति देहिणं ।।४६।।

४६. वासना से तीक्ष्ण मृषामुखी (असत्यवादी) कैंची साता कर्मानु-सारिणी है । किन्तु शरीरधारियों की यह तृष्णा सुख या शान्ति और आशा को शीघ्र ही काट देती है ।

46. Hydra-headed passion has a voluptuous bait but such destiny-generating ventures shear away peace and happiness.

बद्धचिन्धो जधा जोधो, वम्मारूढो थिरायुधो ।
सीहणायं विमुंचित्ता पलायन्तो ण सोभती ।।३९।।

३९. राजचिह्न बांधकर कवचधारी एवं आयुधों से सुसज्जित योद्धा सिंहनाद करता हुआ भी यदि युद्धस्थल से पलायन करता है तो वह शोभास्पद नहीं है।

39. It behoves not an abundantly equipped and armed and shielded valiant warrior to flee from the battle ground.

अगन्धणे कुले जातो, जधा णागो महाविसो ।
मुंचित्ता सविसं भूतो, पियन्तो जाती लाघवं ।।४०।।

४०. जैसे अगन्धन कुल में उत्पन्न हुआ सर्पराज महाविष को छोड़कर यदि उस विष का पुनः पान करता है तो वह लघुता/हीनता को प्राप्त होता है।

40. If a mighty serpent born in the fabled Agandhan breed sheds his venom, it befits him not to repollute his fangs with the vomitted venom.

जधा रुप्पिकुलुब्भूतो, रमणिज्जं पि भोयणं ।
वन्तं पुणो स भुंजन्तो, धिद्धिकारस्स भायणं ।।४१।।

४१. जैसे रुक्मि कुल (उच्च-कुल) में पैदा हुआ स्वादिष्ट भोजन कर और उसे वमन कर पुनः उसको खाता है तो वह धिक्कार का पात्र होता है।

41. Cursed be one of the fabled Rukmi clan if he consumes delicious food, vomits it and again stoops to consume the vomit.

एवं जिणिन्दआणाए, सल्लुद्धरणमेव य ।
णिग्गमो य पलित्ताओ, सुहिओ सुहमेव तं ।।४२।।

४२. इसी प्रकार जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन करने वाला (मुमुक्ष साधक) आत्मा के शल्यों का उन्मूलन कर देता है, भवभ्रमण की ज्वाला से निकल जाता है, सुखी होता है। वस्तुतः वही सच्चा सुख है।

42. One dedicated to Jainism frees himself of all misery and defect. He is not required to suffer reincarnation nor woes any longer. This is happiness par excellence.

आसज्जमाणे दिव्वम्मि, धीमता कज्जकारणं ।

कत्तारे अभिचारित्ता, विणीयं देहधारणं ॥५१॥

५१. स्वर्ग के प्रति भी अनासक्त होकर प्रज्ञाशील कर्त्तव्य की कार्य-कारण परम्परा को अनिवार्य रूप से दूर करता हुआ देहधारण-शरीर को भी (प्रायोपगमनादि अनशन के द्वारा) समाप्त करे ।

51. Abjectly indifferent to the heavenly rewards, the aspirant should wisely unravel the mystery of cause and effect and may discard the body by denying it food ultimately.

सागरेणावणिज्जोको, आतुरो वा तुरंगमे ।

भोयणं भिज्जएहिं वा, जाणेज्जा देहरक्खणं ॥५२॥

५२. समुद्र में नाविक नौका का, युद्ध में (सारथि) घोड़े का और भिज्जक–भूखा व्यक्ति भोजन का ध्यान रखता है, इसी प्रकार (मुमुक्षु आत्मसाधन हेतु) देह का रक्षण करता है ।

52. As a sailor watches his vessel on high seas, a cavalry his steed in battle ground and a starving being his food, so should an aspirant care for his physique as an instrument of sallvation.

जातं जातं तु विरियं, सम्मं जुज्जेज्ज संजमे ।

पुप्फादीहि पुप्फाणं, रक्खन्तो आदिकारणं ॥५३॥

५३. स्वयं में प्रकट होने वाली पराक्रम–शक्ति का सम्यक् प्रकार से संयम में उपयोग करे । पुष्पादि का उपयोग करने वाला पुष्पों का आदिकारण/बीज की रक्षा करता है ।

53. Divert your entire strength to restraint. A floral faddist protects the floral seed.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति वेमि ।

वेसमणिज्जं णाम अज्झयणं ॥

इसिभासियाइं समत्ताइं ॥

सदेवोरगगन्धव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं ।
वत्तं तेहिं जगं किच्छं, तण्हापासणिबन्धणं ।।४७।।

४७. जिसने तृष्णारूपी पाश का बन्धन तोड़ दिया है उसने देव, नाग, गन्धर्व, तिर्यंच और मानवों के साथ सम्पूर्ण जगत् का त्याग कर दिया है ।

47. One who has renounced desire, has abandoned the entire universe comprising angels, gods, demigods, animals and men.

अक्खोवंगो, वणे लेवो, तावणं जं जउस्स य ।
णामणं उसुणो जं च, जुत्तितो कज्जकारणं ।।४८।।

४८. आँख में अंजन लगाना, घाव पर लेप लगाना, लाख को तपाना और बाण को झुकाना, इन सबके पीछे उचित कार्य-कारणों की परम्परा होती है ।

48. Reason relates the application of ointment to eye, analgesic salves to wound, softening the lacquer and bending the arrow.

आहारादीपडीकारो, सव्वण्णुवयणाहितो ।
अप्पाहु तिव्ववण्हिस्स, संजमट्ठाए संजमो ।।४९।।

४९. जीव संयम का पालन करने हेतु क्षुधा की तीव्र आग का प्रतिकार करने के लिये आहारादि का ग्रहण करता है, वह सर्वज्ञवचनों से अनुमोदित है और संयम के लिये हितकारी है ।

49. It is for practising austerity that food is consumed to ward off hunger. This is endorsed by the knowledgeable and is beneficial to an ascetic.

हेमं वा आयसं वा वि, बन्धणं दुक्खकारणं ।
महग्घस्सावि दण्डस्स, णिवाए दुक्खसंपदा ।।५०।।

५०. सोने का बन्धन हो या लोहे का, वह दुःख का ही कारण होता है । महामूल्य वाला दण्ड पड़ने पर भी दुःखप्रद तो होता ही है ।

50. Fetters of gold are as distressing as those of iron. A gem-decked rod will hit as painfully as a plain one.

परिशिष्ट–1

ऋषिभाषित की दो संग्रहणियाँ

[ऋषिभाषित सूत्र से सम्बद्ध दो संग्रहणियां प्राप्त हैं। संग्रहणी का अर्थ है—संक्षिप्त रूप से पदार्थ-प्रतिपादन अथवा सार/निष्कर्षों का संकलन। इनमें प्रथम संग्रहणी नामाधिकार कहलाती है दूसरी संग्रहणी अर्थाधिकार। दोनों प्राकृत भाषा में हैं और क्रमशः 6 और 5 गाथाओं में निबद्ध हैं।

ऋषिभाषित में जिन पैंतालीस अर्हत् ऋषि/महात्माओं/प्रत्येकबुद्धों के अनुभूति पूर्ण एवं जीवन-स्पर्शी सन्देशों/आध्यात्मिक एवं नैतिक उपदेशों का संकलन/चयन किया गया है, उन्हीं का इसमें लेखा-जोखा है।

प्रथम संग्रहणी की प्रथम गाथा में यह प्रतिपादन किया गया है कि इन पैंतालीस अर्हतर्षियों में कितने-कितने अर्हतर्षि किन-किन तीर्थंकरों के शासन काल में हुए हैं? पश्चात् की 5 गाथाओं में अर्थात् 2 से 6 तक प्रत्येक अर्हतर्षि के नाम गिनाये गये हैं।

द्वितीय संग्रहणी में ऋषिभाषित में प्रतिपादित 45 अध्ययनों के नाम दिये गये हैं। इन नामों की विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ के प्रथम शब्दों को ग्रहण कर अध्ययन का नामकरण किया गया है।]

[Two appendices of the Rishibhashit are available. Appendix means compilation of briefs about contents or themes discussed in the book. The first appendix is compilation of titles and second that of subjects. Both are in Prakrit and contain 6 and 5 couplets respectively.

The appendices have mention of the fortyfive seers/ascetics/sages whose messages/philosophical and moral teachings have been compiled in the Rishibhashit.

The first couplet of the first appendix mentions which of these forty-five seers were contemporary to which Tirthankar. The following five couplets, that is 2 to 6, contain the names of each of them.

The second appendix mentions the titles of the forty-five chapters contained in Rishibhashit. These names have been given by taking the first word of every chapter].

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **वैश्रमण** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Vaishraman, the seer, do pronounce.

वैश्रमण नामक पैंतालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।। ४५ ।।

ऋषिभाषित सूत्र सम्पूर्ण हुआ।



4. 22. Gardabh (Gardabhiya), 23. Rama, 24. Harigiri, 25. Ambad, 26. Matanga, 27. Varattaka, 28. Ardrak, 29. Vardhman and Vayu is thirtieth.

पासे पिंगे अरुणे, इसिगिरि अद्दालए य वित्ते य ।
सिरिगिरि सातियपुत्ते, संजय दीवायणे चेव ।।५।।

५. ३१. पाश्र्व, ३२. पिंग, ३३. अरुण, ३४. ऋषिगिरि, ३५. अद्दालक, ३६. वित्त (तारायण), ३७. श्री गिरि, ३८. सातिपुत्र, ३९. संजय और ४०. द्वैपायन ।

5. 31. Parshwa, 32. Ping, 33. Arun, 34. Rishigiri, 35. Addalak, 36. Vitta (Tarayan), 37. Shrigiri, 38. Satiputra, 39. Sanjay and 40. Dvaipayan.

तत्तो य इंदणागे, सोम यमे चेव होइ वरुणे य ।
वेसमणे य महप्पा, चत्ता पंचेव अक्खाए ।।६।।

६. अनन्तर ४१. इन्द्रनाग, ४२. सोम, ४३. यम, ४४. वरुण, ४५. वैश्रमण । इस प्रकार पैंतालीस महात्मा अर्हतर्षि हैं ।

6. then, 41. Indranaga, 42. Soma, 43. Yama, 44. Varun and 45. Vaishraman. As such there are forty five holy seers.

द्वितीय संग्रहणी

अध्ययनों के नाम

सोयव्वं जस्स भवि० लेवो, आदाणरक्खि माणा य ।
तमे सव्वं आराए, जाव य सद्धेय णो-एय ।।१।।

१. १. सोयव्व, २. जस्स, ३. अविलेव (भविदव्वं), ४. आयाणरक्खी, ५. माणा, ६. तम, ७. सव्वं, ८. आरं, ९. जाव, १०. सद्धेय, ११. णो-एय ।

1. 1. Soyavva, 2. Jassa, 3. Avileva (Bhavidavvam), 4. Ayanarakkhi, 5. Mana, 6. Tama, 7. Savvam, 8. Aaram, 9. Java, 10, Saddheya, 11. No-eya.

लोगेसणा किमत्थं, जुत्तं साता तधेव विसये य ।
विज्जा वज्जे आरिय, उक्कल णाहं ति जाणामि ।।२।।

प्रथम संग्रहणी

पत्तेयबुद्धमिसिणो, तित्थे वीसं अरिट्ठणेमिस्स ।
पासस्स य पण्णर दस वारस्स विलीणमोहस्स ।।१।।

१. बीस प्रत्येक बुद्ध ऋषि अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पन्द्रह पार्श्वनाथ और दस विगतमोह महावीर के तीर्थ/शासन में हुए हैं ।

1. Twenty of these seers were contemporary to Arishthanemi (Neminath), fifteen lived during the life of Parshwanath and ten during the period of Mahavir.

णारद-वज्जित-पुत्ते, असिते अंगरिसि-पुप्फसाले य ।
वक्कल-कुम्मा केतलि, कासव तह तेतलिसुते य ।।२।।

२. १. नारद, २. वज्जिय (वाज्रिक) पुत्र, ३. असित, ४. अंग ऋषि (अंगिरस) ५. पुष्पशाल, ६. वल्कल (चीरी) ७. कूर्म (कूर्मा पुत्र) ८. केतलि (पुत्र), ९. काश्यप तथा १०. तेतलिपुत्र ।

2. 1. Narada, 2. Vajjiya (Vajrik) putra, 3. Asit, 4. Angarishi (Angiras), 5. Pushpashal, 6. Valkal (chiri), 7. Kurma (putra), 8. Kaitali (putra), 9. Kashyap, and 10. Taitaliputra.

मंखलि जण्ण-भयालि, बाहुय महु सोरियायण विदू य ।
वरिसे कण्हे आरिय, उक्कल गाहावई तरुणे ।।३।।

३. ११. मंखली (पुत्र), १२. यज्ञ (याज्ञवल्क्य), १३. भयालि, १४. वाहुक १५. मधु (मधुरायण), १६. शौर्यायन, १७. विदु, १८. वर्षप् कृष्ण, १९. आर्य (आर्यायण) २०. उत्कलवादी और २१. गाथापति तरुण ।

3. 11. Mankhali (putra), 12. Yagy (Yagyavalkya), 13. Bhayali 14. Bahuk, 15. Madhu (Madhurayan), 16. Shauryayan, 17. Vidu, 18. Varshap Krishna, 19. Arya (Aryayan), 20. Utkalvadi, 21. Gathapati Tarun.

गद्दभ रामे य तहा, हरिगिरि अम्बड़ मयंग वारत्ता ।
तत्तो य अद्दए वद्धमाणे वाऊ य तीसतिमे ।।४।।

४. २२. गर्दभ, २३. राम, २४. हरिगिरि, २५. अम्बड, २६. मातंग, २७. वारत्तक, २८. आर्द्रक, २९. वर्द्धमान, और ३०. वायु, ये तीसवें हैं ।

परिशिष्ट–2

ऋषिभाषित का पद्यानुक्रम

[निम्नांकित परिशिष्ट में पद्यांश के बाद अध्ययन एवं गाथांक दिये हैं तथा अन्त में पृष्ठांक ।]

२. १२. लोएसणा, १३. किमत्थं, १४. जुत्तं, १५. साया, १६. विसय, १७. विज्जा, १८. वज्जं, १९. आरिय, २०. उक्कल, २१. णाहं (णाहं पुरा किंचि) जाणामि ।

2. 12. Loyesana, 13. Kimattham, 14. Juttam, 15. Saya, 16. Visaya, 17. Vijja, 18. Vajjam, 19. Ariya, 20. Ukkal, 21. Naham (Naham pura kinchi).

पडिसाडी ठवरा दुवे मरणा सव्वं तधेव बंभे य ।
धम्मे य साहू सोते, सवंति श्रहसच्चतो समे लोए ।।३।।

३. २२. परिसाडी, २३. दुवे मरणा, २४. सव्वं, २५. तएणं, २६. धम्मे (कतरे धम्मे), २७. साधु, २८. छिण्णसोते, २९. सवंति, ३०. श्रहसच्चतो (श्रधासच्चमिणं), ३१ समे लोए (केयं लोए) ।

3. 22. Parisadi, 23. Duve Marana, 24. Savvam, 25. Tayenam, 26. Dhamme (katare dhamme), 27. Sadhu, 29. Chhinna sotay, 29. Savanti, 30. Aha sachchato (Adhasachaminam), 31. Samey loye (Keyam loye).

किसी बाले य पण्डित, सहणा तह कुप्पणा य बोद्धव्वा ।
उप्पत उदए य सुहे, पावे तह इच्छणिच्छा य ।।४।।

४. ३२. किसिं (दिव्वं भो किसिं), ३३. बाले (दोहिं ठाणेहिं बालं), ३४. सहणा, ३५. कुप्पणा, ३६. उप्पत (उप्पतता), ३७. उदगं, ३८. सुहे (जं सुहेण), ३९. पावगं, (जे इमं पावगं), ४०. इच्छमणिच्छं ।

4. 32. Kisim (Divvam bho kisim), 33. Baley (Dohim thanehim balam), 34. Sahana, 35. Kuppana, 36. Uappat (Uppatata), 37. Udagam, 38. Suhe (Jam suhena), 39. Pavagam (Je imam pavagam), 40. Ichham-nichham.

श्रजीवतो य श्रप्पा श्रप्पेण य एसितव्व बहुयं तु ।
लाभे दो ठाणेहि य श्रप्पं पापाण हिंसाऽऽयु ।।५।।

५. ४१. श्राजीवतो (जेसिं श्राजीवतो), ४२. श्रप्पेण, ४३. लाभम्मि ४४. दो ठाणे हिं और ४५. श्रप्पं च ।

5. 41. Aajivato (Jesim aajivato), 42. Appena, 43. Labhammi, 44. Do thanehim and 45. Appam cha

1	2	3	4	5
22.	नीलांजना (हिन्दी)	गणेश ललवानी	12/–	कथा साहित्य
23.	प्राकृत काव्य मंजरी (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	16/–	व्याकरण
24.	प्राकृत गद्य सोपान (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	16/–	व्याकरण
25.	प्राकृत स्वयं शिक्षक (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	15/–	व्याकरण
26.	बेसिक मैथेमेटिक्स (अंग्रेजी)	प्रो० एल० सी० जैन	15/–	गणित
27.	महावीर का जीवन संदेश (हिन्दी)	काका कालेलकर	20/–	निबन्ध
28.	मिले मन भीतर भगवान (हिन्दी)	विजय कलापूर्ण सूरि म० विनय सागर	30/–	भक्ति योग
29.	रसरत्नसमुच्चय (सं०/अं०)	डॉ० जे० सी० सिकदर	15/–	रसायन
30.	वाक्पतिराज की लोकानुभूति (प्रा०/हिन्दी)	डॉ० के० सी० सोगानी	12/–	सुभाषित
31.	समणसुत्तं चयनिका (प्रा०/हिन्दी)	डॉ० के० सी० सोगानी	12/–	जैनागम
32	सामायिक धर्म : एक पूर्ण योग (हि०)	विजय कलापूर्ण सूरि	10/–	धर्म
33.	स्मरण कला (हिन्दी)	मोहन मुनि 'शार्दूल'	15/–	मनो विज्ञान
34.	हाफ-ए-टेल (अंग्रेजी) (अर्धकथानक)	डॉ० मुकुन्द लाठ	150/–	आत्म-कथा
35.	हेम–प्राकृत–व्याकरण शिक्षक (प्रा०/हि०)	डॉ० उदय चन्द जैन	16/–	व्याकरण

प्राप्ति स्थान

प्राकृत भारती अकादमी

३८२६, यति श्यामलाल जी का उपाश्रय
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर–३०२००३ (राज०)

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

के प्रकाशन

क्रमांक	नाम	लेखक/सम्पादक	मूल्य	विषय
1	2	3	4	5
1.	अपभ्रंश और हिन्दी (हिन्दी)	डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन	30/–	भाषा विज्ञान
2.	आचारांग चयनिका (प्रा० एवं हि०) (द्वितीय संस्करण)	डॉ० कमलचंद सोगानी		जैनागम
		—सजिल्द	25/–	
		—अजिल्द	18/–	
3.	उपमिति-भव-प्रपंच कथा (हिन्दी)	म० विनयसागर	150/–	कथा साहित्य
4.	ऋषि-भाषित सूत्र (प्रा०/हि०/अं०)	म० विनयसागर कलानाथ शास्त्री डी० सी० शर्मा	60/–	जैनागम
5.	एस्ट्रोनोमी एण्ड कास्मोलोजी (अंग्रेजी)	प्रो० एल० सी० जैन	15/–	विज्ञान
6.	कल्प-सूत्र (सचित्र) (प्रा०/हि०/अं०) (द्वितीय संस्करण)	म० विनयसागर	200/–	जैनागम
7.	गणधरवाद (हिन्दी)	म० विनयसागर	50/–	जैन दर्शन
8.	चन्दनमूर्ति (हिन्दी)	गणेश ललवानी	20/–	उपन्यास
9.	जाति स्मरण ज्ञान (हिन्दी)	उपाध्याय महेन्द्र मुनि	3/–	मनोविज्ञान
10.	जैन इन्सक्रिप्सन्स ऑफ राजस्थान (अंग्रेजी)	रामवल्लभ सोमानी	70/–	पुरातत्व
11.	जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	14/–	जैन दर्शन
12.	जैन कहानियां (हिन्दी)	उपाध्याय महेन्द्र मुनि	4/–	कथा साहित्य
13.	जैन धर्म और दर्शन (हिन्दी)	गणेश ललवानी	9/–	जैन दर्शन
14.	जैन पोलिटिकल थॉट (अंग्रेजी)	डॉ० जी० सी० पाण्डे	40/–	राजनीति
15.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन—भाग 1 और 2 (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	140/–	दर्शन
16.	जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	16/–	समाज शास्त्र
17.	जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	20/–	साधना
18.	जैनागम दिग्दर्शन (हिन्दी)	डॉ० मुनि नगराज जी	20/–	जैनागम
19.	जैनिज्म (अंग्रेजी)	दलसुख मालवणिया	30/–	दर्शन
20.	दशवैकालिक चयनिका (प्रा०/हि०)	डॉ० कमलचन्द सोगानी	12/–	जैनागम
21.	नीतिवाक्यामृत (संस्कृत/हि०/अं०)	डॉ० एस० के० गुप्ता	100/–	नीति

9. That warrants attaining the ultimate truth by true perspective and conquering the four evils. One should discern the self from the non-self and free oneself from desire.

जेसु जायन्ते कोधाती, कम्मबन्धा महाभया ।
ते वत्थू सव्वभावेणं, सव्वहा परिवज्जए ॥१०॥

१०. जिन पदार्थों से कर्म-बन्धन के हेतु महाभयकारी क्रोधादि उत्पन्न होते हैं उन समस्त पदार्थों का समस्त प्रकार के भावों से सर्वथा परित्याग करे ।

10. The things that generate the terrible wrath and other Karmic bondages should be scrupulously eliminated by all means.

सत्थं सल्लं विसं जन्तं, मज्जं वालं दुभासणं ।
वज्जेन्ती तं णिमेत्तेणं, दोसेणं ण वि लुप्पति ॥११॥

११. शस्त्र, शल्य, विष, यन्त्र, मदिरा, सर्प और कटुवाणी का त्याग करने वाला तन्निमित्त से होने वाले दोषों से लिप्त नहीं होता है ।

11. One who abandons arms, sin, poison, instruments or gadgets, liquor, serpent and unpleasant address is spared of sins emanating therefrom.

आतं परं च जाणेज्जा, सव्वभावेण सव्वधा ।
आयट्ठं च परट्ठं च, पियं जाणे तहेव य ॥१२॥

१२. स्व और पर का सर्वभाव से सर्वथा परिज्ञान करे तथा इसी प्रकार स्व-अर्थ और परार्थ का सर्वभाव से सर्वथा हितकारी ज्ञान प्राप्त करे ।

12. One should distinguish the self from the non-self and arrive at the truly beneficial wisdom emanating therefrom by realising their true implication.

सए गेहे पलित्तम्मि, किं धावसि परातकं ?
सयं गेहं णिरित्ताणं, ततो गच्छे परातकं ॥१३॥

१३. स्वयं का घर (आत्मगृह) जल रहा है ऐसी दशा में दूसरे के घर की और क्यों दौड़ते हो ? स्वयं के घर की आग बुझाने के बाद दूसरे घर की ओर जाओ ।

17. If a valiant person keeps a vigil in another palace, what shall it yield him ? Keep your own vigil. The place is rampant with robbers.

जग्गाही, मा सुवाही, मा, ते धम्मचरणे पमत्तस्स ।
काहिन्ति बहुं चोरा, संजमजोगे हिडाकम्मं ।।१८।।

१८. जागते रहो। सोओ मत। धर्माचरण में प्रमाद मत करो। अन्यथा विषय कषायादि अनेक चोर तुम्हारे संयम और योग का हरण करने में चूक नहीं करेंगे।

18. Be alert. Be not indolent. Indolence in spiritual practice is fatal. Otherwise the robbers of desire and sin shall rob you of your Yoga and restraint, positively.

पंचिन्दियाइं सण्णा, दण्डा सल्लाइं गारवा तिण्णि ।
बावीसं च परीसह, चोरा चत्तारि य कसाया ।।१९।।

१९. पांच इन्द्रियां, संज्ञा (मन की मूल अभिलाषायें), त्रिदण्ड, शल्य, तीनों गौरव (गर्व, गारव), बावीस परीषह और चारों कषाय ये सभी चोर हैं।

19. The five senses, leading urges, sin, ego and evils are all robbers.

जागरह णरा निच्चं, मा भे धम्मचरणे पमत्ताणं ।
काहिन्ति बहू चोरा, दोग्गतिगमणे हिडाकम्मं ।।२०।।

२०. मानवो ! सर्वदा जागते रहो। धर्माचरण में प्रमाद मत करो। अन्यथा ये वासना-कषायादि विविध चोर तुम्हारे सत्कर्मों का हरण कर, दुर्गतिदायक कर्मों की ओर तुम्हें प्रेरित कर देंगे।

20. Be alert. Never muffle up religious practices. Else sin and desire shall deprive you of your benefic deeds and lead you to a tragic destiny.

अण्णायकम्मि अट्टालकम्मि जग्गन्त सोयणिज्जो सि ।
णाहिसि वणितो सन्तो, ओसहमुल्लं अविन्दन्तो ।।२१।।

२१. अज्ञात अट्टालिका (प्रासाद) में जागते हुए भी तेरी दशा शोचनीय है। जैसे (दीन-हीन व्यक्ति) व्रण (घाव) हो जाने पर भी औषध के मूल्य की

जानकारी न होने से औषधि प्राप्त नहीं कर पाता है। (इसी प्रकार मानव जागृति का महत्व समझे बिना परमार्थ तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता)।

21. *You guard this enigmatic palace and still your plight is miserable, as a wounded being has no option but to suffer his malady for the want of remedial knowledge. (Ignorance of spiritual consciousness deprives one of the supreme knowledge).*

जागरह णरा णिच्चं, जागरमाणस्स जागरति सुत्तं ।
जे सुवति ण से सुहिते, जागरमाणे सुही होति ॥२२॥

२२. हे मानवो ! प्रतिक्षण जाग्रत रहो। सर्वदा जाग्रत रहने वाला निद्राशील भी जाग्रत है। जो सोता रहता है वह सुखी नहीं होता और जो जागता है वह सुखी होता है।

22. *Be vigilant, O man. One inwardly alert is still conscious* while asleep. Indolent is never happy while the vigilant is ever happy.

जागरन्तं मुणिं वीरं, दोसा वज्जेन्ति दूरओ ।
जलन्तं जातवेयं वा, चक्खुसा दाहभीरुणो ॥२३॥

२३. जागरणशील वीर श्रमण से दोष [स्वतः ही] दूर चले/भाग जाते हैं, जैसे दाहभीरु (आग से डरने वाला) जलती हुई आग को आँखों से देखते ही दूर भाग जाता है।

23. A vigilant and brave being repels all evils as fire repels a pyrophobic.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी ।

पणतीसं अद्दालइज्जज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् अद्दालक/उद्दालक ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Uddalak, the seer, do pronounce.

अद्दालक नामक पैंतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ।३५।

३६. छत्तीसं तारायणिज्जज्झयणं

उप्पतता उप्पतता उप्पयन्तं पि तेण वोच्छामि । किं सन्तं वोच्छामि ? ण सन्तं वोच्छामि 'कुक्कुसया !' वित्तेण ता रा य णे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

उग्र क्रोध से उत्तप्त और उबलते हुए व्यक्ति से मैं मधुर वाणी से बोलूंगा । क्या तुम्हारा (क्रोध) शमन हो गया ? ऐसा मैं कहूंगा । उस अशान्त पुरुष से मैं कहूंगा कि, यह क्रोध तुष के समान निःसार है, अर्थात् यह क्रोधाचरण तुम्हारे योग्य नहीं है ।

ऐसा आत्मवैभव सम्पन्न अर्हत् **तारायण ऋषि** बोले—

I will respond composedly and tranquilly to an irate. I shall question him, "Has your wrath been pacified ?" I shall try to convince him that his anger is insubstantial and unworthy of him, said Tarayan, the accomplished seer :

पत्तस्स मम य अन्नेसिं, मुक्को कोवो दुहावहो ।
तम्हा खलु उप्पतन्तं सहसा कोवं निगिण्हितव्वं ।

ऐसा, कोप-पात्र के प्रति किया गया, कोप (क्रोध) मेरे और उसके लिये दुःखप्रद होता है । अर्थात् यह क्रोध दोनों के लिये दुःखदायक है । अतः क्रोध के अकस्मात् उत्पन्न होते ही उसका (पूर्णतया) दमन करना चाहिए ।

Wrath is as injurious to the subject as to the object. That's why anger should be trampled the moment it raises its head.

कोवो अग्गी तमो मच्चू, विसं वाधी अरी रयो ।
जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो ।।१।।

१. कोप अग्नि है, अन्धकार है, मृत्यु है, विष है, व्याधि है, शत्रु है, रज है, जरा है, हानि है, भय है, शोक है, मोह है, शल्य है और पराजय है ।

1. Wrath is fire. It is umbra. It is death, hemlock, severe malady. It is foe. It is dirt and death, bankruptcy, fear, confusion, sin and defeat.

वण्हिणो णो बलं छित्तं, कोहग्गिस्स परं बलं ।
अप्पा गती तु वण्हिस्स, कोवग्गिस्सऽमिता गती ।।२।।

२. अग्नि का बल कम मत समझो अर्थात् अग्नि बलशाली है, परन्तु क्रोधाग्नि उससे भी अधिक महाबलशाली है। अग्नि की गति अल्प है अर्थात् सीमित है और कोपाग्नि की गति अमर्यादित है।

2. Fire is no mean force. But the fire of wrath is far fiercer. Fire has a limited range but wrath is a tremendously more potent menace.

सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहि।
सव्वोदहिजलेणावि, कोवग्गी दुण्णिवारओ ।।३।।

३. बाहर की जलती हुई आग को पानी से बुझाना शक्य है, किन्तु कोपाग्नि को समस्त समुद्रों के जल से भी बुझाना दुर्निवार–नितान्त असम्भव है।

3. Physical fire can be put out with water but wrath cares tuppence for all the oceans, put together.

एकं भवं दहे वण्ही, दड्ढस्सऽवि सुहं भवे।
इमं परं च कोवग्गी, णिस्संकं दहते भवं ।।४।।

४. अग्नि केवल एक भव में (शरीर को) जलाती है और जला हुआ व्यक्ति स्वस्थ भी हो जाता है, किन्तु क्रोधाग्नि तो इस भव और पर भव में निःशंक होकर जलाती रहती है।

4. Fire can burn one's body only and one may still survive. Not so the wrath. It destroys this incarnation and the one that is to be.

अग्गिणा तु इहं दड्ढा, सन्तिमिच्छन्ति माणवा।
कोहग्गिणा तु दड्ढाणं, दुक्खं सन्ति पुणो वि हि ।।५।।

५. आग से जलने वाला मानव यहाँ तो (उपचार से) शान्ति की कामना करता है, किन्तु क्रोधाग्नि से जलने वाला मानव पुनः-पुनः दुःख को प्राप्त करता है।

5. A burnt being yearns for cure, while one burning with anger suffers recurrent misery sans end.

सक्का तमो णिवारेतुं, मणिणा जोतिणा वि वा।
कोवतमो तु दुज्जेयो, संसारे सव्वदेहिणं ।।६।।

६. मणि और ज्योति (प्रकाश) के द्वारा अन्धकार का निवारण किया जा सकता है, किन्तु क्रोध रूपी अन्धकार संसार के समस्त प्राणियों के लिये दुर्जेय है।

6. A gem and a lamp can brighten the encircling gloom but wrath in its gloom is insurmountable to all beings of the world.

सत्तं बुद्धी मती मेधा, गम्भीरं सरलत्तणं ।
कोहग्गहऽभिभूयस्स, सव्वं भवति णिप्पभं ।।७।।

७. क्रोध रूपी ग्रह से अभिभूत मानव के सत्व, बुद्धि, मति, मेधा, गाम्भीर्य, सरलता (आदि) समस्त (गुण) निष्प्रभ हो जाते हैं।

7. Essential virtue, wisdom, foresight, sobriety, simplicity and all the excellences of one are depotentised, when one is eclipsed by wrath.

गंभीरमेरुसारे वि, पुव्वं होऊण संजमे ।
कोवुग्गमरयोधूते, असारत्तमतिच्छति ।।८।।

८. पहले संयम में सुमेरु के समान गम्भीर और स्थिर रहा हो, किन्तु क्रोधोत्पत्ति की धूलिमात्र से वह उस संयम को पूर्णतया निःसार कर देता है।

8. Even if he were as profound in restraint as golden mountain Sumeru, prior to the wrathful spell, all this is nullified once the anger is triggered.

महाविसे वऽही दित्ते, चरेऽदत्तंकुरोदये ।
चिट्ठे चिट्ठे स रूसन्ते, णिव्विसत्तमुपागते ।।९।।

९. जिस प्रकार महाविषधर सांप दर्पान्ध होकर क्रूर–वनस्पति विशेष को डसता है जिससे भविष्य में वह अंकुरित नहीं हो पाती। किन्तु, (उसको डसने पर उसे कुछ भी स्वाद प्राप्त नहीं होता उससे) वह रुष्ट होकर रुक-रुक कर उसको डसते हुए अपने विष को समाप्त कर देता है।

9. It is like a ferocious serpent that stings repeatedly, for no benefit to himself, till he ejaculates whole of his venom and the plant, thus stung, withers to death.

एवं तवोबलत्थे वि, णिच्चं कोहपरायणे ।
अचिरेणऽवि कालेणं, तवोरित्तत्तमिच्छति ।।१०।।

१०. उसी प्रकार तपोबलशाली भी सर्वदा क्रोधपरायण होकर थोड़े से समय में ही अपने तपोबल को भी पूर्णतः समाप्त कर देता है।

10. If a profound ascetic would lapse into wrath, he is likely to be shorn of the virtue of his penances in a short while.

गम्भीरोवि तवोरासी, जीवाणं दुक्खसंचितो ।
अक्खेविणं दवग्गी वा, कोवग्गी दहते खणा ।।११।।

११. विविध दुःखों/कष्टों से उपार्जित गम्भीर तपोराशि को क्रोधाग्नि क्षणमात्र में भस्म कर डालती है। जैसे प्रज्वलित आग उसमें डाले हुए पदार्थों को तत्काल भस्म कर देती है।

11. Great virtue acquired by prolonged penances is ruined by a momentary angry outburst, as everything is burnt in a jiffy by flame.

कोहेण अप्पं डहती परं च
अत्थं च धम्मं च तहेव कामं ।
तिव्वं च वेरं पि करेन्ति कोधा
अधरं गति वा वि उविन्ति कोहा ।।१२।।

१२. क्रोध स्वयं को भी जलाता है और दूसरों को भी जलाता है। क्रोध अर्थ, धर्म और काम को भी जला देता है। तीव्र क्रोध वैर-विरोध भी करा देता है तथा क्रोध नीच गति को भी प्राप्त कराता है।

12. Anger reduces the subject as well as object both to ashes. It razes the three achievements of Dharma, Artha and Kama (spiritualism, wealth and fulfilment of desires).

Angry fulmination breeds severe enmity and brings about the meanest doom.

कोहाविद्धा ण याणन्ति, मातरं पितरं गुरुं ।
अधिक्खिवन्ति साधू य, रायाणो देवयाणि य ।।१३।।

१३. क्रोधाविष्ट माता, पिता और गुरु को भी नहीं जानता-समझता और साधु, राजा तथा देवताओं का भी अपमान कर देता है।

13. A man in anger little cares for parents and mentors and may slight in such a fit the saint, the prince and the gods, indiscriminately.

कोवमूलं णियच्छन्ति, धणहाणिं बन्धणाणि य ।
पियविप्पओगे य बहू, जम्माइं मरणाणि य ।।१४।।

१४. क्रोध धनहानि और बन्धनों का मूल है । प्रियजनों का वियोग एवं जन्म-मरणों का मूल भी यही है ।

14. Anger is the root cause of adversity and bondage. It causes bereavement and reincarnations also.

जेणाभिभूतो जहती तु धम्मं
विद्धंसती जेण कतं च पुण्णं ।
स तिव्वजोती परमप्पमादो,
कोधो, महाराज, णिरुज्झियव्वो ।।१५।।

१५. जिससे (क्रोध से) अभिभूत होकर मानव धर्म को छोड़ देता है और स्वकृत पुण्यों का विध्वंस कर देता है ऐसा वह तीव्र ज्वाला युक्त सर्वोच्च प्रमाद रूप क्रोध भूपति निग्रह योग्य है । अथवा महाराज ! यह क्रोध निग्रह करने योग्य है ।

15. Listen to me O Prince, such a foe as anger deprives man of his very sense of humanity and renders him empty of all virtue. Hence it must be smothered then and there.

हट्ठं करेतीह णिरुज्झमाणो
भासं करेतीह विमुच्चमाणो ।
हट्ठं च भासं च समिक्ख पण्णे
कोवं णिरुम्भेज्ज सदा जितप्पा ।।१६।।

१६. जो निग्रह (निरोध) किये जाने पर हृष्ट करता है और छोड़े जाने पर भस्मीभूत करता है । अतः प्रज्ञावान जितात्मा क्रोधाग्नि की हृष्टता और भस्मशीलता की समीक्षा कर, क्रोध का सर्वदा निग्रह करे ।

16. It lends you strength if you can contain it and destroys you once you leave it unbridled. Pray, exercise your own discretion whether to contain it or leave it unbridled.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमी ।

छत्तीसं तारायणिज्जमज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

ऐसा मैं (आध्यात्मिक लक्ष्मी सम्पन्न अर्हत् **तारायण ऋषि**) कहता हूँ ।

Thus, I spiritual pastmaster, Tarayan, the seer, do pronounce.

तारायण नामक छत्तीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३६।



३७. सत्ततीसं सिरिगिरिज्जज्झयणं

[१.] सव्वमिणं पुरा उदगमासि त्ति सि रि गि रि णा माहणपरिव्वायगेण अरहता इसिणा बुइयं।

एत्थ अण्डे संतत्ते, एत्थ लोए संभूते, एत्थं सासासे, इयं णे वरुण-विहाणे।

[२.] उभयो-कालं उभयो-संझं खीरं णवणीयं मधु समिधासमाहारं खारं संखं च पिण्डेत्ता अग्गिहोत्तकुण्डं पडिजागरेमाणे विहरिस्सामीति तम्हा एयं सव्वंति बेमि।

[३.] णवि माया, ण कदाति णासि ण कदाति ण भवति ण कदाति ण भविस्सति य।

यहाँ पहले सब जलमय (जल तत्त्व) था।

ऐसा माहण परिव्राजक अर्हत् **श्रीगिरि ऋषि** बोले—

१. वहाँ अण्डा आया, संतप्त हुआ अर्थात् फूटा। उससे वहां लोक उत्पन्न हुआ। वह श्वसित हुई अर्थात् सृष्टि उत्पन्न हुई। यह वरुण देव का विधान नहीं है। अर्थात् किसी का कथन है कि यह सृष्टि वरुण (जल का देवता) द्वारा निर्मित नहीं है।

२. उभय काल और उभय सन्ध्या को क्षीर (दूध), नवनीत (मक्खन), मधु (शहद) और समिधा को एकत्रित कर, क्षार और शंख को मिलाकर, अग्निहत्री कुण्ड को प्रतिक्षण जाग्रत करता हुआ मैं रहूंगा। इसीलिये यह सब मैं कहता हूँ।

३. यह विश्व माया नहीं है। कभी नहीं था ऐसा नहीं है। कभी नहीं है, ऐसा भी नहीं है और कभी नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है। अर्थात् यह विश्व शाश्वत है, अनादि अनन्त है।

First it was all deluge, said Brahmin nomad Shrigiri, the seer :

1. The cosmic egg emerged which after its incubation burst forth. Its respiration was the emergence of cosmos. It is so believed that the cosmos was not created by Lord Varun (Mercury).

2. At dawn and at dusk, I shall offer milk, butter, honey and herbs with alkalies and conch shell to the altar fire. That I hereby avow,

3. The world is not an illusion. There was no point of time when the world was non-existent. Nor is it non-existent now, nor shall be so in future. The world is perennial-verily beginningless and endless.

पडुप्पण्णमिणं सोच्चा

सूरसहगतो गच्छे : जत्थेव सूरिये ।

अत्थमेज्जा खेत्तंसि वा णिण्णंसि वा तत्थेव णं पादुप्पभायाए रयणीये जाव तेजसा जलंन्ते एवं खलु मे कप्पति पातीणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा पुरतो जुगमेत्तं पेहमाणे अहारीयमेव रीतित्तए ।

प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमानिक इस सत्य तथ्य को सुनकर (मुमुक्षु) सूर्य के साथ गमन करे । जहां सूर्य अस्त हो जाय उस समय खेत हो या ऊंची नीची भूमि हो (श्रमण) वहीं रुक जावे । रात्रि के व्यतीत हो जाने पर, तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण किसी भी दिशा में युगमात्र (चार हाथ परिमाण की) भूमि को देखते हुए (श्रमण को) यथारीति से चलना—विचरण करना कल्पता है ।

Let the aspirant realise this metaphysical truth and let him follow the solar motion. The moment the sun sets, he should halt there, be it a field or a plateau. As soon as the sun rises after the nocturnal spell, he should rebegin his ambulation in any of the four directions, east, west, north or south, barely seeing a yard of space ahead.

एवं सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

सिरिगिरिज्जणामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूणत्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार मैं नहीं आता है ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment Such a being is freed of the chain of reincarnations.

ऐसा मैं (माहण परिव्राजक अर्हत् **श्रीगिरि ऋषि**) कहता हूँ ।

Thus I, Brahmin, nomad Shrigiri, the seer, do pronounce.

श्रीगिरि नामक सैंतीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।३७।



३८. अट्ठतीसं साइपुत्तिज्जज्झयणं

जं सुहेण सुहं लद्धं, अच्चन्तसुखमेव तं ।
जं सुखेण दुहं लद्धं, मा मे तेण समागमो ।।१।।

सा ति पु त्ते ण बु द्धे ण अरहता बुइतं ।

१. जिस सुख से सुख प्राप्त होता है वही आत्यन्तिक सुख है, किन्तु जिस सुख से दुःख की प्राप्ति हो ऐसे सुख से मेरा समागम न हो ।

ऐसा अर्हत् **सातिपुत्र बुद्ध** ऋषि बोले—

1. The true happiness is that which yields unmixed bliss. May I never come accross a happiness that results in anguish, said Satiputra Buddha, the seer.

मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं ।
मणुण्णंसि अगारंसि, झाति भिक्खू समाहिए ।।२।।

२. मनोज्ञ भोजन कर, मनोज्ञ शय्यासन का उपभोग कर और सुन्दर आवास (घर) में रहकर भिक्षु समाधि (सुख) पूर्वक ध्यान करता है ।

2. A monk meditates blissfully after consuming delectable dishes and sleeping over luxurious beds in comfortable mansions.

अमणुण्णं भोयणं भोच्चा, अमणुण्णं सयणासणं ।
अमणुण्णंसि गेहंसि, दुक्खं भिक्खू झियायती ।।३।।

३. अरुचिकर भोजन कर, अमनोज्ञ शय्यासन का उपभोग कर और असुन्दर आवास स्थान में रह कर भिक्षु दुःखपूर्वक ध्यान करता है ।

3. Another monk meditates in pain after consuming nauseating meals and sleeping over uncomfortable beds in wretched houses.

एवं अणेगवण्णागं, तं परिच्चज्ज पण्डिते ।
णण्णत्थ लुब्भई पण्णे, एयं बुद्धाण सासणं ।।४।।

४. इस प्रकार के अनेक वर्णक (प्रकरण) प्राप्त होते हैं अथवा अनेक गुणात्मक पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनका प्रण्डित त्याग करे। प्राज्ञ अन्यत्र लुब्ध न हो। यही बुद्ध (ज्ञानी) की शिक्षा है।

4. We come across such diametrically opposite narrations. The wise should avoid such qualitative extremes. The discreet should never be tempted by these. This is the prime teaching of Buddha.

णाणावण्णेसु सद्देसु, सोयपत्तेसु बुद्धिमं ।
गेहिं वायपदोसं वा, सम्मं वज्जेज्ज पण्डिए ॥५॥

एवं रूवेसु गन्धेसु रसेसु फासेसु अप्पप्पणाभिलावेणं

५. कर्णेन्द्रिय प्राप्त नानाविध वर्णों (शब्दों) में आसक्ति-भाव और वाणीदोष को प्रज्ञावान सम्यक् प्रकार से छोड़े। अर्थात् अनासक्त भाव से रहे।

इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जन्य पदार्थों में बुद्धिमान आसक्ति-भाव न रखे।

5. The wise should carefully shun temptations arising out of provocative utterances and verbal monstrosities. Similarly the stimuli that ravish visual, lingual, olfactory and tactile senses be shunned.

पंच जागरओ सुत्ता, अप्पदुक्खस्स कारणा ।
तस्सेव तु विणासाय, पण्णे वट्टिज्ज संतयं ॥६॥

६. अप्रमत्त भिक्षु की पांचों इन्द्रियाँ सुप्त होते हुए भी अल्प दुःख का कारण बनती हैं अतः प्रज्ञावान उनके विनाश के लिये सतत प्रयत्न करे।

6. The five senses of a chaste monk are dormant and still may cause some degree of discomfort to him. Hence a total vigilance is warranted on the part of such a monk.

वाहिक्खयाय दुक्खं वा, सुहं वा णाणदेसियं ।
मोहक्खयाय एमेव, दुहं वा जइ वा सुहं ॥७॥

७. व्याधि का नाश करने के लिए जो भी दुःख या सुखरूप अर्थात् कड़वी या मीठी औषधियां होती हैं वे (वैद्य के) ज्ञान से उपदिष्ट हैं। इसी प्रकार मोह का क्षय करने के लिए जो कठोर (दुःखदायी) या सरल (सुखदायी) साधना पथ है वह भी सद्गुरु के द्वारा उपदिष्ट है।

7. Accumulated knowledge has prescribed the sweet or bitter herbs that can heal diseased body. Similarly, the great Master preaches the sweet or painful practices that remedy attachment.

ण दुक्खं ण सुहं वा वि, जहा-हेतु तिगिच्छति ।
तिगिच्छिए सुजुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥८॥

८. जिस हेतु (व्याधि) को लेकर चिकित्सा की जाती है वहाँ न दुःख है और न सुख है, किन्तु चिकित्सा में संलग्न रोगी को दुःख अथवा सुख हो सकता है ।

8. No pleasure and pain inhere in the malady itself. However the patient undergoing treatment may be experiencing pleasure or pain.

मोहक्खए उ जुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ।
मोहक्खए जहा-हेऊ, न दुक्खं न वि वा सुहं ॥९॥

९. मोह का क्षय करने में प्रवृत्त व्यक्ति को दुःख और सुख हो सकते हैं, किन्तु जिस हेतु (अन्तरंग व्याधि का नाश कर, मुक्ति प्राप्त करने के लिए) मोह का क्षय करता है वहाँ न (भौतिक) दुःख है और न (भौतिक) सुख है, अर्थात् मोह का क्षय कर आनन्दमयी आत्मिक स्थिति को प्राप्त करता है ।

9. The individual undergoing the treatment to be cured of attachment may experience pain or pleasure. However, the purpose of curing the disease of attachment is neutral so far as pleasure and pain sensations are concerned.

तुच्छे जणम्मि संवेगो, निव्वेदो उत्तमे जणे ।
अत्थितादीणभावाणं, विसेसो उवदेसणं ॥१०॥

१०. सामान्यजनों में संवेग (नरकादिजन्य दुःखों को देखकर मन में भय) होता है, उत्तम जनों में निर्वेद (विषयों के प्रति अनासक्ति भाव) होता है और अर्थिजनों में दीनभाव होता है, अथवा संवेग और निर्वेद (आत्मविद्या रहित होने से) ये दोनों दीनभाव है । अतः इनको विशेष रूप से (आत्मविद्या का) उपदेश दिया गया है ।

10. The ordinary folk are prone to emotive sway. Superior beings are indifferent to such urges. Selfish beings are meanly prone to emotive sway. Hence the latter have specially been tackled by preachers.

सामण्णे गीतणीमाणा, विसेसे मम्मवेधिणी ।

सव्वण्णुभासिया वाणी, णाणावत्थोदयन्तरे ।।११।।

११. सर्वज्ञभाषित वाणी नानाविध अवस्था और उदय के भेद से सामान्य-जनों में संगीतमय होने से हृदयग्राही होती है और उत्तमजनों में मर्मवेधिनी होती है। अथवा सर्वज्ञ की देशना नाना अवस्था और उदय के भेद से सामान्य और विशेष दो प्रकार की होती है। सामान्य संगीतमय होने से वस्तुतत्त्व का स्पर्शमात्र करती है और विशेष मर्मवेधक होने से वस्तुतत्त्व का पूर्णरूपेण दर्शन कराती है।

11. The preaching of the enlighted is pleasant and melodiously welcome to the common folk but it truly comes home to the superior beings. Thus the effect of such a preaching may prove barely superficial or truly profound depending on the different qualities of the listener.

सव्वसत्तदयो वेसो, णारम्भो ण परिग्गहो ।

सत्तं तवं दयं चेव, भासन्ति जिणसत्तमा ।।१२।।

१२. जिन श्रेष्ठ (जिनेश्वर) समस्त प्राणियों का उदय, वेष (मुनिवेष), अनारम्भ, अपरिग्रह, सत्य या सद्भाव, तप और दया का उपदेश देते हैं।

12. The great Jain saints in the garb of monks preach non-entrepreneurship, non-acquisition, truth, sincerity, austerity and compassion to all.

दन्तिन्दियस्स वीरस्स, किं रण्णेणऽस्समेण वा ? ।

जत्थ जत्थेव मोदेज्जा, तं रण्णं सो य अस्समो ।।१३।।

१३. दमितेन्द्रिय (इन्द्रियों का दमन करने वाले) वीर पुरुष के लिए अरण्य (जंगल) और आश्रम की क्या आवश्यकता है ? जहां-जहां 'मोदेज्जा' आंतरिक प्रसन्नता है अथवा मोह का अन्त/क्षय है वही उसके लिए जंगल है और वही उसके लिए आश्रम है।

13. An austere being is truly brave. He cares naught for wilderness and hermitage. Wherever he experiences bliss and non-attachment is the wilderness and the hermitage to him.

किमु दन्तस्स रण्णेणं, दन्तस्स वा किमस्समे ? ।

णातिक्कन्तस्स भेसज्जं, ण वा सत्थस्सऽभेज्जता ।।१४।।

१४. जितेन्द्रिय के लिए जंगल क्या ? और दमनशील के लिए आश्रम क्या ? अर्थात् उसके लिए दोनों समान हैं। रोग मुक्त के लिए अथवा मर्यादाओं से पार के लिए कोई औषध नहीं है और शस्त्र के लिए अभेद्यता नहीं है।

14. What is a wilderness to an austere ? What is a hermitage to an ascetic ? What remedy is needed for the health ? What shield is needed to protect oneself from weapons ?

सुभावभावितप्पाणो, सुण्णं रण्णं वणंपि वा ।
सव्वमेतं हि झाणाय, सल्लचित्ते व सल्लिणो ।।१५।।

१५. स्वभाव से भावित आत्मा के लिए शून्य वन और सघन वस्ती (ग्राम) दोनों समान हैं। उसके लिए ये सभी ध्यान की कारणभूत होती हैं और सशल्य-हृदयधारी के लिए ये सभी शल्यकारी होती हैं अर्थात् आर्त्तध्यान का निमित्त बनती हैं।

15. To a genuinely-endowed ascetic the dense towns are akin to wilderness. To such a one all circumstances conduce to self-absorption while to mundane beings they conduce to intenser materialism and distraction.

दुहरूवा दुरन्तस्स, णाणावत्था वसुंधरा ।
कम्मादाणाय सव्वंपि, कामचित्ते व कामिणो ।।१६।।

१६. नाना रूप में स्थित वसुन्धरा दुष्टाशय वाले के लिए दुःख रूप और कर्मादान का साधन है। जैसे कामी व्यक्ति के लिए समस्त पदार्थ कामोत्पादक होते हैं।

16. The multifaceted mother-earth has abundance of misery and Karmic involvement for the selfish materialist as any and every article can provoke libido in a lascivious man's heart.

सम्मत्तं च दयं चेव, णिण्णिदाणो य जो दमो ।
तवो जोगो य सव्वो वि, सव्वकम्मक्खयंकरो ।।१७।।

१७. सम्यक्त्व, दया, निदान रहित संयम, तप और (शुभ) योग ये समस्त गुण उसके समस्त प्रकार के कर्मों का क्षय करते हैं।

17. Equanimity, compassion, absolute austerity, penances and Yoga are the qualities that eradicate Karmas.

सत्थकं वा वि आरम्भं, जाणेज्जा य णिरत्थकं ।
पडिहत्थिं स जोएन्तो, तडं घातेति वारणो ।।१८।।

१८. आरम्भ सार्थक भी होता है और निरर्थक भी होता है, ऐसा समझो । प्रतिद्वन्द्वी हस्ति को देखकर हाथी तट को भी तोड़ देता है ।

18. An initiative may be meaningful or infructuous. On detecting another elephant as adversary, an elephant can demolish the river bank to no purpose in a fit of rage.

जस्स कज्जस्स जो जोगो, साहेतुं जेण पच्चलो ।
कज्जं वज्जेति तं सव्वं, कामी वा णग्गमुण्डणं ।।१९।।

१९. जो जिस कार्य के योग्य है वह उसी कार्य को करे । जिस कार्य में जिसका विश्वास नहीं है वह उस कार्य को छोड़ देता है । जैसे कामी पुरुष नग्नत्व और मुण्डनत्व को छोड़ देता है अर्थात् संयम मार्ग का त्याग कर देता है ।

19. One should choose a vocation, that one has a knack for. A libidinous individual has little inclination to monkhood as a man averse to a vocation never seeks it.

जाणेज्जा सरणं धीरो, ण कोडिं एति दुग्गतो ।
ण सीहं दप्पियं छेयं, णेभं भोज्जाहि जम्बुओ ।।२०।।

२०. धैर्यशील महापुरुष की शरण लेनी चाहिए, ऐसा समझो । धीर के जैसी शरणागत की रक्षा दुर्ग से युक्त पर्वत शिखर भी नहीं कर सकता । दृप्त सिंह और कुशल—निपुण हस्ति शृगाल का भोज्य नहीं हो सकता ।

20. Pray, seek refuge in a great soul. A mountainous fortress is a poor protection compared to a valorous protector. A brave lion and an astute elephant are never a jackal's prey.

वेसपच्चाणसंबद्धे, संबद्धं वारए सदा ।
णाणा–अरति–पायोग्गं, णालं धारेतु बुद्धिमं ।।२१।।

२१. वेष-प्रच्छादन—रजोहरणादि मुनि-वेष से युक्त और परमार्थतत्त्व से सम्बद्ध श्रमण मुनिभाव के विरुद्ध आस्रव एवं मिथ्यात्वजन्य क्रियाओं से असम्बद्ध रहे अथवा तत्त्वविरुद्धगामी पुरुषों से सम्पर्क न रखे । बुद्धिमान श्रमण के लिए अरति-प्रयोजक वस्त्रादि का धारण करना अथवा अरति-प्रयोजक—मानसिक

शान्ति भंग करने वालों का सम्पर्क न रखना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसके लिए संयम की साधना ही अपेक्षित है।

21. One initiated in a monk's garb should veer of any prescribed act. He should beware of characters who are not like-minded. To a monk donning non-provocative austere garb and similar mental frame is not enough. He should cultivate restraint constantly.

बम्भचारी जति कुद्धो, वज्जेज्ज मोहदीवणं।

ण मूढस्स तु वाहस्स, मिगे अप्पेति सायकं ॥२२॥

२२. ब्रह्मचारी यदि किसी कारण से क्रोधित हो भी जाय तब भी वह मोह को उद्दीप्त करने वाले पदार्थों से दूर ही रहे अर्थात् मोह को उद्दीप्त न होने दे। जैसे मूर्ख शिकारी के बाण मृग का वेध नहीं कर सकते। (वैसे ही मूढमुनि ज्ञानवान नहीं हो सकता।)

22. If a continent being be once irascible, he should keep off existing objects. A clumsy hunter's arrows never hit a deer. (Similarly, a stupid monk never acquires wisdom).

पच्चाणं चेव रूवं व, णिच्छयम्मि विभावए।

किमत्थं गायते वाहो, तुण्हिक्का वावि पक्खिता ॥२३॥

२३. मुनि वेष और रूप का निश्चय से विचार करे। शिकारी के गायन को सुनकर पक्षीगण किसलिए चुप हो गये हैं ? अर्थात् पक्षीगण वेष और लिंग से उसकी हिंसात्मक भावना को समझ कर चुप हो जाते हैं।

23. A monk should contemplate the garb prescribed for him. What silences the birds, once a hunter begins to sing a song to attract him ? Obviously, they can unravel his motives by his looks and deeds.

कज्जणिव्वत्तिपाओग्गं, आदेयं कज्जकारणं।

मोक्खनिव्वत्तिपाओग्गं, विण्णेयं तं विसेसओ ॥२४॥

२४. कार्य की निष्पत्ति के लिए उचित कार्य-कारण अपेक्षित हैं। मोक्ष-निर्वृत्ति की रचना (प्राप्ति) के लिए वे ही उचित कार्य-कारण विशेष रूप से अपेक्षित हैं।

24. Proper cause alone results in corresponding effect. Deliverance warrants suitable series of action culminating into emancipation.

परिवारे चेव वेसे य, भावितं तु विभावए ।

परिवारेऽवि गम्भीरे, ण राया णीलजम्बूओ ।।२५।।

२५. स्वभाव से भावित आत्मा ही परिवार और मुनिवेष में रहते हुए विशुद्ध दशा प्राप्त कर सकती है । अर्थात् आत्मवंचना न करे । विशाल परिवार से परिवृत होने पर भी वंचक होने के कारण नीलजाम्बूक—रंगा सियार राजा नहीं हो सका ।

25. A genuinely inspired soul alone can sublimate himself, whether he is surrounded by his kins or is practising as a monk. Insincerita would evidently be fatal, in either case. In the fable of jackal Nilajambuk's belonging to a large family could not promote him to the chiefdom owing to his contradictory character.

अत्थादाइं जणं जाणे, णाणाचित्ताणुभासकं ।

अत्थादाईण वीसंगो, पासन्तस्सऽत्थसंतती ।।२६।।

२६. अर्थादायी—अर्थग्राही अर्थात् धनलोलुप व्यक्ति को विविध प्रकार से मन को आकर्षित करने वाली मधुर भाषा बोलने वाला (मीठा बोला) समझो । अथवा अधिक मधुरभाषी को अर्थलोलुप व्यक्ति समझना चाहिये । उसकी अर्थ-ग्रहण करने की सन्तति/परम्परा को देखकर उस धनलोलुप व्यक्ति से दूर ही रहना चाहिये ।

26. The avaricious resorts to wily tactics in his persuasive specious speech. Honey-tongued individuals are patently greedy. We should be wary of such glib beings as they are thorough-going materialists and self-seekers.

डम्भकप्पं कत्तिसमं, णिच्छयम्मि विभावए ।

णिखिलामोस कारित्तु, उवचारम्मि परिच्छती ।।२७।।

२७. दम्भपूर्ण आचरण को निश्चयपूर्वक सिंह-चर्म से आच्छादित शृगाल के समान समझना चाहिए । पूर्णरूप से असत्याचरण करने वाले की उपचार से परीक्षा होती है ।

27. A crafty conduct embodies a *jackal in a tiger-hide*. *Crooks* are detected by experience only.

सब्भावे दुब्बलं जाणे, णाणावण्णाणुभासकं ।
पुप्फादाणे सुणंदा वा, पवकारघरं गता ।।२८।।

२८. मानव स्वभाव से दुर्बल है । वह अनेक वर्णों–रूपों आदि का ग्राभास देता है । पुष्पग्रहण करने के लिए सुनन्दा प्लवकार (नाव बनाने वाले) के घर गई ।

28. Man is fallible by nature. He can adopt a thousand guises. The legend of Sunanda who approached the boatmaker for flowers illustrates this axiom.

दव्वे खेत्ते य काले य, सव्वभावे य सव्वधा ।
सव्वेसिं लिंगजीवाणं, भावाणं तु विहावए ।।२९।।

२९. द्रव्य, क्षेत्र, काल और सभी प्रकार के भावों में तथा समस्त लिंगों–वेषों में रहे समस्त जीवों की भावना को सर्वदा समझना चाहिए ।

29. We should be able to realise the truth behind different garbs in substance, time, place and feeling.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

साइपुत्तिज्जं णामज्झयणं ।।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण-त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं ग्राता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **सातिपुत्र बुद्ध ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I (Satiputra Buddha, the seer) do pronounce.

सातिपुत्र बुद्ध नामक ग्रड़तीसवां ग्रध्ययन पूर्ण हुग्रा ।३८।

३९. एगूणचत्तालीसं संजइज्जज्झयणं

जे इमं पावकं कम्मं, नेव कुज्जा ण कारवे ।
देवावि तं णमंसन्ति, धितिमं दित्ततेजसं ।।१।।

१. जो मानव इन पाप कर्मों को न स्वयं करता है और न दूसरों से करवाता है उस धृतिमान और दीप्ततेजस्वी को देवता भी नमस्कार करते हैं ।

1. The conduct of a man who neither indulges in sin nor abets others to do it merits highest respect from angels.

जे णरे कुव्वती पावं, अन्धकारं महं करे ।
अणवज्जं पण्डिते किच्चा, आदिच्चेव पभासती ।।२।।

२. जो मानव पाप कर्म करता है वह अन्धकार की वांछा करता है, अथवा अन्धकार का मंथन करता है । जो पण्डित पुरुष पापरहित कर्त्तव्य करता है वह सूर्य की तरह प्रकाशित होता है ।

2. A sinful creature cherishes and cultivates dark forces of evil. The wise who carries through sin-free conduct is akin to the sun in splendour.

सिया पावं सइं कुज्जा, तं ण कुज्जा पुणो पुणो ।
णाणि कम्मं च णं कुज्जा, साधु कम्मं वियाणिया ।।३।।

३. पाप का प्रसंग आने पर कदाचित् एक बार पापकृत्य का आचरण हो भी जाए तब भी बारम्बार उस पापकृत्य को न करे । ज्ञानवान शुभ कृत्यों को पहचान कर उन्हीं का आचरण करे ।

3. If, perchance, one is led into the alley of sinful deed, one *should subsequently, steer clear of such a monstrous conduct. The wise* should perform exclusively virtuous acts.

सिया [.........] कुज्जा तं तु पुणो पुणो ।
से निकायं च णं कुज्जा साहु भोज्जो वि जायति ।।४।।

रहस्से खलु भो पावं कम्मं समज्जिणित्ता दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ कम्मओ अज्झवसायओ सम्मं अपलिउंचमाणे जहत्थं आलोएज्जा । सं ज ए णं अरहता इसिणा बुइतं ।

४. यदि कदाचित् पापकृत्य हो भी जाय तब भी पुनः-पुनः उसका आचरण कर उसका समूह न बनावे जिससे कि उसे पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करना पड़े।

प्रच्छन्न रूप से पाप किया हो तब भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से, कर्म और अध्यवसाय पूर्वक सम्यक् प्रकार से निष्कपट—निश्छल हृदय होकर यथार्थरूप से उसकी आलोचना करे।

ऐसा **अर्हत् संजय** ऋषि बोले।

4. A sin once committed need not be repeated lest such acts might multiply and attain huge magnitude and result in reincarnation. If it were a sin in disguise or by implication, one should objectively scrutinize it spatially, temporally, metaphysically and ethically in a pure and dispassionate manner.

णवि अत्थि रसेहिं भद्दएहि संवासेण य भद्दएण य।
जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति वहाए संजए ॥५॥

५. मुझे सुस्वादु रसों और भव्य आवास-स्थानों से कोई प्रयोजन नहीं है। जहां संजय जंगलवासी मृग का वध करने के लिये जाता है अथवा मृग का वध करता है।

5. I have little regard for sumptuous meals and regal mansions where Sanjaya brings wild deer for sacrifice.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

संजइज्जं नामज्झयणं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **संजय ऋषि**) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of re-incarnations.

Thus I (Sanjaya, the seer) do pronounce.

संजय नामक उनचालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥३९॥



४०. चत्तालीसं दीवायणिज्जज्झयणं

इच्छमणिच्छं पुरा करेज्जा। दी वा य णे ण अरहता इसिणा बुइतं।

पहले इच्छा को अनिच्छा में परिवर्तित करे।

ऐसा अर्हत् द्वैपायन ऋषि बोले—

Transmute desire into desirelessness, said Dwaipayan, the seer :

इच्छा बहुविधा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छमणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधती ॥१॥

१. लोक में विविध प्रकार की इच्छाएँ हैं। इच्छाओं से बद्ध होकर जीव क्लेश पाता है। अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतने वाला जीव सुख पाता है।

1. Yearnings are countless. An individual docketed in yearning attracts miseries numberless. The sole means of getting rid of miseries is by being yearningless.

इच्छाभिभूया न जाणन्ति, मातरं पितरं गुरुं।
अधिक्खिवन्ति साधू य, रायाणो देवयाणि य ॥२॥

२. इच्छाभिभूत मानव माता-पिता और गुरुजनों को भी नहीं जानते हैं। अर्थात् इच्छाभिभूत की दृष्टि में इनका भी कोई महत्व या स्थान नहीं है। ऐसा मानव साधु, राजा और देवता को भी अपमानित कर देता है।

2. One engrossed in desires would not recognise his parents and teachers. To him they are of no significance. Such a being is prone to run down saints, princes and gods.

इच्छामूलं नियच्छन्ति, धणहाणिं बन्धणाणि य।
पियविप्पओगे य बहू, जम्माइं मरणाणि य ॥३॥

३. इच्छा धनहानि और बन्धनों का मूल है। प्रियवियोग और अनेक जन्म-मरणों का मूल भी यही है।

3. Desire is the root of all bondage. It causes bereavement as well as multiple reincarnations.

इच्छन्तेरिणच्छते इच्छा, अणिच्छं तं पि इच्छति ।
तम्हा इच्छं अणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेहती ।।४।।

४. इच्छा चाहने वालों को नहीं चाहती, अपितु अनिच्छुक को चाहती है। अत: इच्छा को अनिच्छा से जीतकर (जीव) सुख पाता है।

4. Desire-fulfilment obliges him who has scorned it. One who conquers desire with desirelessness is the heir to lasting happiness.

दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ जहाथामं जहाबलं जधाविरियं अनिगूहन्तो आलोएज्जासि त्ति ।।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और यथा धैर्य, पराक्रम और पुरुषार्थ को न छिपाकर आलोचना–प्रायश्चित्त करे।

All situations and circumstances, temporal, spatial, metaphysical and ethical should be examined ruthlessly and amends made for any moral lapse on these accounts.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुन: इस संसार में नहीं आता है।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlighten-ment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

इइ दीवायणिज्जमज्झयणं ।।

ऐसा मैं (अर्हत् द्वैपायन ऋषि) कहता हूँ।

Thus I, (Dwaipayan, the seer) do pronounce.

द्वैपायन नामक चालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।।४०।।

४१. एगचत्तालीसं इन्दनागिज्जज्झयणं

जेसिं आजीवतो अप्पा, णराणं बलदंसणं ।
तवं ते आमिसं किच्चा, जणा संणिचते जणं ।।१।।

१. जो जीव अपनी आजीविका के लिये तपोबल का प्रदर्शन कर मानव समूह को एकत्रित करते हैं वे वस्तुतः अपने तपोबल को आसक्ति से दूषित करते हैं ।

1. Those who draw huge crowds to themselves by expending their moral acquisition for their livelihood are, in fact, polluting their virtue by attachment.

विकीतं तेसि सुकडं तु, तं च णिस्साए जीवियं ।
कम्मचेट्ठा अजाता वा, जाणिज्जा ममका सढा ।।२।।

२. उन जीवों का सुकृत मानो बिकाउ होता है और उस सुकृत पर आधारित उनका जीवन भी बिका हुआ होता है । उनका क्रियाकलाप निकृष्ट होता है । वे अहंकारी और शठ/धूर्त होते हैं ।

2. Their virtue is like a purchaseable commodity and their life, thriving on such a virtue, is also a saleable commodity. Their conduct is base. They are damned by their vanity and depravity.

गलुच्छिन्ना असोते वा, मच्छा पावन्ति वेयणं ।
अणागतमपस्सन्ता, पच्छा सोयन्ति दुम्मती ।।३।।

३. निर्जल स्थान में अथवा छेदित कण्ठ वाला मत्स्य जैसे वेदना को प्राप्त करता है, इसी प्रकार भविष्य को न देखने वाला दुर्मति जीव बाद में शोक करता है ।

3. A fish without water and one angled in a hook is a damned one. Similar is the unenviable fate of one who is ignorant of one's future destiny.

मच्छा व झीणपाणीया, कंकाणं घासमागता ।
पच्चुप्पण्णरसे गिद्धा, मोहमल्लपणोल्लिया ।।४।।

४. जैसे मत्स्य अल्प पानी के कारण कंकास घास में आकर फंस जाता है, वैसे ही मोहमल्ल से उद्वेलित जीव वर्तमान में प्राप्त रसों (सुखों) में लुब्ध हो जाता है ।

4. Like a fish drawn to waterless moss, an attached individual lured by the immediate temptations meets a hapless end.

दित्तं पावन्ति उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणा ।
आहारमेत्तसंबद्धा, कज्जाकज्जणिमिल्लिता ।।५।।

५. जैसे जल में रहा हुआ हस्ति उत्कट उद्दीपन को प्राप्त करता है वैसे ही आहार मात्र से सम्बन्ध रखने वाला कार्याकार्य की विचारणा से आंखें मूंद लेता है अर्थात् विवेक रहित हो जाता है ।

5. As an elephant sporting ecstatically in wild waters, a gourmendiser is befuddled to close eyes to all sense of perspective.

पक्खिणो घतकुम्भे वा अवसा पावेन्ति संखयं ।
मधु पास्यति दुर्बुद्धी, पवातं से ण पस्सति ।।६।।

६. घी के घड़े में पड़ी हुई मक्खी विवश होकर मृत्यु को अवश्य प्राप्त करती है। मधुबिन्दु को प्राप्त करने वाला दुर्बुद्धि मनुष्य नीचे के प्रपात (गहरी खाई) को नहीं देखता है ।

6. A fly in ointment is nearing its sure death. An obtuse individual greedily sucks droplets of nectar dripping from above but is forgetful of the deep abysm beneath.

आमिसत्थी झसो चेव, मग्गते अप्पणा गलं ।
आमिसत्थी चरित्तं तु, जीवे हिंसति दुम्मती ।।७।।

७. मांसलोलुप मत्स्य स्वयं गल (मछली पकड़ने के कांटे) को खोजता है। मांसार्थी के चरित्र के समान दुर्बुद्धि मनुष्य प्राणियों की हिंसा करता है ।

7. The voracious fish seeks the angling fork of its own accord similarly ill-witted folk cause bodily loss to other individuals.

अणग्घेयं मणिं मोत्तुं, सुत्तमत्ताभिनन्दती ।
सव्वण्णुसासणं मोत्तुं, मोहादीएहिं हिंसती ।
सोअ-मत्तेण विसं गेज्झं, जाणं तत्थेव जुंजती ।।८।।

८. जैसे अज्ञानी महामूल्यवान मणि को फेंककर केवल सीप को पाकर प्रसन्न हो जाता है वैसे ही अज्ञानी सर्वज्ञ के शासन को छोड़कर मोहादिक कषायों

से स्वचरित्र का हनन करता है ।

श्रोत्र मात्र से ही विष ग्रहण करने याग्य है (मुख से ग्रहण करने पर मृत्यु है ।) यह जानकर भी अज्ञानी उसी को ग्रहण करता है ।

8. Like an ignorant being discarding gems for mere oysters a stupid man turns his back to omniscience and opts for vices that explode his morals. Hemlock may not do harm to one's ears, in one's mouth it is instantaneous death. And still human beings are prone to commit such follies.

आजीवत्थं तवो मोत्तुं, तप्पते विविहं बहुं ।
तवनिस्साए जीवन्तो, तवाजीवं तु जीवती ॥९॥

९. आजीविका के लिये तप को छोड़कर विविध रूपों में अनेक प्रकार का तप करता है । तप का आश्रय करके जीने वाला तपोमय जीवन को जीता है ।

9. Wise people never harness their austerities to earn their livelihood. They dedicate themselves to austerities and penances in right earnest.

णाणमेवोवजीवन्तो, चरित्तं करणं तहा ।
लिंग च जीवणट्ठाए, अविसुद्धं ति जीवती ॥१०॥

१०. कोई ज्ञान से जीवन-यापन करते हैं । कुछ चारित्रिक क्रिया से जीवन जीते हैं । जिन्होंने वेष (मुनिवेष) को जीविका का साधन बनाया है, वे अशुद्ध–दोषपूर्ण जीवनयापन करते हैं ।

10. Certain individuals expend their knowledge for earning their bread. Certain others encash their morals. Those who thus put their monkhood to bread-earning are vicious.

विज्जामन्तोपदेसेहिं, दूतीसंपेसणेहिं वा ।
भावीभवोवदेसेहिं, अविसुद्धं ति जीवति ॥११॥

११. विद्या, मन्त्र-तन्त्र के उपदेश से, दूतिक–संदेशवाहक के कार्य से, भविष्य के कथन से अर्थात् निमित्तशास्त्र से और भवों की बातें बताते हुए उपदेश के माध्यम से जो जीवन निर्वाह करते हैं वे दोषपूर्ण जीवन जीते हैं ।

11. They are equally sinful who teach occultism, run errands, predict astrology and who preach and choose such vocations for their bread.

मूलकोउयकम्मेहिं, भासापणइएहि या ।
अक्खाइओवदेसेहिं, अविसुद्धं तु जीवति ॥१२॥

इ न्द ना गे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१२. मूल कौतूहलजन्य कार्यकलापों (इन्द्रजाल) से, वाणी चातुर्य से, कहानियों के माध्यम से अथवा द्यूतकला से जीवन जीते हैं उनका जीवन दोषपूर्ण है ।

ऐसा अर्हत् **इन्द्रनाग ऋषि** बोले ।

12. Such careers are least imitable, who entertain as necromancers, quizzical speakers and narrators of tables or gamblers, said Indranag, the seer.

मासे मासे य जो बालो, कुसग्गेण आहारए ।
ण से सुक्खायधम्मस्स, अग्घती सतिमं कलं ॥१३॥

१३. जो बाल–अज्ञानी महीने-महीने में कुशाग्रमात्र आहार-भोजन करता है वह श्रुताख्यात धर्म (आत्मिक धर्म) की सौवीं कला भी प्राप्त नहीं करता ।

13. The demonstrator of his own virtue by living austerely on one meagre meal a month remains satisfied by infinitesimal virtue.

मा ममं जाणऊ कोयी, माहं जाणामि किंचि वि ।
अण्णातेणऽत्थ अण्णातं, चरेज्जा समुदाणियं ॥१४॥

१४. मुझे कोई नहीं जाने और न मैं किसी को जानूं । अज्ञात के साथ अज्ञात बनकर समाज में (भिक्षा के लिये) विचरण करे ।

14. Let none know me and I know none. One should move incognito along the face of the globe and beg for one's meals.

पंचवणीमगसुद्धं, जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा ।
तस्स सुलद्धा लाभा, हणणादीविप्पमुक्कदोसस्स ॥१५॥

१५. जो दोष-प्रमुक्त मुनि है वह पांच प्रकार के वनीपकों का बाधक न बनता हुआ, सम्यक् प्रकार से अन्वेषण करता हुआ भिक्षा ग्रहण करता है तो उसे कर्म नाश का लाभ सुलभ है ।

15. A monk freed of all vices and surviving on carefully chosen alms of food (without usurping the food claimed by dog, guest, beggar, weak or Brahmin) frees himself spontaneously of all Karmas.

जहा कवोता य कविंजला य
गावो चरन्ती इह पातडाम्रो ।
एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा
णो वीलवे णो वि य संजलेज्जा ॥१६॥

१६. जैसे कबूतर, कपिंजल (गौरा) पक्षी और गाय प्रातःकाल भोजन (चरने) के लिये भ्रमण करते हैं। इसी प्रकार मुनि गौचरी के लिए भ्रमण करे। भ्रमण करता हुआ किसी के साथ संभाषण न करे और इच्छित वस्तु प्राप्त न होने पर न किसी पर मन में कुढ़े या जले।

16. Like a pigeon and a cow he should roam about for his meals. He should utter no word during his beat nor dislike unwelcome meal thus received.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

इइ इन्दनागिज्जज्झयणं ॥

ऐसा मैं (अर्हत् **इन्द्रनाग ऋषि**) कहता हूँ।

Thus I, Indranag, the seer, do pronounce.

इन्द्रनाग नामक इकतालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥४१॥



४२. बायालीसं सोमिज्जज्झयणं

अप्पेण बहुमेसेज्जा जेट्ठमज्झिमकण्णसं ।

णिरवज्जे ठितस्स तु णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्तए ।
सो मे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

मुमुक्षु ! ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ किसी भी पद या अवस्था में हो वह अल्प से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करे ।

निरवद्य स्थिति में रहे हुए को पुनः सावद्य का सेवन करना नहीं कल्पता है ।

ऐसा अर्हत् **सोम** ऋषि बोले—

An aspirant should keep an eye on spiritual elevation further and further, be he a novice, a moderately accomplished one or a doyen. One who has renounced everything, hardly does justice to oneself by further reverting to attachment, said Soma the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ सोमिज्जं णामज्झयणं ।।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **सोम ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Soma, the seer, do pronounce.

सोम नामक बयांलीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।।४२।।

४३. तिचत्तालीसं जमज्झयणं

लाभम्मि जे ण सुमणो, अलाभे णेव दुम्मणो ।
से हु सेट्ठे मणुस्साणं, देवाणं व सयक्कऊ ॥१॥

ज मे ण अरहता इसिणा बुइतं ।

१. जो लाभ में सुमन (प्रसन्न) नहीं होता और अलाभ में दुर्मन (नाराज) नहीं होता वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, जैसे देवों में शतक्रतु—इन्द्र ।

ऐसा अर्हत् **यम** ऋषि बोले ।

1. One untouched by excitement in prosperity and anguish in adversity is the salt of earth like the prince of gods Lord Indra, said Yama, the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ जम-णामज्झयणं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **यम ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Yama, the seer, do pronounce.

यम नामक तयांलीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥४३॥



४४. चउआलीसं वरुणज्झयणं

दोहिं अंगेहिं उप्पलन्तेहिं आता जस्स ण उप्पीलति ।

रागंगे य विदोसे य से हु सम्मं णियच्छती ।

वरुणेणं अरहता इसिणा बुइतं ।।

कर्म के दोनों अंग—राग और द्वेष की उत्पीड़ना से जिसकी आत्मा उत्पीड़ित नहीं होती वही सम्यक् प्रकार से निश्चय करता है ।

ऐसा अर्हत् **वरुण** ऋषि बोले ।

One, who is least perturbed by attachment and aversion, the twin wings of Karma, alone is endowed with a true discretion and decisive capacity, said Varuna, the seer.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इइ वरुण-णामज्झयणं ।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है, और भविष्य में इस संसार में नहीं आता है ।

ऐसा मैं (अर्हत् **वरुण ऋषि**) कहता हूँ ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus, I Varuna, the seer, do pronounce.

वरुण नामक चवालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ।।४४।।



४५. पणयालीसं वेसमणिज्जज्झयणं

अप्पं च आउं इह माणवाणं
सुचिरं च कालं णरएसु वासो ।
सव्वे य कामा णिरयाण मूलं
को णाम कामेसु बुहो रमेज्जा ? ॥१॥

१. यहां मनुष्यों की आयु अल्प है और नरक में सुदीर्घ काल तक निवास होता है। समस्त काम-वासनायें नरकवास का मूल हेतु हैं। अतः कौन बुद्धिमान इन वासनाओं में रमण करेगा ?

1. Human beings are shortlived on earth while a stay in inferno *is marked by an existence lasting aeons. While desires and passions lead* to hell, what ails a wise man that he would indulge in passion and desire ?

पावं ण कुज्जा, ण हणेज्ज पाणे
अतीरसे णेव रमे कदायी ।
उच्चावएहिं सयणासणेहिं
वायु व्व जालं समतिक्कमेज्जा ॥२॥

वे स म णे णं अरहता इसिणा बुइतं ।

२. न पाप करे, न प्राणियों की हिंसा करे, न स्वादिष्ट षड्रस भोजन में आसक्त होवे और न कदापि उच्च-नीच शयनासनों में प्रसन्नता अनुभव करे, अपितु जिस प्रकार वायु जालों को उड़ा देती है उसी प्रकार मुमुक्षु इन सब का अतिक्रमण कर दे। अर्थात् वायु की तरह अप्रतिबद्ध रहे।

ऐसा अर्हत् **वैश्रमण** ऋषि बोले ।

2. Let the aspirant avoid sin and violence and have an utter indifference to delectable viands and soft mattresses. Such a one listeth as the wind bloweth, said Vaishraman, the seer.

जे पुमं कुरुते पावं, ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ ।
अप्पणा हि कडं कम्मं, अप्पणा चेव भुज्जती ॥३॥

३. जो पुरुष पाप करता है निश्चयतः उसे अपनी आत्मा प्रिय नहीं है; क्योंकि आत्मा स्वकृत कर्मों को स्वयं ही भोगती है।

3. A vile indulgent is no well-wisher to his own self for it is the self that has to suffer the outcome of its own deeds.

पावं परस्स कुव्वन्तो, हसते मोहमोहितो ।
मच्छो गलं गसन्तो वा, विणिघायं ण पस्सति ।।४।।

४. मोहग्रस्त जीव दूसरे (की हानि) के लिए पाप करता हुआ हंसता है। मछली (आटे की गोली) गले में उतारते समय नाशकारी कांटे को नहीं देखती है।

4. An engrossed individual wishing ill to others takes his sin jocularly. He is like an angled fish unaware of the hook swallowed by it.

पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लितो ।
दित्तं पावति उक्कण्ठं, वारिमज्झे व वारणो ।।५।।

५. जैसे जल में रहा हुआ हाथी अत्यधिक उत्तेजित होता है वैसे ही मोहमल्ल द्वारा प्रेरित आत्मा वर्तमानिक तात्कालिक भोगों में अत्यासक्त और उत्तेजित होता है।

5. An inebriated elephant in abandonment in aquatic frolic is devoid of all sobriety. So is a man truly tipsy with engrossment of momentary pleasures.

परोवघाततल्लिच्छो, दप्पमोहबलुद्धुरो ।
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं ण विन्दती ।।६।।

६. दूसरे का घात करने वाला लिप्सु व्यक्ति अहँकार और मोहमल्ल से उद्धत होने के कारण गुण और दोष से शून्य अर्थात् विवेकशून्य हो जाता है। जैसे जर्जर वृद्धसिंह निर्बल प्राणियों का वध करते समय विवेक-शून्य हो जाता है।

6. A sadist bent upon harming others is power-drunk, egocentric and totally blind to moral judgment. He is like a decrepit tiger still capable of perpetrating untold tyrannies on the feeble beasts.

सवसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।
आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्कधारो दुहट्टिओ ।।७।।

७. पूर्वकृत पाप कर्म के वशीभूत होकर दुर्मति जीव दु:ख का अनुभव करता है। वह गले में फंदा कसकर दु:ख और विपदाओं की धारा में अपने आपको छोड़ देता है।

7. Woe is the direct repercussion of earlier sins committed by man. He unwittingly ropes in his own neck and embraces utter miseries.

पावं जे उ पकुव्वन्ति, जीवा सोताणुगामिणो ।
वड्ढते पावकं तेसिं, अणग्गाहिस्स वा अणं ।।८।।

८. जो सुखाभिलाषी जीव सुख के लिये पाप करते हैं। जैसे ऋण लेने वाले पर ऋण (कर्ज) बढ़ता जाता है वैसे ही उनके पापों की राशि भी बढ़ती जाती है।

8. Pleasure-seekers who indulge in sinful conduct, endlessly enhance their debit account.

अणुबद्धमपस्सन्ता, पच्चुप्पण्णगवेसका ।
ते पच्छा दुक्खमच्छन्ति, गलुच्छित्ता जधा झसा ।।९।।

९. जो केवल वर्तमानिक–तात्कालिक सुख को खोजते हैं किन्तु उससे अनुबद्ध फल को नहीं देखते हैं, वे बाद में उसी प्रकार से दु:ख पाते हैं जैसे कण्ठ से विंधी हुई मछली।

9. A hedonist caring for the present jolly well ignorant of the corresponding moral liability, is like a stupid fish out to swallow the hook.

आताकडाण कम्माणं, आता भुंजति जं फलं ।
तम्हा आयस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ।।१०।।

१०. आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है और आत्मा ही उसके फल का भोक्ता है। अत: आत्मोत्कर्ष के लिये (मुमुक्षु) पापग्रहण करने के मार्ग का त्याग कर दे।

10. The self is the doer and also the sufferer of the reward and punishment of his acts. Hence the aspirant should give up this sinful option and sublimate his self.

जे हुतासं विवज्जेति, जं विसं वा ण भुंजति ।
जं णं गेण्हति वा वालं, णूणमत्थि ततोऽभयं ।।११।।

११. जो अग्नि का त्याग कर देता है, जो विषभक्षण नहीं करता है और जो सर्प को पकड़ लेता है उस व्यक्ति को भय नहीं होता। अर्थात् वह अभय है।

11. One who gives up the use of fire (in cooking), consumption of toxic substances and can handle serpents has no reason to fear aught.

धावन्तं सरसं नीरं, सच्छं दाढि सिंगिणं।
दोसभीरू विवज्जेन्ती, पावमेवं विवज्जए ।।१२।।

१२. (जैसे) तीव्र वेग से प्रवहमान स्वच्छ मधुर जल तथा दौड़ने वाले दाढ और श्रृंग वाले पशुओं को देखकर दोषभीरु (चोट आदि लग जाने के भय से) उस मार्ग से हट जाते हैं। उसी प्रकार दोषभीरु (पापादि दोषों से भय खाने वाले मुमुक्षु) को पापों के मार्ग से परे हो जाना चाहिए।

12. As a cautious being keeps off the track of tempestuous torrents and wild horny beasts for his own safety, so a morally vigilant soul should never so much as approach trails fraught with sinful inertia.

पावकम्मोदयं पप्प, दुक्खतो दुक्खभायणं।
दोसा दोसोदई चेव, पावकज्जा पसूयति ।।१३।।

13. पाप कर्मों का उदय होने पर जीव दुःखों से और अधिक दुःखों का भाजन बनता है। दोषी व्यक्ति और अनेक प्रकार के दोषों को ग्रहण करने वाले पाप कार्यों को उत्पन्न करता है।

13. Once the chain of evil destiny sets in there is misery and woe s a n s end. An evil doer is hurled headlong into sins abounding.

उव्विवारा जलोहन्ता, तेतणीए मतोट्ठितं।
जीवितं वा वि जीवाणं, जीवन्ति फलमन्दिरं ।।१४।।

१४. भूकम्प, जलसमूह, अग्नि अथवा तृणगुच्छ से मरकर भी प्राणियों का जीवन पुनः आरम्भ हो जाता है। फल का मन्दिर–आश्रय स्थान कर्म जब तक विद्यमान है तब तक जीवों का पुनर्जीवन भी चलता रहेगा।

14. An individual meeting his death by earth-quake, water, fire or nettled creepers does not cease to be There is a sequel of his certain transmigration. So long as Karmas exist to breed destiny transmigration is predestined.

देज्जाहि जो मरन्तस्स, सागरन्तं वसुंधरं ।
जीवियं वा वि जो देज्जा, जीवितं तु स इच्छती ॥१५॥

१५. मरते हुए प्राणी को समुद्र पर्यन्त पृथ्वी दी जाए या जीवन दिया जाए तो वह मरने वाला प्राणी जीवन की ही चाहना करेगा ।

15. *A man breathing his last would prefer survival to a reign of* world-wide empire.

पुत्तदारं धणं रज्जं, विज्जा सिप्पं कला गुणा ।
जीविते सति जीवाणं, जीविताय रती श्रयं ॥१६॥

१६. पुत्र, पत्नी, धन, राज्य, विद्या, शिल्प, कला और गुण ये सभी प्राणियों को जीवित दशा में ही उनके जीवन को आनन्दित कर सकते हैं ।

16. *Progeny, spouse, wealth, empire, education, art, craft and* versatility-all yield happiness so long as a human being is alive.

श्राहारादि तु जीवाणं, लोए जीवाण दिज्जती ।
पाणसंधारणट्ठाय, दुक्खणिग्गहणा तहा ॥१७॥

१७. लोक में प्राणियों के द्वारा प्राणधारी जीवों को आहारादि इसलिए दिये जाते हैं कि वे प्राणों को आश्वस्त होकर धारण कर सकें और दुःख का निग्रह कर सकें ।

17. Living beings offer food to other living beings to grant them a secure existence and freedom from misery.

सत्थेण वण्हिणा वा वि, खते दड्ढे व वेदणा ।
सए देहे जहा होति, एवं सव्वेसि देहिणं ॥१८॥

१८. जैसे स्वयं के शरीर में शस्त्र और आग से घाव, जलन श्रौर वेदना होती है, वैसे ही समस्त देहधारियों को भी होती है ।

18. As we experience distress *due to injury, burn, irritation and* pain, so do other organisms.

पाणी य पाणिघातं च, पाणिणं च पिया दया ।
सव्वमेतं विजाणित्ता, पाणिघातं विवज्जए ॥१९॥

१६. प्राणियों को प्राणिघात अप्रिय है। प्राणियों को दया प्रिय है। इन सबको समझकर मुमुक्ष प्राणिघात—हिंसा का त्याग करे।

19. All beings dislike death and injury. They cherish kindness. Keeping this in view, the aspirant should shun violence and killing.

अहिंसा सव्वसत्ताणं, सदा णिव्वेयकारिका।
अहिंसा सव्वसत्तेसु, परं बम्भमणिन्दियं ॥२०॥

२०. अहिंसा समस्त प्राणियों के लिये निर्वेद—अभयदायक है अथवा वैराग्य-कारक है। अहिंसा समस्त प्राणियों में अतीन्द्रिय परब्रह्म है।

20. Non-violence consoles and reassures every body. Non-violence is like the immanent God in all beings.

देविंदा दाणविंदा य, णरिंदा जे वि विस्सुता।
सव्वसत्तदयोवेतं, मुणीसं पणमन्ति ते ॥२१॥

२१. जो भी विश्रुत-विख्यात देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्र हैं वे सत्त्वधारी समस्त प्राणियों पर दयाभाव धारण करने वाले मुनीन्द्र को नमस्कार करते हैं।

21. All the majestic and glorious emperors, demons and regal beings bow to the compassionate saints.

तम्हा पाणदयट्ठाए, तेल्लपत्तधरो जधा।
एगग्गयमणीभूतो, दयत्थी विहरे मुणी ॥२२॥

२२. अत: दयावान मुनि प्राणियों पर दया के लिये तैलपात्रधारक के समान एकाग्रमन होकर विचरण करे।

22. That enjoins upon such merciful monks to vigilantly cultivate it in their fearless conduct.

आणं जिणिन्दभणितं, सव्वसत्ताणुगामिणिं।
समचित्ताऽभिणन्दित्ता, मुच्चन्ती सव्वबन्धणा ॥२३॥

२३. समस्त सत्त्वधारी जीवों का अनुगमन करने वाली जिनेश्वर देव कथित आज्ञा को प्रसन्नता और समचित्त से स्वीकार कर (मुमुक्षु) समस्त प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

23. The aspirant follows the commandment of the Jain prophet that inspires every living being, willingly and eagerly and attains deliverance.

वीतमोहस्स दन्तस्स, धीमन्तस्स भासितं जए ।
जे णरा णाभिणन्दन्ति, ते धुवं दुक्खभायिणो ।।२४।।

२४. वीतमोह (वीतराग), दान्त और प्रज्ञावान द्वारा कथित आज्ञा को जो अच्छी नहीं मानकर पालन नहीं करते हैं वे निश्चय से दुःख के अधिकारी, दुःखों के भाजन बनते हैं ।

24. The edict of such non-attached, charitable and profoundly wise beings, if not followed leads to miseries.

जेऽभिणन्दन्ति भावेण, जिणाणं तेसि सव्वधा ।
कल्लाणाइं सुहाइं च, रिद्धीओ य ण दुल्लहा ।।२५।।

२५. जो जिनेश्वर की आज्ञा को पूर्णरूपेण प्रसन्नता के साथ शिरोधाय करते हैं वे कल्याणादि सुखों को सहजभाव से प्राप्त करते हैं । उनके लिए ऋद्धियां भी दुर्लभ नहीं हैं ।

25. Those who adopt Jainism as their mode of life and conduct willingly, automatically, earn all rewards. They are endowed with mastery over natural forces and elements.

मणं तधा रम्ममाणं, णाणाभावगुणोदयं ।
फुल्लं व पउमिणीसण्डं, सुतित्थं गाहवज्जितं ।।२६।।

२६. जैसे विविध भावों और गुणों के उदय से हृदय आह्लादित होता है । जैसे ग्राहवर्जित–मगरमच्छों से रहित सुतीर्थ (द्रह) विकसित कमल-लताओं के समूह से शोभित होता है ।

26. These instructions cheer up all and tone each one's moral conduct. They are like lotus-spangled holy lakes free from crocodiles.

रम्मं मन्तं जिणिन्दाणं, णाणाभावगुणोदयं ।
कस्सेयं ण प्पियं होज्जा, इच्छियं व रसायणं ? ।।२७।।

२७. इसी प्रकार विविध भावों और गुणों के प्राचुर्य से जिनेश्वरों का मन्तव्य (मन्त्ररूप सिद्धान्त) रमणीय होता है। मनोवांछित रसायन के समान जिनेश्वरों का मन्तव्य किसको रुचिकर न होगा ?

27. The preachings of Jainism are richly endowed and beneficially pleasant. Who will not relish such instructions that be-token spiritual elevation, welcome to all ?

नण्हातों व सरं रम्मं, वाहितो वा रुयाहरं ।
छुहितो व जहाऽऽहारं, रणे मूढो व बन्दियं ।।२८।।

२८. अस्नात व्यक्ति को सरोवर प्रिय है, रोगी को वैद्य या चिकित्सालय प्रिय है, भूखे को भोजन प्रिय है और युद्धभूमि में मूर्ख या व्याकुल व्यक्ति और कैदी अथवा मागध को सुरक्षित स्थान प्रिय है।

28. One unabluted seeks ponds and lakes, a patient seeks a clinic, a starving one cherishes meals and fearful individual in a battle field seeks a cosy refuge.

वण्हि सीताहतो वा वि, णिवायं वाऽणिलाहतो ।
तातारं वा भउव्विग्गो, अणत्तो वा धणागमं ।।२९।।

२९. भीषण सर्दी से पीड़ित को अग्नि प्रिय है, पवन से पीड़ित को हवा-रहित स्थान प्रिय है, भयत्रस्त को सुरक्षा प्रिय है और ऋणी को धनप्राप्ति प्रिय है। (वैसे ही मुमुक्ष को नानाभावगुणोपत जिनेश्वर की आज्ञा प्रिय है।)

29. A freezing man dreams of a hearth; one tossed by hurri-canes–a closed niche; a frightened being–a reassurance and a debtor wealth. (An aspirant on this analogy seeks the flourishing Jain moral code.)

गम्भीरं सव्वतोभद्दं, हेतुभंगणयुज्जलं ।
सरणं पयतो मण्णे, जिणिन्दवयणं तहा ।।३०।।

३०. गम्भीर, सर्वतोभद्र, हेतु, भंग और नय से उज्ज्वल जिनेश्वर वाणी की शरण जाने वाला भी ऐसे ही आनन्द का अनुभव करता है।

30. Jain philosophy is sober, versatile, rational and logical. One resorting to it is rewarded with bliss.

सारदं व जलं सुद्धं, पुण्णं वा ससिमण्डलं ।
जच्चमणिं अघट्टं वा, थिरं वा मेतिणीतलं ।।३१।।

३१. जैसे शरद् ऋतु का जल शुद्ध होता है, चन्द्र मण्डल पूर्ण होता है, अघट्ट–तराशी हुई अखण्डित उत्तम मणि होती है और पृथ्वी स्थिर होती है।

31. As the water in winter is clear, moon full-orbed, duly cut gem shapely and terra firma stable, —

साभावियगुणोवेतं, भासते जिणसासणं ।
ससीतारापडिच्छण्णं, सारदं वा णभंगणं ।।३२।।

३२. वैसे ही स्वाभाविक गुणों से युक्त जिनेश्वर देव का शासन–जिन–शासन शोभायमान होता है। जैसे चन्द्र और तारागण से परिपूर्ण शरत्पूर्णिमा का आकाश मण्डल शोभायमान होता है।

32. —So Jainism is splendid like the star-studded sky on a full moon day in winter.

सव्वण्णुसासणं पप्प, विण्णाणं पवियम्भते ।
हिमवन्तं गिरिं पप्पा, तरूणं चारु वागमो ।।३३।।

३३. जो सर्वज्ञशासन–जिनशासन प्राप्त कर लेता है उसका आत्मिक विज्ञान भी वैसा ही विकसित हो जाता है। जैसा कि हिमवन्तगिरि–हिमालय को प्राप्तकर वृक्षों में सुन्दरता का प्रादुर्भाव हो जाता है।

33. One who accomplishes himself after Jain ethics, attains glory akin to lush greenery along the Himalayas.

सत्तं बुद्धी मती मेधा, गंभीरत्तं च वड्ढती ।
ओसधं वा सुयक्कन्तं, जुज्जए बलवीरियं ।।३४।।

३४. जो सर्वज्ञशासन प्राप्त कर लेता है उसमें सत्त्व, बुद्धि, मति, मेधा और गम्भीर्य की प्रशस्त वृद्धि होती है। जैसे पवित्र औषध के सेवन से तेज, बल और वीर्य की वृद्धि होती है।

34. One well-versed in Jainism automatically attains truth, wisdom, discretion, intellect and profundity as one is rendered healthy, and robust by the use of elixir.

पयंडस्स णरिंदस्स, कन्तारे देसियस्स य ।
आरोग्गकारणो चेव, आणाकोहो दुहावहो ।।३५।।

३५. प्रचण्ड शासक राजा का, अटवी के मार्गदर्शक का या संसार वन के मार्गदर्शक गुरु का और रोगहारक वैद्य की उग्र आज्ञा का पालन न करना दुःखकारक है।

35. It is injurious to neglect the obligatory command of a great monarch, supreme guide in the vast labyrinthine wild world and a versatile physician.

सासणं जं णरिन्दाओ, कन्तारे जे य देसगा ।
रोगुग्घातो य वेज्जातो, सव्वमेतं हिए हियं ।।३६।।

३६. नरेन्द्र के शासन का, वन के मार्गदर्शक या संसार वन के मार्गदर्शक गुरु का और रोगहन्ता वैद्य की आज्ञा का पालन करना अति हितकारी है।

36. It is sheer bliss to obey the command of such a monarch, guide and physician.

आणाकोवो जिणिन्दस्स, सरण्णस्स जुतीमतो ।
संसारे दुक्खसंबाहे, दुत्तारो सव्वदेहिणं ।।३७।।

३७. द्युतिमान शरण्य (शरण ग्रहण करने योग्य) जिनेन्द्र की उग्र आज्ञा दुःख से परिपूर्ण संसार में समस्त देहधारियों के लिए कष्ट से पालन करने योग्य है (तथापि उसका पालन आवश्यक है)।

37. The commandment of the Lord of Jainism is tedious and still it is incumbent upon every individual to obey it unflinchingly.

तेलोक्कसारगरुयं, धीमतो भासितं इमं ।
सम्मं काएण फासेत्ता, पुणो ण विरमे ततो ।।३८।।

३८. त्रैलोक्य के सारभूत धीमान महापुरुषों ने जो कहा है—कठोर आदेश प्रदान किया है उसका सम्यक् प्रकार से जीवन से स्पर्श कर अर्थात् हृदय में धारण कर पालन करे। उससे पीछे न हटे।

38. Whatever these accomplished beings have uttered should be scrupulously comprehended and carried out in toto.

बद्धचिन्धो जधा जोधो, वम्मारूढो थिरायुधो ।
सीहणायं विमुंचित्ता पलायन्तो ण सोभती ।।३९।।

३९. राजचिह्न बांधकर कवचधारी एवं आयुधों से सुसज्जित योद्धा सिंहनाद करता हुआ भी यदि युद्धस्थल से पलायन करता है तो वह शोभास्पद नहीं है।

39. It behoves not an abundantly equipped and armed and shielded valiant warrior to flee from the battle ground.

अगन्धणे कुले जातो, जधा णागो महाविसो ।
मुंचित्ता सविसं भूतो, पियन्तो जाती लाघवं ।।४०।।

४०. जैसे अगन्धन कुल में उत्पन्न हुआ सर्पराज महाविष को छोड़कर यदि उस विष का पुन: पान करता है तो वह लघुता/हीनता को प्राप्त होता है ।

40. If a mighty serpent born in the fabled Agandhan breed sheds his venom, it befits him not to repollute his fangs with the vomitted venom.

जधा रुप्पिकुलुब्भूतो, रमणिज्जं पि भोयणं ।
वन्तं पुणो स भुंजन्तो, धिद्धिकारस्स भायणं ।।४१।।

४१. जैसे रुक्मि कुल (उच्च-कुल) में पैदा हुआ स्वादिष्ट भोजन कर और उसे वमन कर पुन: उसको खाता है तो वह धिक्कार का पात्र होता है ।

41. Cursed be one of the fabled Rukmi clan if he consumes delicious food, vomits it and again stoops to consume the vomit.

एवं जिणिन्दआणाए, सल्लुद्धरणमेव य ।
णिग्गमो य पलित्ताओ, सुहिओ सुहमेव तं ।।४२।।

४२. इसी प्रकार जिनेन्द्र की आज्ञा का पालन करने वाला (मुमुक्ष साधक) आत्मा के शल्यों का उन्मूलन कर देता है, भवभ्रमण की ज्वाला से निकल जाता है, सुखी होता है । वस्तुत: वही सच्चा सुख है ।

42. One dedicated to Jainism frees himself of all misery and defect. He is not required to suffer reincarnation nor woes any longer. This is happiness par excellence.

इन्दासणी ण तं कुज्जा, दित्तो वण्ही, अणं अरी ।
आसादिज्जन्तसम्बन्धो, जं कुज्जा रिद्धिगारवो ।।४३।।

४३. इन्द्र का वज्र, जाज्वल्यमान अग्नि, ऋण (कर्ज) और शत्रु इतनी हानि नहीं पहुंचाते जितना कि मन से आस्वादित की हुई ऋद्धि का गौरव, वैभव का अहंकार हानि पहुंचाता है ।

43. The thunderbolt of Indra, the King of gods, burning cinders, debt and foe inflict less injury than the vanity of accomplishment and pride.

सगाहं सरबुद्धं, विसं वामणुजोजितं ।
सामिसं वा णदीसोयं, सातकम्मं दुहंकरं ।।४४।।

४४. मगर से प्रेरित सरोवर, विषमिश्रित नारी (विष-कन्या) और मांस-युक्त नदी-प्रवाह के समान साता–सुखकारक कर्म भी अन्ततः दुःखदायी होते हैं ।

44. Deeds yielding pleasures are also in an ultimate analysis woeful like a crocodile-infested lake, f e m m e f a t a l e and dangerous stream.

कोसीकिते व्वऽसी तिक्खो, भासच्छण्णो व पावओ ।
लिंगवेसपलिच्छण्णो, अजियप्पा तहा पुमं ।।४५।।

४५. जैसे तीक्ष्णधार वाली तलवार म्यान में रहती है और आग भस्म से ढकी रहती है वैसे ही अजितात्मा/पराजित पुरुष भी बहुविध लिंग और वेषों में छिपे रहते हैं ।

45. Unaccomplished and defeated individuals are seen in various guises like a word in a sheath and embers under ashes.

कामा मुसामुही तिक्खा, साता कम्माणुसारिणी ।
तण्हासातं च, सिग्घं च, तण्हा छिन्दति देहिणं ।।४६।।

४६. वासना से तीक्ष्ण मृषामुखी (असत्यवादी) कैंची साता कर्मानुसारिणी है । किन्तु शरीरधारियों की यह तृष्णा सुख या शान्ति और आशा को शीघ्र ही काट देती है ।

46. Hydra-headed passion has a voluptuous bait but such destiny-generating ventures shear away peace and happiness.

सदेवोरगगन्धव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं ।
वत्तं तेहिं जगं किच्छं, तण्हापासणिबन्धणं ।।४७।।

४७. जिसने तृष्णारूपी पाश का बन्धन तोड़ दिया है उसने देव, नाग, गन्धर्व, तिर्यंच और मानवों के साथ सम्पूर्ण जगत् का त्याग कर दिया है ।

47. One who has renounced desire, has abandoned the entire universe comprising angels, gods, demigods, animals and men.

अक्खोवंगो, वणे लेवो, तावणं जं जउस्स य ।
णामणं उसुणो जं च, जुत्तितो कज्जकारणं ।।४८।।

४८. आँख में अंजन लगाना, घाव पर लेप लगाना, लाख को तपाना और बाण को झुकाना, इन सबके पीछे उचित कार्य-कारणों की परम्परा होती है ।

48. Reason relates the application of ointment to eye, analgesic salves to wound, softening the lacquer and bending the arrow.

आहारादीपडीकारो, सव्वण्णुवयणाहितो ।
अप्पाहु तिव्ववण्हिस्स, संजमट्ठाए संजमो ।।४९।।

४९. जीव संयम का पालन करने हेतु क्षुधा की तीव्र आग का प्रतिकार करने के लिये आहारादि का ग्रहण करता है, वह सर्वज्ञवचनों से अनुमोदित है और संयम के लिये हितकारी है ।

49. It is for practising austerity that food is consumed to ward off hunger. This is endorsed by the knowledgeable and is beneficial to an ascetic.

हेमं वा आयसं वा वि, बन्धणं दुक्खकारणं ।
महग्घस्सावि दण्डस्स, णिवाए दुक्खसंपदा ।।५०।।

५०. सोने का बन्धन हो या लोहे का, वह दुःख का ही कारण होता है । महामूल्य वाला दण्ड पड़ने पर भी दुःखप्रद तो होता ही है ।

50. Fetters of gold are as distressing as those of iron. A gem-decked rod will hit as painfully as a plain one.

आसज्जमाणे दिव्वम्मि, धीमता कज्जकारणं ।
कत्तारे अभिचारित्ता, विणीयं देहधारणं ॥५१॥

५१. स्वर्ग के प्रति भी अनासक्त होकर प्रज्ञाशील कर्त्तव्य की कार्य-कारण परम्परा को अनिवार्य रूप से दूर करता हुआ देहधारण-शरीर को भी (प्रायोपगमनादि अनशन के द्वारा) समाप्त करे ।

51. Abjectly indifferent to the heavenly rewards, the aspirant should wisely unravel the mystery of cause and effect and may discard the body by denying it food ultimately.

सागरेणावणिज्जोको, आतुरो वा तुरंगमे ।
भोयणं भिज्जएहिं वा, जाणेज्जा देहरक्खणं ॥५२॥

५२. समुद्र में नाविक नौका का, युद्ध में (सारथि) घोड़े का और भिज्जक–भूखा व्यक्ति भोजन का ध्यान रखता है, इसी प्रकार (मुमुक्षु आत्मसाधन हेतु) देह का रक्षण करता है ।

52. As a sailor watches his vessel on high seas, a cavalry his steed in battle ground and a starving being his food, so should an aspirant care for his physique as an instrument of sallvation.

जातं जातं तु विरियं, सम्मं जुज्जेज्ज संजमे ।
पुप्फादीहि पुप्फाणं, रक्खन्तो आदिकारणं ॥५३॥

५३. स्वयं में प्रकट होने वाली पराक्रम–शक्ति का सम्यक् प्रकार से संयम में उपयोग करे । पुष्पादि का उपयोग करने वाला पुष्पों का आदिकारण/बीज की रक्षा करता है ।

53. Divert your entire strength to restraint. A floral faddist protects the floral seed.

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

वेसमणिज्जं णाम अज्झयणं ॥

इसिभासियाइं समत्ताइं ॥

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग एवं पूर्ण त्यागी बनता है और भविष्य में पुनः इस संसार में नहीं आता है।

ऐसा मैं (अर्हत् **वैश्रमण** ऋषि) कहता हूँ।

This is the means, then, for an aspirant to attain purity, enlightenment, emancipation, piety, abstinence and non-attachment. Such a being is freed of the chain of reincarnations.

Thus I, Vaishraman, the seer, do pronounce.

वैश्रमण नामक पैंतालीसवां अध्ययन पूर्ण हुआ ॥ ४५ ॥

ऋषिभाषित सूत्र सम्पूर्ण हुआ।



परिशिष्ट–1

ऋषिभाषित की दो संग्रहणियाँ

[ऋषिभाषित सूत्र से सम्बद्ध दो संग्रहणियां प्राप्त हैं। संग्रहणी का अर्थ है— संक्षिप्त रूप से पदार्थ-प्रतिपादन अथवा सार/निष्कर्षों का संकलन। इनमें प्रथम संग्रहणी नामाधिकार कहलाती है दूसरी संग्रहणी अर्थाधिकार। दोनों प्राकृत भाषा में हैं और क्रमश: 6 और 5 गाथाओं में निबद्ध हैं।

ऋषिभाषित में जिन पैंतालीस अर्हत् ऋषि/महात्माओं/प्रत्येकबुद्धों के अनुभूति पूर्ण एवं जीवन-स्पर्शी सन्देशों/आध्यात्मिक एवं नैतिक उपदेशों का संकलन/चयन किया गया है, उन्हीं का इसमें लेखा-जोखा है।

प्रथम संग्रहणी की प्रथम गाथा में यह प्रतिपादन किया गया है कि इन पैंतालीस अर्हतर्षियों में कितने-कितने अर्हतर्षि किन-किन तीर्थंकरों के शासन काल में हुए हैं? पश्चात् की 5 गाथाओं में अर्थात् 2 से 6 तक प्रत्येक अर्हतर्षि के नाम गिनाये गये हैं।

द्वितीय संग्रहणी में ऋषिभाषित में प्रतिपादित 45 अध्ययनों के नाम दिये गये हैं। इन नामों की विशेषता यह है कि प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ के प्रथम शब्दों को ग्रहण कर अध्ययन का नामकरण किया गया है।]

[Two appendices of the Rishibhashit are available. Appendix means compilation of briefs about contents or themes discussed in the book. The first appendix is compilation of titles and second that of subjects. Both are in Prakrit and contain 6 and 5 couplets respectively.

The appendices have mention of the fortyfive seers/ascetics/sages whose messages/philosophical and moral teachings have been compiled in the Rishibhashit.

The first couplet of the first appendix mentions which of these forty-five seers were contemporary to which Tirthankar. The following five couplets, that is 2 to 6, contain the names of each of them.

The second appendix mentions the titles of the forty-five chapters contained in Rishibhashit. These names have been given by taking the first word of every chapter].

प्रथम संग्रहणी

पत्तेयबुद्धमिसिणो, तित्थे वीसं अरिट्ठणेमिस्स ।
पासस्स य पण्णर दस वारस्स विलीणमोहस्स ।।१।।

१. बीस प्रत्येक बुद्ध ऋषि अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पन्द्रह पार्श्वनाथ और दस विगतमोह महावीर के तीर्थ/शासन में हुए हैं ।

1. Twenty of these seers were contemporary to Arishthanemi (Neminath), fifteen lived during the life of Parshwanath and ten during the period of Mahavir.

णारद-वज्जित-पुत्ते, असिते अंगरिसि-पुप्फसाले य ।
वक्कल-कुम्मा केतलि, कासव तह तेतलिसुते य ।।२।।

२. १. नारद, २. वज्जिय (वाज्रिक) पुत्र, ३. असित, ४. अंग ऋषि (अंगिरस) ५. पुष्पशाल, ६. वल्कल (चीरी) ७. कूर्म (कूर्मा पुत्र) ८. केतलि (पुत्र), ९. काश्यप तथा १०. तेतलिपुत्र ।

2. 1. Narada, 2. Vajjiya (Vajrik) putra, 3. Asit, 4. Angarishi (Angiras), 5. Pushpashal, 6. Valkal (chiri), 7. Kurma (putra), 8. Kaitali (putra), 9. Kashyap, and 10. Taitaliputra.

मंखलि जण्ण-भयालि, बाहुय महु सोरियायण विदू य ।
वरिसे कण्हे आरिय, उक्कल गाहावई तरुणे ।।३।।

३. ११. मंखली (पुत्र), १२. यज्ञ (याज्ञवल्क्य), १३. भयालि, १४. बाहुक १५. मधु (मधुरायण), १६. शौर्यायन, १७. विदु, १८. वर्षप् कृष्ण, १९. आर्य (आर्यायण) २०. उत्कलवादी और २१. गाथापति तरुण ।

3. 11. Mankhali (putra), 12. Yagy (Yagyavalkya), 13. Bhayali 14. Bahuk, 15. Madhu (Madhurayan), 16. Shauryayan, 17. Vidu, 18. Varshap Krishna, 19. Arya (Aryayan), 20. Utkalvadi, 21. Gathapati Tarun.

गद्दभ रामे य तहा, हरिगिरि अम्बड़ मयंग वारत्ता ।
तत्तो य अद्दए वद्धमाणे वाऊ य तीसतिमे ।।४।।

४. २२. गर्दभ, २३. राम, २४. हरिगिरि, २५. अम्बड, २६. मातंग, २७. वारत्तक, २८. आर्द्रक, २९. वर्द्धमान, और ३०. वायु, ये तीसवें हैं ।

4. 22. Gardabh (Gardabhiya), 23. Rama, 24. Harigiri, 25. Ambad, 26. Matanga, 27. Varattaka, 28. Ardrak, 29. Vardhman and Vayu is thirtieth.

पासे पिंगे अरुणे, इसिगिरि अद्दालए य वित्ते य ।
सिरिगिरि सातियपुत्ते, संजय दीवायणे चेव ।।५।।

५. ३१. पार्श्व, ३२. पिंग, ३३. अरुण, ३४. ऋषिगिरि, ३५. अद्दालक, ३६. वित्त (तारायण), ३७. श्री गिरि, ३८. सातिपुत्र, ३९. संजय और ४०. द्वैपायन ।

5. 31. Parshwa, 32. Ping, 33. Arun, 34. Rishigiri, 35. Addalak, 36. Vitta (Tarayan), 37. Shrigiri, 38. Satiputra, 39. Sanjay and 40. Dvaipayan.

तत्तो य इंदणागे, सोम यमे चेव होइ वरुणे य ।
वेसमणे य महप्पा, चत्ता पंचेव अक्खाए ।।६।।

६. अनन्तर ४१. इन्द्रनाग, ४२. सोम, ४३. यम, ४४. वरुण, ४५. वैश्रमण । इस प्रकार पैंतालीस महात्मा अर्हतर्षि हैं ।

6. then, 41. Indranaga, 42. Soma, 43. Yama, 44. Varun and 45. Vaishraman. As such there are forty five holy seers.

द्वितीय संग्रहणी

अध्ययनों के नाम

सोयव्वं जस्स भवि० लेवो, आदाणरक्खि माणा य ।
तमे सव्वं आराए, जाव य सद्धेय णो-एय ।।१।।

१. १. सोयव्व, २. जस्स, ३. अविलेव (भविदव्वं), ४. आयाणरक्खी, ५. माणा, ६. तम, ७. सव्वं, ८. आरं, ९. जाव, १०. सद्धेय, ११. णो-एय ।

1. 1. Soyavva, 2. Jassa, 3. Avileva (Bhavidavvam), 4. Ayanarakkhi, 5. Mana, 6. Tama, 7. Savvam, 8. Aaram, 9. Java, 10, Saddheya, 11. No-eya.

लोगेसणा किमत्थं, जुत्तं साता तधेव विसये य ।
विज्जा वज्जे आरिय, उक्कल णाहं त्ति जाणामि ।।२।।

२. १२. लोएसणा, १३. किमत्थं, १४. जुत्तं, १५. साया, १६. विसय, १७. विज्जा, १८. वज्जं, १९. आरिय, २०. उक्कल, २१. णाहं (णाहं पुरा किंचि) जाणामि ।

2. 12. Loyesana, 13. Kimattham, 14. Juttam, 15. Saya, 16. Visaya, 17. Vijja, 18. Vajjam, 19. Ariya, 20. Ukkal, 21. Naham (Naham pura kinchi).

पडिसाडी ठवण दुवे मरणा सव्वं तधेव बंभे य ।
धम्मे य साहू सोते, सवंति ग्रहसच्चतो समे लोए ।।३।।

३. २२. परिसाडी, २३. दुवे मरणा, २४. सव्वं, २५. तएणं, २६. धम्मे (कतरे धम्मे), २७. साधु, २८. छिण्णसोते, २९. सवंति, ३०. ग्रहसच्चतो (ग्रधासच्चमिणं), ३१ समे लोए (केयं लोए) ।

3. 22. Parisadi, 23. Duve Marana, 24. Savvam, 25. Tayenam, 26. Dhamme (katare dhamme), 27. Sadhu, 29. Chhinna sotay, 29. Savanti, 30. Aha sachchato (Adhasachaminam), 31. Samey loye (Keyam loye).

किसी बाले य पण्डित, सहणा तह कुप्पणा य बोद्धव्वा ।
उप्पत उदए य सुहे, पावे तह इच्छणिच्छा य ।।४।।

४. ३२. किसिं (दिव्वं भो किसिं), ३३. बाले (दोहिं ठाणेहिं वालं), ३४. सहणा, ३५. कुप्पणा, ३६. उप्पत (उप्पतता), ३७. उदगं, ३८. सुहे (जं सुहेण), ३९. पावगं, (जे इमं पावगं), ४०. इच्छमणिच्छं ।

4. 32. Kisim (Divvam bho kisim), 33. Baley (Dohim thanehim balam), 34. Sahana, 35. Kuppana, 36. Uappat (Uppatata), 37. Udagam, 38. Suhe (Jam suhena), 39. Pavagam (Je imam pavagam), 40. Ichham-nichham.

ग्रजीवतो य ग्रप्पा ग्रप्पेण य एसितव्व बहुयं तु ।
लाभे दो ठाणेहि य ग्रप्पं पापाण हिंसाऽऽयु ।।५।।

५. ४१. ग्राजीवतो (जेसिं ग्राजीवतो), ४२. ग्रप्पेण, ४३. लाभम्मि ४४. दो ठाणे हिं और ४५. ग्रप्पं च ।

5. 41. Aajivato (Jesim aajivato), 42. Appena, 43. Labhammi, 44. Do thanehim and 45. Appam cha

परिशिष्ट–2

ऋषिभाषित का पद्यानुक्रम

[निम्नांकित परिशिष्ट में पद्यांश के बाद अध्ययन एवं गाथांक दिये हैं तथा अन्त में पृष्ठांक।]

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

के प्रकाशन

क्रमांक 1	नाम 2	लेखक/सम्पादक 3	मूल्य 4	विषय 5
1.	अपभ्रंश और हिन्दी (हिन्दी)	डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन	30/–	भाषा विज्ञान
2.	आचारांग चयनिका (प्रा० एवं हि०) (द्वितीय संस्करण)	डॉ० कमलचंद सोगानी		जैनागम
		—सजिल्द	25/–	
		—अजिल्द	18/–	
3.	उपमिति-भव-प्रपंच कथा (हिन्दी)	म० विनयसागर	150/–	कथा साहित्य
4.	ऋषि-भाषित सूत्र (प्रा०/हि०/अं०)	म० विनयसागर कलानाथ शास्त्री डी० सी० शर्मा	60/–	जैनागम
5.	एस्ट्रोनोमी एण्ड कास्मोलोजी (अंग्रेजी)	प्रो० एल० सी० जैन	15/–	विज्ञान
6.	कल्प-सूत्र (सचित्र) (प्रा०/हि०/अं०) (द्वितीय संस्करण)	म० विनयसागर	200/–	जैनागम
7.	गणधरवाद (हिन्दी)	म० विनयसागर	50/–	जैन दर्शन
8.	चन्दनमूर्ति (हिन्दी)	गणेश ललवानी	20/–	उपन्यास
9.	जाति स्मरण ज्ञान (हिन्दी)	उपाध्याय महेन्द्र मुनि	3/–	मनोविज्ञान
10.	जैन इन्सक्रिप्सन्स ऑफ राजस्थान (अंग्रेजी)	रामवल्लभ सोमानी	70/–	पुरातत्व
11.	जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	14/–	जैन दर्शन
12.	जैन कहानियां (हिन्दी)	उपाध्याय महेन्द्र मुनि	4/–	कथा साहित्य
13.	जैन धर्म और दर्शन (हिन्दी)	गणेश ललवानी	9/–	जैन दर्शन
14.	जैन पोलिटिकल थॉट (अंग्रेजी)	डॉ० जी० सी० पाण्डे	40/–	राजनीति
15.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन—भाग 1 और 2 (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	140/–	दर्शन
16.	जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	16/–	समाज शास्त्र
17.	जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग (हिन्दी)	डॉ० सागरमल जैन	20/–	साधना
18.	जैनागम दिग्दर्शन (हिन्दी)	डॉ० मुनि नगराज जी	20/–	जैनागम
19.	जैनिज्म (अंग्रेजी)	दलसुख मालवणिया	30/–	दर्शन
20.	दशवैकालिक चयनिका (प्रा०/हि०)	डॉ० कमलचन्द सोगानी	12/–	जैनागम
21.	नीतिवाक्यामृत (संस्कृत/हि०/अं०)	डॉ० एस० के० गुप्ता	100/–	नीति

1	2	3	4	5
22.	नीलांजना (हिन्दी)	गणेश ललवानी	12/–	कथा साहित्य
23.	प्राकृत काव्य मंजरी (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	16/–	व्याकरण
24.	प्राकृत गद्य सोपान (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	16/–	व्याकरण
25.	प्राकृत स्वयं शिक्षक (प्रा०/हि०)	डॉ० प्रेम सुमन जैन	15/–	व्याकरण
26.	बेसिक मैथेमेटिक्स (अंग्रेजी)	प्रो० एल० सी० जैन	15/–	गणित
27.	महावीर का जीवन संदेश (हिन्दी)	काका कालेलकर	20/–	निबन्ध
28.	मिले मन भीतर भगवान (हिन्दी)	विजय कलापूर्ण सूरि म० विनय सागर	30/–	भक्ति योग
29.	रसरत्नसमुच्चय (सं०/अं०)	डॉ० जे० सी० सिकदर	15/–	रसायन
30.	वाक्पतिराज की लोकानुभूति (प्रा०/हिन्दी)	डॉ० के० सी० सोगानी	12/–	सुभाषित
31.	समणसुत्तं चयनिका (प्रा०/हिन्दी)	डॉ० के० सी० सोगानी	12/–	जैनागम
32	सामायिक धर्म : एक पूर्ण योग (हि०)	विजय कलापूर्ण सूरि	10/–	धर्म
33.	स्मरण कला (हिन्दी)	मोहन मुनि 'शार्दूल'	15/–	मनो विज्ञान
34.	हाफ-ए-टेल (अंग्रेजी) (अर्धकथानक)	डॉ० मुकुन्द लाठ	150/–	आत्म-कथा
35.	हेम–प्राकृत–व्याकरण शिक्षक (प्रा०/हि०)	डॉ० उदय चन्द जैन	16/–	व्याकरण

प्राप्ति स्थान

प्राकृत भारती अकादमी

३८२६, यति श्यामलाल जी का उपाश्रय
मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर–३०२००३ (राज०)